MANGALAYATAN
UNIVERSITY
Learn Today to Lead Tomorrow

Indian Economy

ECO-2101

Edited By

Prof. R.C Sharma

DIRECTORATE OF DISTANCE AND ONLINE EDUCATION
MANGALAYATAN
UNIVERSITY

विषय-सूची

1.	**भारतीय अर्थव्यवस्था की आधारभूत विशेषताएँ**	**1–90**
1.1	उद्देश्य	2
1.2	प्रस्तावना	3
1.3	भारतीय अर्थव्यवस्था की आधारभूत विशेषताएँ	5
1.4	अल्प-विकास के संदर्भ में भारतीय अर्थव्यवस्था	9
1.5	भारतीय अर्थव्यवस्था के अल्पविकास के कारण	10
1.6	धन व आय के वितरण में असमानता	13
1.7	भारत विकासशील अर्थव्यवस्था के रूप में	15
1.8	मुल्य धारणाएं	18
1.9	आर्थिक विकास की आवश्यकता	20
1.10	आर्थिक विकास का माप	21
1.11	आर्थिक विकास के कारक	23
1.12	आर्थिक विकास के अनार्थिक कारण	30
1.13	भारत के लिए विकास युक्ति	35
1.14	विकास और अल्पविकास	35
1.15	अल्प-विकास की अवधारणा	37
1.16	अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्थाओं की विशेषताएँ	38
1.17	विकसित तथा अर्द्ध-विकसित देशों में अन्तर	46
1.18	क्या भारत एक अल्प-विकसित देश है?	47
1.19	आर्थिक विकास के मापदंड	50
1.20	आर्थिक विकास के सूचक	53
1.21	आर्थिक विकास का अर्थ एवं परिभाषा	61
1.22	आर्थिक विकास में मानव संसाधन अथवा जनसंख्या का योगदान	63
1.23	प्रो. कोल एवं हूवर के विचार	64
1.24	एल्विन हैन्सेन के विचार	68
1.25	अगस्ट लोश के विचार	70
1.26	साइमन कुजनेट्स के विचार	71
1.27	प्रो. जे. के. गैलब्रेथ के विचार	73
1.28	जनसंख्या वृद्धि : आर्थिक विकास में सहायक	75
1.29	आर्थिक विकास का जनसंख्या वृद्धि पर प्रभाव	76

1.30 संस्थाएँ एवं आर्थिक विकास 78
1.31 विकास के आयाम 80
1.32 निर्धनता का दुष्चक्र 80
1.33 निर्धनता के दुष्चक्र का अर्थ 81
1.34 निर्धनता के दुष्चक्र के प्रमुख पक्ष 82
1.35 दुष्चक्र को तोड़ने के तरीके 84
1.36 निर्धनता के दुश्चक्र की आलोचनाएँ 85
1.37 सारांश 85
1.38 शब्दकोश 87
1.39 अभ्यास प्रश्न 87
1.40 संदर्भ पुस्तकें 90

2. कृषि 91–141

2.1 उद्देश्य 91
2.2 प्रस्तावना 91
2.3 क्षेत्रीय प्रदर्शन: कृषि, वृद्धि एवं उत्पादिता 92
2.4 भारत में फसल-प्रतिरूप एवं प्रवृत्तियाँ 97
2.5 भारतीय हरित क्रांति 101
2.6 नयी कृषि विकास रणनीति की कमजोरियाँ 104
2.7 कृषि वित्त 114
2.8 कृषि विपणन से आशय 120
2.9 भारतीय कृषि में तत्कालीन मुद्दे 126
2.10 सारांश 136
2.11 शब्दकोश 140
2.12 अभ्यास-प्रश्न 140
2.13 संदर्भ ग्रंथ 141

3. उद्योग एवं सेवा क्षेत्र 142–190

3.1 उद्देश्य 143
3.2 प्रस्तावना 143
3.3 पूर्व-सुधार काल में औद्योगिक क्षेत्र 145
3.4 उत्तर सुधार काल में औद्योगिक क्षेत्र 151
3.5 औद्योगिक विकास और योजनाएँ 156
3.6 औद्योगिक विकास का मूल्यांकन 162
3.7 सार्वजनिक क्षेत्र की समस्यायें एवं मुद्दे 166
3.8 आधारसंरचना और आर्थिक विकास 176

3.9 भारत के आर्थिक विकास में परिवहन प्रणाली 189
3.10 भारत में संचार प्रणाली 202
3.11 भारतीय वित्तीय प्रणाली 205
3.12 मुद्रा बाजार 207
3.13 मौद्रिक नीति 210
3.14 पूँजी बाजार एवं सेबी की कार्यविधि 216
3.15 भारतीय विदेशी व्यापार की संरचना 228
3.16 भारत के विदेशी व्यापार की दिशा 235
3.17 भुगतान शेष का अर्थ 238
3.18 विदेशी पूँजी की भूमिका 245
3.19 एफ. डी. आई एवं बहुराष्ट्रीय निगम 253
3.20 भारत में संघीय वित्त व्यवस्था 260
3.21 सरकारी वित्त: संघ एवं राज्य 269
3.22 प्रतिशत अर्थात् 380 करोड़ रुपये राज्यों को प्रतिवर्ष 1995-2000 की अवधि के दौरान देने की सिफारिश की 277
3.23 सारांश 284
3.24 शब्दकोश 287
3.25 अभ्यास-प्रश्न 288
3.26 संदर्भ ग्रंथ 290

4. विकास एवं वितरण **291–316**

4.1 उद्देश्य 291
4.2 प्रस्तावना 292
4.3 गरीबी की अवधारणा 292
4.4 भारत में गरीबी हटाने के लिए सुझाव 297
4.5 गरीबी दुर करने के सरकारी प्रयास 298
4.6 विजन 2020 फॉर इण्डिया 299
4.7 बेरोजगारी की अवधारणाएँ 302
4.8 भारत में बेरोजगारी के कारण 304
4.9 भारत में बेरोजगारी दूर करने के उपाय 307
4.10 रोजगार हेतु सरकारी उपाय 310
4.11 सारांश 313
4.12 शब्दकोश 316
4.13 अभ्यास-प्रश्न 316
4.14 संदर्भ ग्रंथ 316

अध्याय-1

भारतीय अर्थव्यवस्था की आधारभूत विशेषताएँ

संरचना (Structure)

1.1 उद्देश्य
1.2 प्रस्तावना
1.3 भारतीय अर्थव्यवस्था की आधारभूत विशेषताएँ
1.4 अल्प-विकास के संदर्भ में भारतीय अर्थव्यवस्था
1.5 भारतीय अर्थव्यवस्था के अल्पविकास के कारण
1.6 धन व आय के वितरण में असमानता
1.7 भारत विकासशील अर्थव्यवस्था के रूप में
1.8 मुल्य धारणाएं
1.9 आर्थिक विकास की आवश्यकता
1.10 आर्थिक विकास का माप
1.11 आर्थिक विकास के कारक
1.12 आर्थिक विकास के अनार्थिक कारण
1.13 भारत के लिए विकास युक्ति
1.14 विकास और अल्पविकास
1.15 अल्प-विकास की अवधारणा
1.16 अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्थाओं की विशेषताएँ
1.17 विकसित तथा अर्द्ध-विकसित देशों में अन्तर
1.18 क्या भारत एक अल्प-विकसित देश है?
1.19 आर्थिक विकास के मापदंड
1.20 आर्थिक विकास के सूचक
1.21 आर्थिक विकास का अर्थ एवं परिभाषा
1.22 आर्थिक विकास में मानव संसाधन अथवा जनसंख्या का योगदान
1.23 प्रो. कोल एवं हूवर के विचार
1.24 एल्विन हैन्सेन के विचार
1.25 अगस्ट लोश के विचार
1.26 साइमन कुजनेट्स के विचार
1.27 प्रो. जे. के. गैलब्रेथ के विचार

नोट

1.28 जनसंख्या वृद्धि : आर्थिक विकास में सहायक
1.29 आर्थिक विकास का जनसंख्या वृद्धि पर प्रभाव
1.30 संस्थाएँ एवं आर्थिक विकास
1.31 विकास के आयाम
1.32 निर्धनता का दुष्चक्र
1.33 निर्धनता के दुष्चक्र का अर्थ
1.34 निर्धनता के दुष्चक्र के प्रमुख पक्ष
1.35 दुष्चक्र को तोड़ने के तरीके
1.36 निर्धनता के दुश्चक्र की आलोचनाएँ
1.37 सारांश
1.38 शब्दकोष
1.39 अभ्यास प्रश्न
1.40 संदर्भ पुस्तकें

1.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी योग्य होंगे–

- अर्द्ध-विकास या अल्प-विकास की अवधारणा को समझने में;
- विकासशील या अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्थाओं की विशेषताओं को जानने में;
- विकसित तथा अर्द्ध-विकसित देशों के अन्तर को जानने में;
- आर्थिक के मापदंड को समझने में;
- आर्थिक विकास के सूचक को जानने में;
- आर्थिक विकास का अर्थ एवं परिभाषा को समझने में;
- आर्थिक विकास में मानव संसाधन के योगदान को जानने में;
- संस्थाएं और आर्थिक विकास की विवेचना करने में;
- आर्थिक विकास के आयाम को समझने में;
- निर्धनता के दुष्चक्र को समझने में;
- निर्धनता के दुष्चक्र के प्रमुख पक्ष को समझने में;
- भारतीय अर्थव्यवस्था की आधारभूत विशेषताओं के बारे में जान सकेंगे;
- भारतीय अर्थव्यवस्था को विकासशील अर्थव्यवस्था क्यों कहा जाता है, इसकी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे;
- आर्थिक विकास के विभिन्न निर्धारक तत्वों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे;
- आर्थिक विकास की मुख्य धारणाओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे;
- आर्थिक विकास की आवश्यकता एवं उसे प्रभावित करने वाले विभिन्न कारकों के बारे में जान सकेंगे;
- आर्थिक विकास को मापने की विभिन्न अवधारणाओं का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

नोट

1.2 प्रस्तावना

प्राचीनकाल से ही भारत धनी देश रहा है। इसकी प्राचीन वैभवशाली समृद्धि तथा साधनों की प्रचुरता के कारण ही इसे दुनिया सोने की चिड़िया के नाम से पुकारती थी। भारत विश्व के उन कुछ देशों में से एक है जिस पर प्राचीनकाल से ही प्रकृति की अपार मेहरबानी रही है। इतिहास इस बात का गवाह है कि भारत में विदेशियों के आने का एक मात्र कारण इसका प्राचीन वैभव एवं अपार समृद्धि ही था। उससे आकर्षित होकर ही विदेशियों ने भारत पर समय-समय पर अनेक आक्रमण किये तथा खूब लूट-पाट की।

भारत की विशाल एवं विविधतापूर्ण अर्थव्यवस्था में जहाँ एक ओर सम्पन्नता में विपन्नता, औद्योगिक पिछड़ापन, व्यापक बेकारी और भुखमरी है, तो दूसरी ओर बढ़ती जनसंख्या, रूढ़िवादी समाज, पिछड़ी कृषि, क्षेत्रीय एवं आर्थिक असमानताएं और बाजार की अपूर्णताएँ दृष्टिगोचर होती है। भारत विश्व का सबसे बड़ा प्रजातन्त्र एवं आध्यात्मिक होने के गुरु, साथ-साथ विकासशील देशों का हितचिन्तक एवं मार्ग दर्शक भी है।

अर्थशास्त्र में आर्थिक विकास (Economic Development) व आर्थिक संवृद्धि (Economic Growth) में अन्तर किया जाता है। जहाँ आर्थिक संवृद्धि को प्रति व्यक्ति उत्पाद में वृद्धि के रूप में मापा जाता है वहाँ आर्थिक विकास में गुणात्मक पहलुओं पर भी विचार किया जाता है। आर्थिक संवृद्धि में केवल इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि किसी कालावधि में इससे पहले के काल की तुलना में मात्रा की दृष्टि से अधिक उत्पादन हो रहा है या नहीं। दूसरे शब्दों में, आर्थिक संवृद्धि परिमाणात्मक संकल्पना है। इसके विरूद्ध आर्थिक विकास अपेक्षाकृत अधिक व्यापक धारणा है। आर्थिक विकास का क्षेत्र आर्थिक संवृद्धि से कहीं अधिक है। **चार्ल्स पी. किंडलबर्गर** (Charles P.Kindleberger) ने इस संम्बन्ध में उल्लेख किया है कि आर्थिक संवृद्धि का अर्थ अधिक उत्पादन से है जबकि आर्थिक विकास से अभिप्राय अधिक उत्पादन से है जिनके कारण यह उत्पाद निर्मित एवं वितरित किया जाता है। अर्थात आर्थिक संवृद्धि की धारणा में उत्पादन में समय के साथ होने वाली अधिक कार्य कुशलता को शामिल किया जाता है। विकास की धारणा इससे कहीं अधिक विस्तृत है। इसमें उत्पादन की संरचना में होने वाले परिवर्तनों और क्षेत्रानुसार आदानों व आवंटन में परिवर्तन को भी शामिल किया जाता है। अत: आर्थिक विकास के बिना आर्थिक संवृद्धि तो संभव है परन्तु आर्थिक संवृद्धि के बिना आर्थिक विकास संभव नहीं, क्योंकि तकनीकी एवं संस्थानात्मक व्यवस्था में परिवर्तन का उद्देश्य राष्ट्रीय आय से प्राप्त वृद्धि को विभिन्न क्षेत्रों और जनसंख्या के विभिन्न वर्गों में सापेक्षता अधिक न्यायोचित रूप में बांटना है जब तक कोई अर्थव्यवस्था जनता की निर्वाह की आवश्यकताओं से अधिक पैदा नहीं करती, तब तक वह देश की जनसंख्या के जीवन-स्तर को उन्नत करने और उसे अधिक न्यायपूर्ण वितरण उपलब्ध कराने में सफल नहीं हो सकती है।

एक अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्था वह है जिसका कुल उत्पादन एवं प्रति व्यक्ति आय का स्तर बहुत नीचा होता है इसलिए इन देशों में उपभोग, बचत और विनियोग का स्तर भी नीचा होता है। इन अर्थव्यवस्थाओं में भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका आदि आते हैं। विकसित अर्थव्यवस्थाएँ वे हैं जिनका कुल उत्पादन एवं प्रति व्यक्ति आय का स्तर बहुत ऊँचा है, इसलिए इन अर्थव्यवस्थाओं में उपभोग, बचत और विनियोग का स्तर भी ऊँचा है। इन अर्थव्यवस्थाओं में जापान, अमेरिका आदि देश आते हैं।

आर्थिक विकास का माप व संकेतक (Measurement and Indicators of Economic Development)—आर्थिक विकास एक सापेक्षिक शब्द है तथा इसका सम्बन्ध एक समय विशेष से न होकर दीर्घकालीन परिवर्तनों से है जिसके कारण आर्थिक विकास का एक निश्चित मापदण्ड देना अत्यन्त कठिन है। यही कारण है कि आर्थिक विकास के मापदण्ड के विषय में अर्थशास्त्रियों के विचारों में विभिन्नता रही है।

नोट

किसी देश के राष्ट्र निर्माण एवं आर्थिक विकास में वहाँ की जनसंख्या महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। साथ ही, किसी देश के आर्थिक विकास का उस देश की जनसंख्या पर भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इस तरह, जनसंख्या तथा आर्थिक विकास के स्तर में प्रत्यक्ष एवं परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। प्रत्येक देश का उत्पादन स्तर, आर्थिक विकास की दर, राष्ट्रीय तथा प्रति व्यक्ति आय देश में उत्पादक क्रियाओं का संचालन, रहन-सहन का स्तर, आदि सभी दशाएँ उस देश की जनसंख्या के आकार, गठन एवं वितरण पर निर्भर करती हैं। यद्यपि मानव ही वह शक्ति है जो इन संसाधनों को अपनी कार्यकुशलता तथा बौद्धिक दक्षता द्वारा वांछित दिशा में गतिशील कर इनका अनुकूलतम उपयोग करती है तथा विकास का मार्ग प्रशस्त करती है। इस तरह, जनसंख्या एवं आर्थिक विकास दोनों प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से उक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। इस सम्बन्ध में प्रो. रिचार्ड गिल का कथन है कि आर्थिक विकास एक यन्त्रीकृत प्रक्रिया के साथ-साथ मानवीय उपक्रम भी है। इसका प्रतिफल अन्ततः इसे कार्यान्वित करने वाले मनुष्यों की कुशलता, गुण, दूरदर्शिता एवं प्रवृत्तियों पर निर्भर करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वास्तव में मनुष्य उत्पादन का साधन है, जो कि अपनी शारीरिक, मानसिक आदि योग्यताओं एवं क्षमताओं को सतत प्रयोग में लाकर संसार के जीवन को ऊँचा उठाने के लिए प्रयासरत रहता है। मार्क्स का इसके सम्बन्ध में यहां तक कहना है कि आर्थिक विकास के सभी प्रयासों का केन्द्र बिन्दु मानव विकास होता है तथा मनुष्य ही समस्त उत्पादन का कारण है। वह ही केवल उत्पादक साधन है। परंन्तु उसी क्षण यह बात भी उतनी ही महत्वपूर्ण है कि मानव-साधन में क्या गुण हैं तथा इनका प्रयोग किस प्रकार से किया जा रहा है। अन्य शब्दों में, श्रमिक कुशल है अथवा अकुशल? प्रो. कार्वर के अनुसार, "सम्पन्न वातावरण के मध्य भी समुदाय एवं राष्ट्र निर्धन रहे हैं अथवा मिट्टी की उर्वरता तथा प्रचुर प्राकृतिक साधनों के होते हुए भी पतन की ओर अथवा गरीबी की ओर चले गए हैं मात्र इस कारण कि वहाँ मानवीय तत्व निम्न कोटि का रहा है, अथवा उसे बिगड़ जाने के लिए छोड़ दिया गया है।" इस तरह, मनुष्य आर्थिक विकास का साधन तथा साध्य दोनों ही है जो कि आर्थिक विकास के चरों के साथ-साथ परिवर्तित होता रहता है। इस सम्बन्ध में पेपलिसिस, गियर्स तथा एडलेयन का कथन है कि, "साधन के रूप में मनुष्य उत्पादन की प्रक्रिया में अन्य साधनों के साथ संयुक्त होने के लिए उत्पादन के उपादान के रूप में उपलब्ध रहता है। उपभोक्ता के रूप में आर्थिक विकास का उद्देश्य उसकी आकांक्षाओं और अभिलाषाओं की अधिकतम प्राप्ति है। अतः किसी भी विश्लेषण में मानवीय तत्त्व पर इसके उत्पादन और उपभोक्ता दोनों रूपों में विचार किया जाना चाहिए।" इस तरह, यह आवश्यक हो जाता है कि आर्थिक विकास तथा जनसंख्या विकास के आपसी सम्बन्धों एवं प्रभावों का अध्ययन किया जाये। जनसंख्या और आर्थिक विकास के परस्पर सम्बन्धों की व्याख्या से पूर्व आर्थिक विकास के अर्थ को भी समझना आवश्यक है।

प्रस्तुत इकाई में बाजार की असफलता, कल्याण अर्थशास्त्र के मूलभूत प्रमेय, सूचना असफलता, अपूर्ण बाजार, सरकार की असफलता, संस्थाएँ और प्रशासन, आर्थिक विकास में सामाजिक मानदंडों और समुदाय की भूमिका, अंतःक्षेत्रीय पूरकताएँ, समन्वय की असफलताएँ और ऐतिहासिक जकड़न आदि विषयों पर चर्चा की गई है। संसाधनों को कुशलतापूर्वक तथा संवृद्धि के लिए प्रोत्साहन प्रदान करने में बाजार महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं। बाजार की असफलता के विभिन्न कारणों पर भी चर्चा की गई है।

आर्थिक विकास की जटिल प्रक्रिया जोकि अल्पविकसित देशों के लिए अपरिहार्य है। किसी एकघटक का परिणाम नहीं होती है, अपितु बहुत संघटकों की अन्तर क्रिया को सामूहिक परिणाम

होती है। अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों की प्रमुख विशेषताओं के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि ये देश सामान्यत: निर्धन होते हैं तथा ऐसे राष्ट्रों में, निर्धनता के चिरस्थायी बँधे रहने की प्रवृत्ति पायी जाती है। इस तथ्य को प्रो. नर्क्स (Naurks) ने निर्धनता का दुश्चक्र कहा है।

नोट

1.3 भारतीय अर्थव्यवस्था की आधारभूत विशेषताएँ

1. **विशाल एवं विस्तृत अर्थव्यवस्था** (A Great Economy)—भारतीय अर्थव्यवस्था विशाल अर्थव्यवस्था है जो विश्व के उत्तरी गोलार्द्ध में 8-4' से 37-6 अक्षांशों तथा 68-17' से 97-2 पूर्वी देशान्तरों के बीच फैली हुई है। ओखा से अरूणांचल तथा कश्मीर से कन्याकुमारी तक फैले भारत का क्षेत्रफल 32.9 लाख वर्ग किलोमीटर तथा जनसंख्यां 107.5 करोड़ से अधिक है। क्षेत्रफल की दृष्टि से भारत का विश्व में सातवां तथा जनसंख्या की दृष्टि से दूसरा स्थान है। यह इसकी विशालता का परिचायक है।
2. **विकासशील अर्थव्यवस्था** (Developing Economy)—भारतीय अर्थव्यवस्था पिछड़ी किन्तु विकासशील अर्थव्यवस्था है। अर्थव्यवस्था में आर्थिक पिछड़ापन एवं दरिद्रता है। पूंजी-निर्माण की गति धीमी, व्यापक बेरोजगारी, तकनीकी ज्ञान का अभाव, जनसंख्या का अत्यधिक भार और भुखमरी आदि के समापन के लिए योजनाबद्ध विकास द्वारा भारतीय अर्थव्यवस्था अब निरन्तर आर्थिक विकास की ओर अग्रसर हो रही है। औद्योगीकरण, कृषि विकास, परिवहन एवं संचार के विस्तार से विकास का मार्ग प्रशस्त हो रहा है।
3. **कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था** (Predominantly an Agricultural Economy)—भारतीय अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था है, जिसमें कृषि राष्ट्रीय आय का प्रमुख स्रोत, रोजगार का आधार एवं जीवनयापन का प्रमुख साधन ही नहीं वरन् औद्योगिक कच्चे माल का स्रोत एवं निर्मित माल का बाजार भी है। 2003-04 के समकों के अनुसार 1993-94 की कीमत पर सकल घरेलू उत्पाद (GDP) का लगभग 22.1 प्रतिशत भाग कृषि तथा सम्बद्ध क्षेत्र से प्राप्त होता है जो 64 प्रतिशत जनसंख्या के रोजगार एवं जीवनयापन का आधार है। उद्योगों के लिए कच्चा माल गन्ना, पटसन, तिलहन, खाद्यान्न वगैरह सब कृषि से ही प्राप्त होते हैं। आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार में कृषिजन्य पदार्थों की प्रधानता है।
4. **औद्योगिक पिछड़ापन एवं असंतुलित विकास** (Industrial backwardness and Unbalanced Growth)—भारतीय अर्थव्यवस्था में विकसित देशों की तुलना में काफी औद्योगिक पिछड़ापन है। उद्योगों से राष्ट्रीय आय का 26 प्रतिशत भाग प्राप्त होता है और उनमें कार्यशील जनसंख्या के लगभग 15 प्रतिशत भाग को रोजगार प्राप्त है। यही नहीं, उद्योगों में उपभोग उद्योगों की प्रधानता रही है। पूँजीगत एवं आधारभूत उद्योगों की प्रगति धीमी रही है। यद्यपि योजनाबद्ध विकास के अन्तर्गत लोह-इस्पात, मशीन निर्माण, भारी रसायन, विद्युत आदि उद्योगों का विकास हुआ है, फिर भी वह नगण्य है। औद्योगीकरण में काफी क्षेत्रीय विषमताएं है। जहाँ एक ओर पश्चिमी बंगाल, बिहार, महाराष्ट्र, गुजरात एवं तमिलनाडु औद्योगिक दृष्टि से विकसित है वहाँ दूसरी ओर आसाम उड़ीसा, जम्मू एवं कश्मीर तथा राजस्थान काफी पिछड़े हुए है। असंतुलित औद्योगिक विकास का ढांचा औद्योगिक पिछड़ेपन का कारण है। लघु एवं कुटीर उद्योग भी काफी पिछड़े हुए है। औद्योगिक क्षेत्र की औसत वार्षिक वृद्धि दर नौवीं योजनाकाल में 4.5 प्रतिशत थी जो कि लक्षित दर 8.7 प्रतिशत से बहुत कम थी। वर्ष 2005-06 के अग्रिम अनुमानों के अनुसार यह दर 9 प्रतिशत है।

नोट

5. **जनसंख्या में विस्फोटक वृद्धि** (Population Explosion)—भारत में जनसंख्या अधिक है जिससे जनसंख्या का भार निरन्तर बढ़ता जा रहा है। भारत में विश्व की 16.87 प्रतिशत जनसंख्या है, किन्तु क्षेत्रफल है 2.4 प्रतिशत ही जनसंख्या की दृष्टि से भारत का विश्व है। जनसंख्या की वार्षिक वृद्धि दर 1.93 प्रतिशत है। प्रतिबर्ष 24 करोड़ बच्चे जन्मते है और हर वर्ष एक नये आस्ट्रेलिया का निर्माण होता है। इस तीव्र वृद्धि के कारण जहाँ 1951 में भारत की जनसंख्या 36 करोड़ थी वह बढकर मार्च 2001 को 102.8 करोड़ से अधिक हो गई है तथा अब 107.5 करोड़ से अधिक है। इस विस्फोटक वृद्धि से अनेक सामाजिक एवं आर्थिक समस्याएं उत्पन्न हुई है।

6. **व्यापक बेकारी एवं अर्द्धबेकारी** (Widespread Unemployment and under employment)—धीमे आर्थिक विकास एवं तीव्र जनसंख्या वृद्धि से भारतीय अर्थव्यवस्था में बेकारी एवं अर्द्धबेकारी निरन्तर बढ़ रही है। प्रथम योजना के शुरु में बेरोजगारों की संख्या 45 लाख थी जिसके अब बढ़कर 65 करोड़ होने की संभावना है, जबकि विभिन्न योजनाओं में लगभग 245 करोड़ अतिरिक्त लोगों को रोजगार प्रदान किया गया है। कृषि क्षेत्र में बड़े पैमाने पर अर्द्धबेकारी, मौसमी बेकारी एवं छिपी हुई बेकारी की समस्या विकट है।

7. **राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय का निम्न स्तर** (Low Lavel National Per Capita Income)—पर्यात आर्थिक विकास के अभाव में भारतीय अर्थव्यवस्था में राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय का स्तर विकसित राष्ट्रों की तुलना में काफी नीचा है। 2004 में जहाँ अमेरिका में प्रति व्यक्ति आय 36,223 डालर, जापान में 33,350 डालर, जर्मनी में 28,120 डालर तथा ब्रिटेन में 26,369 डालर थी वहाँ भारत में यह 600 डालर ही थी। 1950-51 में भारत की राष्ट्रीय आय 9,142 करोड़ रु. तथा प्रति व्यक्ति 254.7 रु. थी। चालू मूल्यों पर बढ़कर 2005-06 में क्रमश: 3200611 करोड़ रु. एवं 25,788 रु. से अधिक होने का अनुमान है फिर भी विकसित देशों के मुकाबले में हम काफी पीछे है।

8. **अर्थव्यवस्था की दोहरी प्रकृति** (Dual Nature of Economy)—भारतीय अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषता है कि इसके विभिन्न क्षेत्रों में दोहरा स्वरूप देखने को मिलता है। एक ओर अर्थव्यवस्था का वृहत् ग्रामीण क्षेत्र पिछड़ा, रूढ़िवादी, अनपढ़ एवं आधुनिक सभ्यता से परे लगता है। वहाँ दूसरी ओर छोटे-छोटे विकसित, समृद्ध, शिक्षित एवं आधुनिक लगता है। जहाँ ग्रामीण क्षेत्रों में बैलगाड़ी, खच्चर एवं ऊँट है, तो शहरों में रेल, मोटर एवं वायुयान जैसी तकनीकी सुविधाएँ है। जहाँ एक ओर बड़े पैमाने के विशाल आधुनिक कारखाने हैं तो दूसरी ओर लघु एवं कुटीर उद्योगों की प्रधानता है। एक और धनी एवं विलासितापूर्ण जीवन है तो दूसरी ओर आर्थिक दरिद्रता, भुखमरी एवं बेकारी है। कुछ लोग अधिक खाने से मरते है तो अधिकांश लोग अभावों से मरते है।

9. **पूँजी-निर्माण की धीमी गति** (Low Rate of Capital Formation)—आर्थिक दरिद्रता और निम्न आय के कारण अर्थव्यवस्था में बचत एवं विनियोग का स्तर नीचा रहता है। जहाँ विकसित देशों में पूंजी निर्माण की दर 25 प्रतिशत से 35 प्रतिशत है वहाँ भारत में पूंजी निर्माण की समायोजित दर 1950-51 में 8.7 प्रतिशत थी जो 2003-04 में बढ़कर 26.3 प्रतिशत हो गई है तथा 2004-05 में इसके 30.! प्रतिशत होने का अनुमान है।

10. **निर्धनता का दुश्चक्र** (Vicious Circle of Poverty)—भारतीय अर्थव्यवस्था निर्धनता एवं गरीबी के कुचक्र में फंसी हुई है। जब तक ये कुचक्र नहीं तोड़े जाते, निर्धनता निरन्तर बनी रहेगी। जहाँ एक ओर आर्थिक पिछड़ेपन के कारण उत्पादन, आय एवं रोजगार का स्तर नीचा है, वहाँ

दूसरी ओर निम्न आय एवं रोजगार के कारण उपभोग, बचत एवं पूंजी-निर्माण के निम्न स्तर से आर्थिक पिछड़ापन है। अतः इस प्रकार के दुश्चक्र को तोड़ने के लिए भीषण प्रहार की जरूरत है।

नोट

11. **विकसित यातायात एवं संचार व्यवस्था का अभाव** (Lack of Developed Transport and Communication System)—भारत में सस्ते एवं शीघ्रगामी यातायात एवं संचार साधनों की कमी के कारण देश में आर्थिक विकास, औद्योगीकरण तथा व्यापार में बाधा आती है। विकसित देशों के मुकाबले हमारे यहाँ यातायात एवं संचार साधनों का विकास नगण्य है। जहाँ प्रति 100 वर्ग किमी पर रेल माग की औसत लम्बाई इंग्लैण्ड में 36 किमी फ्रांस में 18 किलोमीटर तथा अमेरिका में 12 किमी. है वहाँ भारत में यह 4 किमी. ही है। इसी प्रकार सड़कों की औसत लम्बाई भी जहाँ अमेरिका में 1110 किमी., जापान में 400 कि.मी. तथा ब्रिटेन में 200 किमी. है, वहाँ भारत में 0.75 किमी. ही है। भारत में अधिकांश सड़क कच्ची एवं मौसमी है, जो वर्षा ऋतु में परिवहन के अयोग्य हो जाती है। यहां संचार के साधन भी काफी पिछड़ी अवस्था में है।
12. **बाजार की अपूर्णताएँ** (Market Imperfections)—अर्द्धविकसित देशों की तरह भारत में भी बाजार की कई अपूर्णताओं के दर्शन होते है, जैसे उत्पादन के साधनों की अगतिशीलता बाजार की परिस्थितियों की अज्ञानता, मूल्यों की बेलोचता विशिष्टीकरण का अभाव तथा बेलोचदार ढाँचा, अपर्यात मांग, संकुचित बाजार, कठोर आर्थिक एवं सामाजिक ढाँचा। इससे साधनों का सर्वोत्तम उपयोग एवं अधिकतम उत्पादन संभव नहीं हो पाता है। कभी-कभी तो आर्थिक साधनों का दुरूपयोग भी हो जाता है। मुद्रा बाजार असंगठित होने से वित्तीय साधनों का अभाव है।
13. **नियोजित एवं विकासशील मिश्रित अर्थव्यवस्था** (Planned and Developing Mixed Economy)—भारतीय अर्थव्यवस्था जहाँ एक ओर योजनाबद्ध तरीके से विकासशील है, वहाँ दूसरी ओर इसमें समाजवाद और पूंजीवाद का अजीब समन्वय है। अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्रों के साथ-साथ संयुक्त एवं सहकारी क्षेत्रों का भी समावेश किया गया है। ये सभी अलग-अलग क्षेत्रों में कार्य करते हुए समग्र विकास के लिए प्रयत्नशील है। पिछले 56 वर्षों के योजनाबद्ध विकास से भारतीय मिश्रित अर्थव्यवस्था तेजी से विकास के मार्ग पर अग्रसर हो रही है। वर्ष 2003-04 के अन्त तक 1993-94 की कीमत पर राष्ट्रीय उत्पाद लगभग आठ गुना तथा प्रति व्यक्ति आय तिगुनी हो गई है। विनियोग की दर 8.7 प्रतिशत से बढ़कर 30.1 प्रतिशत तथा खाद्यान्न का उत्पादन 5.5 करोड़ टन से बढकर 21.2 करोड़ टन होने का अनुमान है। औद्योगीकरण में तेजी आई है तथा औद्योगीकरण का सुदृढ़ आधार तैयार हुआ है।
14. **भारतीय अर्थव्यवस्था की मानसून पर निर्भरता** (Indian Economy is a Dependent on Mansoon)—भारतीय कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था की समृद्धि बहुत कुछ मानसून पर निर्भर करती है क्योंकिसिंचाई के साधनों के अभाव में कृषि उत्पादन में वृद्धि अनुकूल मानसून से ही संभव होती है। अच्छी फसल से कृषि में रोजगार और आय बढ़ती है, कृषि आधारित उद्योगों को कच्चा माल मिलता है, उनके निर्मित माल की खपत संभव होती है, व्यापार पनपता है, संचार साधनों में गति आती है और अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में खुशहाली एवं सम्पन्नता का मार्ग प्रशस्त होता है, जबकि मानसून की प्रतिकूलता एवं असफलता से कृषि के साथ-साथ व्यापार एवं औद्योगिक क्षेत्र भी चौपट हो जाता है। सभी क्षेत्रों में आय, रोजगार एवं विनियोग में कमी से निराशा, गरीबी, बेकारी एवं भुखमरी से अकाल आम बात है।
15. **सम्पन्नता में दरिद्रता** (Poverty in Prosperity)—भारतीय अर्थव्यवस्था में सम्पन्नता के बीच दरिद्रता के विरोधाभास की विशेषता भी दृष्टिगोचर होती है। जहाँ एक ओर अर्थव्यवस्था प्राकृतिक

नोट

साधनों से सम्पन्न है विशाल जनशक्ति, विस्तृत मैदान, विपुल खनिज एवं वनसंपदा तथा विविधतापूर्ण जलवायु है वहाँ दूसरी ओर उनके पर्यात विदोहन के अभाव में भुखमरी, बेकारी एवं गरीबी का साम्राज्य है। निर्धनता के इस कुचक्र के कारण ही 'धनी देश की निर्धन जनता' अथवा 'भारत एक धनी देश है जहाँ निर्धन लोग बसते है जैसे कथन चरितार्थ होते है। प्रति व्यक्ति आय बहुत नीची है। 56 वर्षों के योजनावद्ध विकास के बाद भी देश की 26 प्रतिशत जनसंख्या निर्धनता के न्यूनतम स्तर से नीचे का जीवन जी रही है। बेकारी का बोलबाला है। पानी के कारण जहाँ एक ओर बाढ़ है वहाँ दूसरी ओर अकाल है, पीने के पानी को लोग तरस रहे है। दसवीं योजना के अन्त तक 2007 में निर्धनता का अनुपात घटकर 19.3 प्रतिशत तथा गरीबी की रेखा के नीचे जनसंख्या 22 करोड़ रहने का अनुमान है।

16. **आधुनिक तकनीकी ज्ञान की कमी** (Lack of Modern Technical Know-how)—भारतीय अर्थव्यवस्था अभी भी बड़े पैमाने पर रूढ़िवादी एवं भाग्यवादी सामाजिक ढांचे में ढली हुई है जिसमें अनेक कुरीतियाँ-मृत्युभोज, बाल-विवाह, फिजूलखर्ची, संयुक्त परिवार प्रथा, पर्दा प्रथा आदि व्याप्त है। प्रगतिशील दृष्टिकोण के अभाव में विकास के प्रति रूचि नगण्य है। अब शिक्षा के प्रसार से सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना जागृत हुई है फिर भी ग्रामीण क्षेत्रों में चेतना की कमी है।

18. **क्षेत्रीय विषमताएँ** (Regional Disparities)—देश में योजनाओं के क्रियान्वयन से क्षेत्रीय विषमताएं घटने के स्थान पर बढ़ी है। जहाँ एक ओर पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी बंगाल, महाराष्ट्र तथा गुजरात में आर्थिक समृद्धि तेजी से बढी है, वहीं दूसरी ओर राजस्थान, आसाम, जम्मू-कश्मीर एवं उड़ीसा विकसित क्षेत्रों के मुकाबले काफी पिछड गये है। प्रचलित मूल्यों पर 2003-04 से जहाँ पंजाब, महाराष्ट्र एवं हरियाणा में प्रति व्यक्ति आय क्रमश: 27,851, 29,204 रु. तथा 29,963 रु. थी वहाँ राजस्थान में 157,38 रु. तथा उडीसा एवं आसाम में क्रमश: 12,388 रु. तथा 13,139 रु. थी।

19. **आर्थिक असमानता में निरन्तर वृद्धि** (Increasing Economic Inequality)—भारतीय अर्थव्यवस्था में सम्पति एवं आय की असमानता निरन्तर बढ़ रही है। भारत की दो तिहाई जनसंख्या निर्धनता के कगार पर है। देश के 15 प्रतिशत धनी राष्ट्रीय आय का 10 प्रतिशत भाग हड़प जाते है जबकि 50 प्रतिशत लोगों को राष्ट्रीय आय का 22 प्रतिशत भाग मिल पाता है। बढ़ती हुई मुद्रा स्फीति एवं एकाधिकारी प्रवृतियों ने आर्थिक असमानता की खाई को और गहरा किया है।

20. **मुद्रास्फीति एवं बढ़ते मूल्य** (Inflation and Increasing Prices)—भारत में योजनाबद्ध विकास के साथ-साथ मुद्रास्फीति का प्रभाव बढ़ा है और मूल्यों में निरन्तर वृद्धि हुई है। विकास योजनाओं में बड़े पैमाने पर हीनार्थ प्रबन्ध, सुरक्षा पर बढ़ते व्यय और माँग के मुकाबले पूर्ति की धीमी गति के कारण भारत में पिछले 30 वर्षों में मूल्यों में लगभग छ: गुना वृद्धि हुई है तथापि 2002-03 में वार्षिक मुद्रास्फीति की दर घटकर 6.5 प्रतिशत रह गई तथा 2005-06 में इसके घटकर 4.5 प्रतिशत होने का अनुमान है।

21. **असंतुलित विदेशी व्यापार** (Unbalanced Foreign Trade)—भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषता यह है कि भारत का विदेशी व्यापार प्राय: घाटे में ही रहा है। 1950-51 में व्यापार घाटा लगभग 5o करोड़ रु. था वह बढ़कर 1966 में 922 करोड़ रु. हो गया और भारतीय रुपये का अवमूल्यन करना पड़ा। 1990-91 में यह बढकर 10,645 करोड़ रु. हो गया जबकि 2004-05 में विदेशी व्यापार घाटा बढकर 1,28,653 करोड़ रु. हो गया जो अब तक का सर्वोच्च स्तर था। 2005-06 के पहले 4 महीनों में इसके बढकर 1,31,837 करोड़ रु. होने का अनुमान है।

22. **निम्न जीवन स्तर** (Low Standard of Living)—भारतीय जनता का जीवन स्तर विकसित देशों के मुकाबले में काफी नीचा है। देश की 26 प्रतिशत जनसंख्या निर्धनता रेखा के नीचे है। औसत भारतीय को 2000 कैलोरी भोजन मिलता है जबकि जीवन के लिए 3,000 कैलोरी अनिवार्य है। 2003-04 में औसतन प्रति भारतीय को प्रतिदिन 436 ग्राम खाद्यान्न एवं दालें, प्रतिवर्ष किलोग्राम खाद्य तेल, 16.5 किलोग्राम चीनी तथा 37 मीटर कपड़ा मिलता है जो सुखी जीवन के लिए अपर्याप्त है।

23. **विनिमय व्यवस्था का सीमित होना** (Limited Exchange System)—देशों में उत्पादन विनिमय के लिए किया जाता है भारत के विश्व के अन्य देशों में अधिकांश व्यक्ति, विशेष रूप से कृषक स्वयं के उपयोग की चिन्ता पहले करते है। यही कारण है कि खाद्यान्नों के उत्पादन का 1/3 भाग बाजार में बिकने को आता है। गैर कृषि क्षेत्र में शामिल व्यक्तियों में से अधिकांश व्यक्ति ग्रामीण उद्योगों में कार्यरत है जो कृषकों की जरूरत पूरी करते है। गांवों में इन सेवाओं के बदले मुद्रा के स्थान पर कृषि पदार्थ प्राप्त हो जाते है।

1.4 अल्प-विकास के संदर्भ में भारतीय अर्थव्यवस्था

विश्व के विभिन्न देशों को प्राय: दो भागों में विभाजित किया जाता है—(1) विकसित देश (Developed Countries) तथा (2) कम विकसित या अप-विकसित या विकासशील देश (Less Developed or Under Developed or Developing countries)। यह वर्गीकरण मूलत: प्रति व्यक्ति आय के आधार पर किया गया है।

विश्व बैंक द्वारा प्रकाशित विश्व विकास रिपोर्ट 2005 के अनुसार वर्ष 2003 में प्रति व्यक्ति 765 डालर व इससे कम आय वाले देश विकासशील देश कहे जाते है। उस वर्ष भारत की प्रति व्यक्ति आय 530 डॉलर आँकी गयी थी। सबसे कम प्रति व्यक्ति आय इथोपिया की थी जो 90 डालर थी। स्मरण रहे कि बांग्लादेश की प्रति व्यक्ति आय 400 डालर, पाकिस्तान की 470 डॉलर व चीन की 1100 डालर थी।

दूसरी तरफ नार्वे की प्रति व्यक्ति आय 43,350 डालर (प्रथम स्थान) तथा स्वीटजरलैण्ड की 39,880 डालर थी। इस प्रकार भारत की प्रति व्यक्ति आय नार्वे की तुलना में लगभग 1/82 रही, जो बहुत नीची है।

साधारणतया अल्पविकसित अर्थव्यवस्था का अभिप्राय एक ऐसी अर्थव्यवस्था से होता है जिसमें प्रति व्यक्ति आय का नीचा स्तर, कृषि की प्रधानता, औद्योगिक पिछड़ापन, जनाधिक्य, पूंजी निर्माण का अभाव, व्यापक बेकारी एवं अर्द्धबेकारी तथा प्रौद्योगिक एवं तकनीकी ज्ञान की कमी के साथ-साथ बाजार की अपूर्णताएं, दोषपूर्ण आर्थिक संगठन एवं निर्धनता का कुचक्र व्याप्त है।

अर्थशास्त्र की ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार विकासशील या कम विकसित देश में विकसित औद्योगिक देशों की तुलना में कम विकसित प्रौयोगिकी और अथवा नीचे आमदनी के / होते है।

प्रोफेसर जगदीश भगवती ने इस तय पर विशेष रूप रो ध्यान आकर्षित किया है कि अनेक देश इस अर्थ में अल्पविकसित है उनमें आमदनी के वर्तमान स्तर विकसित राष्ट्रों की तुलना में काफी नीचे पाये जाते है। **सेम्यूलसन व नोरढाउस** के अनुसार विकासशील देश का सबसे महत्वपूर्ण लक्षण यह होता है कि उसकी प्रति व्यक्ति आय नीची होती है। इसके अलावा विकासशील देशों में प्राय: लोगों का स्वाय्य कमजोर होता है, उनमें साक्षरता के स्तर नीचे होते है, वे व्यापक कुपोषण के शिकार होते है तथा उनके पास काम करने के लिए पूँजी कम होती है।

इस प्रकार विकासशील देश में प्रति व्यक्ति वास्तविक आय नीची होती है। **फुरटाडो** (Furtado) का मत है कि अल्पविकसित देश में साधनों की उपलिब्ध व उनके उपयोग की तकनीक में पूरा-पूरा तालमेल नहीं बैठ पाता है, इसलिए उनमें एक साथ पूंजी व श्रम का पूरा-पूरा उपयोग नहीं हो पाता। इस दृष्टिकोण का

अपनाने पर कुवैत की प्रति व्यक्ति आय ऊँची होने पर भी वह विकसित देश नहीं माना जा सकता, क्योंकि वही पूंजी व श्रम का पूरा-पूरा उपयोग नहीं हो पाया है।

नोट

स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व कई सदियों तक भारतीय अर्थव्यवस्था गतिहीन, पिछड़ी हुई व अल्पविकसित बनी रही, लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से, विशेषतया पंचवर्षीय योजनाओं में आर्थिक विकास के लिए सक्रिय कदम उठाए गए है। वर्तमान परिस्थितियों में भारतीय अर्थव्यवस्था को "विकासशील" अर्थव्यवस्था कहना अधिक उपयुक्त होगा। आर्थिक विकास के साथ-साथ आर्थिक पिछड़ेपन के चिन्ह धीरे-धीरे कम होते जा रहे है। भारतीय अर्थव्यवस्था में अभी भी विकास की काफी संभावनाएँ विद्यमान है। विद्वानों का मत है कि भारत अल्पविकसित देशों में सबसे विकसित देश है। इसका अभिप्राय यह है कि अल्पविकसित देशों में विकास की दृष्टि से काफी अन्तर पाये जाते है। एशिया, अफ्रिका व लेटिन अमेरिका के कई देश अल्पविकसित अवस्था से निकलकर विकास के पथ पर आगे बढ़ रहे है। भारत की स्थिति विकास की दृष्टि से इन देशों में काफी उत्तम मानी जाती है।

1.5 भारतीय अर्थव्यवस्था के अल्पविकास के कारण

पंचवर्षीय योजनाओं के लागू होने से भारतीय अर्थव्यवस्था में विकास के चिन्ह प्रकट हुए है, लेकिन आज भी हम यह कहने की स्थिति में नहीं है कि अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के सारे लक्षण मिट गए है। भारत में निम्न प्रति व्यक्ति आय, कृषि की प्रधानता, औद्योगिक पिछड़ापन पूंजी निर्माण का अभाव, तकनीकी ज्ञान की कमी, जनाधिक्य, व्यापार, बेकारी, दोषपूर्ण आर्थिक व्यवस्था, संकुचित बाजार, रूढ़िवादी समाज आदि विशेषताएँ इसके अल्पविकास को दर्शाती है। अत: यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था भी अल्पविकसित एवं पिछड़ी हुई है, हालांकि पंचवर्षीय योजनाओं के फलस्वरूप इनमें तेजी से परिवर्तन हो रहे है।

भारतीय अर्थव्यवस्था के अल्पविकास एवं पिछड़ेपन के अनेक कारण है जिसमें मुख्य कारण को हम निम्न सारणी द्वारा बता सकते हैं।

सारणी 1.1: भारतीय अर्थव्यवस्था के अल्पविकास के कारण

आर्थिक कारण	सामाजिक कारण	राजनीतिक कारण
1. बाजार की अपूर्णताएं	1. जनाधिक्य की समस्या	1. राजनीतिक पराधीनता
2. प्राथमिक क्षेत्र की प्रधानता	2. रूढ़िवादी समाज	2. राजनीतिक अस्थिरता
3. पूंजी निर्माण का अभाव	3. अशिक्षा	3. अकुशल एवं भ्रष्ट प्रशासन
4. औद्योगिक पिछड़ापन	4. चेतना एवं सहयोग का अभाव	4. योग्य का अभाव
5. तकनीकी ज्ञान एवं प्रौयोगिक ज्ञान की कमी		5. सुरक्षा व्यय में वृद्धि
6. व्यापक बेकारी एवं अर्द्धबेकारी	6. आध्यात्मिक दृष्टिकोण	
7. प्राकृतिक प्रकोप	7. स्त्रियों की आर्थिक परतंत्रता	
8. अकुशल दोषपूर्णआर्थिक संगठन	8. दोषपूर्ण सामाजिक व्यवस्था	
9. यातायात एवं संचार के साधनों का अभाव	9. दोषपूर्ण रीति- रिवाज	

10. साम्राज्यवादी शोषण		
11. विदेशी विनिमय संकट		
12. प्रभावी नियोजन की कमी		
13. औद्योगिक अशान्ति		
14. उत्कृष्ट उपयोग एवं फिंजूलखर्ची		
15. निर्धनता का कुचक्र		
16 धन एवं आय के वितरण में भारतीय असमानता		

अल्प विकास के आर्थिक कारण

भारतीय अर्थव्यवस्था के अल्पविकास के आर्थिक कारण का विवेचन इस प्रकार है—

1. **बाजार की अपूर्णताएं** (Market Imperfections)—भारतीय अर्थव्यवस्था के अल्पविकास का मुख्य कारण इसके बाजार की अपूर्णताएं है जिनमें साधनों में गतिशीलता का अभाव, मूल्यों में बेलोचता बाजार दशाओं की अज्ञानता, विशिष्टीकरण का अभाव, अमौद्रिक क्षेत्र की प्रधानता आदि के कारण न तो उत्पादन साधनों का सर्वोत्तम उपयोग होता है और न पर्यात उत्पादन, अत: आर्थिक पिछड़ापन बना रहता है।
2. **प्राथमिक क्षेत्र की प्रधानता** (Predominance of primary Sector)—भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि, पशुपालन एवं खनन क्षेत्र की प्रधानता है जिसमें औद्योगिक क्षेत्र की तुलना में उत्पादन स्तर नीचा एवं लाभ कम होता है। अत: भारत कृषि प्रधान राष्ट्र होने से पिछड़ा रह गया है। वर्ष 2001 में भारत के कुल श्रमिकों (मुख्य व सीमान्त) में 58.40 प्रतिशत कृषिगत कियाओं में संलग्न थे, जिनमें से 31.71 प्रतिशत कृषक थे और 26.69 खेतीहर मजदूर थे।
3. **पूंजी निर्माण का अभाव** (Lack of Capital Formation)—भारत में आय, उत्पादन एवं रोजगार का स्तर नीचा होने के कारण बचत कम होती है तथा विनियोग का स्तर भी नीचा 26.3 है। इसीलिए देश में पूंजी निर्माण की दर 1950-51 में केवल 5.5 प्रतिशत थी। यह पिछले वर्षों में बढ़कर 26.3 प्रतिशत से 30.1 प्रतिशत होने जा रही है, फिर भी अमेरिका के 33 प्रतिशत तथा जापान में 35 प्रतिशत के मुकाबले इसका स्तर कम है।
4. **औद्योगिक पिछड़ापन** (Industrial Backwardness)—औद्योगिक पिछड़ापन भारतीय अर्थव्यवस्था के अल्प विकास त का महत्वपूर्ण कारण है, क्योंकि आधारभूत उद्योगों के अभाव में देश में औद्योगीकरण न हो सकता और विदेशी निर्भरता के कारण पिछड़ापन बना रहा। अब औद्योगिक क्षेत्र में काफी विकास हुआ है।
5. **तकनीकी और प्रौद्योगिकी ज्ञान की कमी** (Lack of Technology & Technical Knowhow)—कृषि, उद्योग एवं परिवहन के विकास एवं उनके उत्पादन की नवीन पद्धतियों की खोज, प्रयोग आदि के लिए तकनीकी विशेष एवं प्रशिक्षित व्यक्तियों की कमी भी भारत के अल्पविकास का मुख्य कारण रहा है। यद्यपि अब देश में काफी सुविधाएं हो गई है फिर भी विदेशी विशेष पर निर्भरता बनी हुई है।

नोट

6. **व्यापक बेकारी एवं अर्द्धबेकारी** (Widespread Unemployment and Under - employment)—भारत में जनसंख्या की विस्फोटक वृद्धि एवंआर्थिक विकास की धीमी गति के कारण रोजगार के अवसरों की काफी कमी है। जहाँ 1950-51 में बेरोजगारों की संख्या 45 लाख थी, वह आज बढ़कर 65 करोड़ से अधिक है। अर्द्ध बेरोजगारी भी भयंकर है। भारत की इस मूल्यवान पूंजी का समुचित उपयोग न होने से भारतीय अर्थव्यवस्था पिछड़ी हुई है और उसके दुष्परिणाम से विकास का मार्ग अवरूद्ध हुआ है।

7. **प्राकृतिक प्रकोप** (Natural Calamities)—भारत में अकाल, बाढ़, भूचाल, तूफान, महामारियां आदि प्राकृतिक प्रकोप आते रहते है जिनमें जन-धन की भारी हानि होती है। यह विनाश लीला विकास के लाभों को समाप्त कर देती है। भारत की कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था मानसून का जुआ है। अगर मानसून समय पर नहीं आता है तो सारी अर्थव्यवस्था ही चौपट हो जाती है।

8. **अकुशल आर्थिक संगठन** (Inefficient Economic Organisation)—जहाँ एक ओर पूंजीवादी आर्थिक संगठन विकास में बाधक रहा है, वहाँ दूसरी ओर कृषि में जागीरदारी एवं जमींदारी प्रथा से कृषि का विकास नहीं हो पाया है। श्रमिकों का शोषण एवं से से लाभ की प्रवृतियों से विकास नहीं हो सका साथ हीआर्थिक नीतियां भी दोषपूर्ण रहीं।

9. **यातायात एवं संचार के साधनों का अभाव** (Lack of Transportation and communication)—भारत में सस्ते एवं शीघ्रगामी यातायात एवं संचार के साधनों का नितान्त अभाव है। देश अभी भी बैलगाड़ी के युग में चल रहा है। अत: इनके अभाव में विकास की कल्पना निरर्थक है। यद्यपि अब देश में 63.5 हजार किलोमीटर लम्बी रेलें, 20 लाख किलोमीटर पक्की सड़के एवं 75 लाख जी.आरटी जहाजी क्षमता है फिर भी यह देश की विशालता एवं आवश्यकता के मुकाबले नगण्य है।

10. **साम्राज्यवादी शोषण** (Imperialistic Exploitation)—भारत का ब्रिटिश शासनकाल में जो निर्दयतापूर्वक शोषण हुआ था उसकी मिसाल विश्व के इतिहास में मिलना कठिन है। साधनों का बाय-बहाव राष्ट्रीय आय का 2 से 3 प्रतिशत वार्षिक था। लघु उद्योगों का पतन, रेल-निर्माण, लूट-खसोट, दोषपूर्ण भूमि- व्यवस्था आदि अंग्रेजी शासन के शोषण के विभिन्न रूप ने भारत को कंगाल बना दिया। 1947 के बाद भी साम्राज्यवादी शोषण अपने आधुनिक रूप में विद्यमान है, जिससे मशीनों एवं व्यापार में अनुचित लाभ कमाया जा रहा है। भारत से विदेशों में प्रतिभा-पलायन भी शोषण का अद्भुत उदाहरण है।

11. **विदेशी विनिमय का संकट** (problem of Foreign Exchange)—भारत के अल्प-विकास का प्रमुख कारण उसके सामने विदेशी विनिमय संकट का है। निरन्तर प्रतिकूल व्यापार संतुलन रहने से भारत अपनेआर्थिक विकास के लिए विदेशों से मशीन, पूँजीगत सामान एवं औद्योगिक कच्चा माल मँगवाने में असमर्थ रहा है। विदेशी विशेष एवं तकनीकी ज्ञान का आयात भी संभव नहीं हो पाता, अत: अल्पविकास की समस्या बनी हुई है। आज यह समस्या कम है।

12. **प्रभावी नियोजन की कमी** (lack of Effective planning)—भारत के अल्पविकास में उसके प्रभावी नियोजन की कमी भी उत्तरदायी है। योजनाओं को सफलतापूर्वक क्रियान्वित न कर सकने से काफी विफलताएँ देखने को मिली है। लक्ष्यों एवं उपलिब्धयों में अन्तर रहने से वांछित विकास न हो सका और आर्थिक पिछड़ापन बना हुआ है।

13. **औद्योगिक अशान्ति** (Industrial Unrest)—भारतीय उद्योगों में होने वाले निरन्तर हड़ताल, धरना, तालाबन्दी एवं तोड़फोड़ से न केवल औद्योगिक विकास को धक्का लगा है वरन् अर्थव्यवस्था

नोट

के अन्य क्षेत्रों के विकास में भी बाधा पहुँची है। मालिकों एवं श्रमिकों में वर्ग संघर्ष के कारण भी अल्प विकास एवं पिछड़ापन बना हुआ है। 1993-94 में औद्योगिक संघर्ष से 2.4 करोड़ मानव दिवस की क्षति हुई तथा 2005 में 2.5 करोड़ मानव दिवस की क्षति हुई।

14. **प्रदर्शन, उपभोग एवं फिजूलखर्ची** (Conspicuous, Consumption and Wastage)—देश के समृद्ध लोगों में विदेशी जीवन स्तर के नकल की होड लगी हुई है। उनमें प्रदर्शनात्मक प्रभाव घर कर गया है। अत: वे देश के विकास को दोहरा नुकसान पहुँचा रहे है। एक ओर अपने उपभोग में विदेशों का दुरूपयोग करते है, वहीं दूसरी ओर अपनी बचत को उत्पादन काय में न लगाकर उनको फिजूलखर्ची में गंवाते है। इन पर प्रभावी नियंत्रण की आवश्यकता है।

15. **निर्धनता का कुचक्र** (Vicious Circle of Poverty)—भारतीय अर्थव्यवस्था निर्धनता के ऐसे कुचक्र में फँ सी हुई है कि विकास की कल्पना तक निरर्थक है जब तक कि इस कुचक्र को तोड़ा नहीं जाता। यह कुचक्र निर्धनता → कम आय एवं कम बचत → कम विनियोग → कम पूंजी निर्माण → कम उत्पादन → आर्थिक पिछड़ापन → निर्धनता के क्रम में निरन्तर चलता है। इसलिए भी भारतीय अर्थव्यवस्था अल्पविकसित है। योजना आयोग के अनुसार भारत में 1999-2000 में 26.10 प्रतिशत लोग निर्धनता की रेखा से नीचे थे। ग्रामीण क्षेत्रों में इसका अनुपात 27 प्रतिशत तथा शहरी क्षेत्रों में 23.6 प्रतिशत था।। 1993-94 में यह अनुपात लगभग 36 प्रतिशत रहा था।

1.6 धन व आय के वितरण में असमानता

भारत में धन और आय के वितरण में असमानता पायी जाती है। आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में चोटी के थोड़े से परिवारों के पास ग्रामीण परिसंपति का ज्यादा अंश पाया जाता है और अधिकांश परिवारों के पास थोड़ा अंश पाया जाता है। शहरों में आर्थिक असमानता गाँवों की अपेक्षा अधिक पायी जाती है। धन के वितरण की असमानता आय के वितरण की असमानता से अधिक पायी जाती है। देश में भूमि के वितरण में भी काफी असमानता देखने को मिलती है। 1995-96 की कृषिगत संगणना के अनुसार देश में 61.6 प्रतिशत कार्यशील जोते सीमान्त जोते थी (1 हैक्टेयर से कम) जिनमें कुल क्षेत्रफल का केवल 17.2 प्रतिशत भाग था, जबकि बड़ी जोत (10 हैक्टेयर व इससे अधिक) का अनुपात कुल जोत में केवल 1.2 प्रतिशत था, लेकिन इनमें कुल क्षेत्रफल का 14.8 प्रतिशत भाग समाहित था।

अल्पविकास के सामाजिक कारण

भारतीय अर्थव्यवस्था के अल्पविकास में सामाजिक कारण भी उतने ही उत्तरदायी हैं। इनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखत है—

1. **जनाधिक्य की समस्या** (Problem of Over - Population)—भारत में अल्पविकास एवं पिछड़ेपन का प्रमुख कारण जनसंख्या की बाढ़ है। प्रतिवर्ष 1.93 प्रतिशत की वृद्धि, 2.7 करोड़ नये बच्चों के जन्म की बाढ़आर्थिक विकास को बहा ले जाती है और लोगों कीआर्थिक स्थिति में महत्वपूर्ण सुधार नहीं हो पाता। खाद्यान्न की समस्या, बढ़ती बेकारी और गरीबी की समस्या जनाधिक्य के ही दूसरे नाम हैं।

2. **रूढ़िवादी समाज** (Traditional Society)—भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में बसने वाली जनसंख्या अत्यधिक रूढ़िवादी है और उनमें प्रगतिशीलता का अभाव है। अब यद्यपि शिक्षा के प्रसार से धीरे-धीरे सुधार आ रहा है फिर भी वह उनकी भाग्यवादिता के सामने नगण्य है।

नोट

3. **अशिक्षा** (Illiteracy)—भारत में शिक्षा का नितान्त अभाव है। कुल जनसंख्या का 65.4 प्रतिशत ही साक्षर है, उनमें से स्त्रियों में साक्षरता का प्रतिशत 54.16 प्रतिशत ही है। जिस देश में 34.6 प्रतिशत पुरूष एवं 46 प्रतिशत स्त्रियां अशिक्षित हो तो उनके तीव्र विकास की कल्पना कठिन लगती है।
4. **चेतना एवं सहयोग का अभाव** (Lack of Awareness and Cooperation)—भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों में बंटा होने तथा उनमें एक-दूसरे के प्रति ऊँच-नीच की भावना एवं पारस्परिक वेष से आर्थिक विकास के प्रति चेतना एवं सहयोग की भावना नहीं है। अत: आर्थिक पिछड़ापन एवं अल्प-विकास स्वाभाविक है।
5. **धार्मिक अंधविश्वास** (Religious orthodoxy)—भारत की अधिकांश जनता अभी भी धार्मिक अंधविश्वास एवं भाग्य के भरोसे अकर्मण्य है। ये लोग अपनी दरिद्रता को भाग्य और बच्चे को भगवान की देन मानते है। ये सामाजिक एवं धार्मिक मान्यताएं आर्थिक प्रयत्न और विकास के अनुकूल नहीं है।
6. **आध्यात्मिक दृष्टिकोण** (Intellectual Prespective)—भारतीय जीवन में आध्यात्मिक दृष्टिकोण की प्रधानता रही है। "सादा जीवन उच्च विचार" के दृष्टिकोण में भौतिकवाद के प्रति अरूचि रही है जबकि भौतिकवादी पाश्चात्य देशों में तीव्र विकास हुआ है। जर्मन समाजशास्त्री मेक्स वेबर के अनुसार हिन्दू धर्म ने भारत में अशिक्षित एवं शिक्षित दोनों ही वर्गों में यह विश्वास उत्पन्न किया है कि उनका वर्तमान जीवन उनके पूर्व जन्म के कम द्वारा निर्धारित हुआ है और उन्हें अपने अगले जीवन को अच्छा बनाने के लिए धार्मिक काय में समय लगाना चाहिए। इस प्रकार का विश्वास मनुष्य को निकम्मा बनाता है।
7. **स्त्रियों की आर्थिक परतन्त्रता** (Economic Dependence of Woman)—भारतीय आर्थिक जीवन पर पुरानी एवं असामाजिक संस्थाओं का स्पष्ट प्रभाव है। जातिप्रथा, संयुक्त परिवार प्रणाली, उत्तराधिकार के नियम, बाल-विवाह, पर्दाप्रथा आदि की कठोरता का भारतीयों के आर्थिक व्यवहार पर जो प्रभाव पड़ा है, उससे आर्थिक विकास में बाधाएं उत्पन्न हुई है और देश अल्पविकसित एवं पिछड़ा रहा है।
8. **पारंपरिक रीति-रिवाज** (Traditional Social Customs)—भारत में मृत्युभोज, विवाहोत्सव, धार्मिक बन्धन आदि की फिजूलखर्ची से देश में विकास को धक्का लगा है तथा ऋणग्रस्तता बढ़ी है जिसने प्रेरणा एवं साहस को निरूत्साहित किया है और आर्थिक पिछड़ेपन को बनाए रखा है। जनता पीढ़ियों से प्रचलित परम्पराओं को आर्थिक दृष्टि से हानिकारक होने पर भी निभाती रहती है।

अल्पविकास के राजनीतिक कारण

भारत के अल्प विकास में राजनीतिक कारण का भी हाथ रहा है। 1947 से पूर्व अंग्रेज की पराधीनता और बाद में राजनीतिक अस्थिरता एवं अकुशल प्रशासन के साथ-साथ विदेशी आक्रमण के कारण सुरक्षा पर बढ़ते व्यय से आर्थिक विकास वांछित गति से नहीं हो पाया है। इन कारण का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

1. **राजनीतिक पराधीनता** (Political Slavery)—स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व अंग्रेज शासक भारत को कच्चे माल का उत्पादक एवं ब्रिटेन को पक्के माल का बाजार बनाना चाहते थे। उन्होंने भारतीय अर्थव्यवस्था का शोषण ही नहीं किया वरन् उसके आर्थिक विकास को हतोत्साहित भी किया ओर देश को आर्थिक परतन्त्रता की ओर धकेलने में कोई कसर नहीं छोड़ी। अत: भारत अल्प-विकसित एवं पिछड़ा रह गया।

2. **राजनीतिक अस्थिरता** (Political Instability)—भारत में स्वातन्त्रता प्राप्ति के बाद प्रजातान्त्रिक शासन व्यवस्था में राज्यों और केन्द्र में राजनीतिक अस्थिरता रही। सन् 1964 के बाद तो अस्थिरता और बढ़ गई। इस अस्थिरता में राजनेता अपनी कुर्सी बचाने के चक्कर में आर्थिक विकास की उपेक्षा करते रहे जिससे आर्थिक विकास में बाधा पहुँची है। हड़तालें, उथल-पुथल, तोड़-फोड़ आदि राजनैतिक अस्थिरता को दर्शाते है। 1962 में चीनी आक्रमण, 1965 में पाकिस्तानी आक्रमण और 1971 में बंगलादेश एवं पाकिस्तान के युद्ध तथा फिर 1999 में करगिल युद्ध से विकास को धक्का लगा। अब भी पाकिस्तान का भय बना हुआ है। पंजाब, उत्तरांचल, पूवाचल, आंप्रदेश, जम्मू-कश्मीर घातक रहा है। दल-बदल की राजनीति ने राजनैतिक अस्थिरता को और बढा दिया है।
3. **अकुशल एवं भ्रष्ट प्रशासन** (Inefficient & corrupt Administration)—भारत में अंग्रेजी शासनकाल से चला आ रहा अकुशल एवं भ्रष्ट प्रशासन भारत के आर्थिक विकास में बहुत बड़ी बाधा रहा है। आज भी प्रशासन में लाल फीता शाही, भाई भतीजावाद और रिश्वतखोरी को बोलबाला है। इससे अकुशलता और अकर्मण्यता को बढ़ावा मिला है।
4. **योग्य नेतृत्व का अभाव** (Lack of Able Leadership)—भारत में अंग्रेजी शासकों का उद्देश्य तो भारत का शोषण करना था जबकिस्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद नेहरु जी के योग्य नेतृत्व में देश आगे बढ़ा किन्तु उनकी मृत्यु के बाद से योग्य एवं स्थिर नेतृत्व में कमी आई। अत: देश में आर्थिक नीतियों का सफल संचालन न हो सका और आर्थिक विकास में वांछित गति न आ सकी। लक्ष्यों एवं उपलब्धियों में काफी अन्तराल से आम जनता में निराशा की भावना बढ़ी।
5. **सुरक्षा व्यय में वृद्धि** (Increase in Defence Expenditure)—भारत आजादी से पूर्व अपने बजट का लगभग 62.5 प्रतिशत भाग सुरक्षा पर व्यय करता था। आज भी प्रतिरक्षा पर व्यय में निरन्तर वृद्धि हो रही है। जहाँ 1951 में प्रतिरक्षा व्यय 164 करोड़ रु. था 1982 में चीनी आक्रमण के कारण बढ़ाकर 425 करोड़ रु. तथा 2005-06 के बजट में बढ़ाकर 83000 करोड़ रु. कर दिया गया था। 2006-o7 के बजट में 89000 करोड़ रु. व्यय का प्रावधान है। यह बढ़ता सुरक्षा व्यय विकास काय पर कम व्यय करने को बाध्य करता है और आर्थिक विकास को अवरूद्ध करता है।

संक्षेप में भारत के अल्पविकास एवं पिछड़ेपन में आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक कारण का सम्मिलित प्रभाव पड़ा है। अत: अगर देश का तीव्र विकास करना है तो इन सब कारण को दूर करना होगा। आर्थिक विकास में तेजी लानी होगी। औद्योगीकरण, कृषि विकास एवं परिवहन तथा संचार के साधनों को बढ़ाना होगा। प्रभावी एवं कुशल नियोजन से निर्धनता के कुचक्र को हमेशा के लिए तोड़ना होगा। बेकारी एवं उत्कृष्ट उपभोग पर नियन्त्रण करना होगा। जनसंख्या वृद्धि पर काबू पाना होगा। रूढ़िवादी समाज की कुरीतियों को दूर कर उनमें चेतना एवं सहयोग की भावना जागृत करनी पड़ेगी। राजनीतिक स्थिरता, कुशलता एवं स्वच्छ प्रशासन का प्रयास करना होगा। दोषपूर्ण आर्थिक एवं सामाजिक संगठन को विकासोन्मुख बनाना होगा तथा देश अल्प विकास एवं पिछड़ेपन से ऊपर उठ सकेगा।

इतना होने के बावजूद भी हम इस बात से इंकार नहीं कर सकते कि योजनाकाल में भारतीय अर्थव्यवस्था विकास के पथ पर काफी आगे बढ़ी है और निरन्तर बढ़ती जा रही है। अत: अब हम भारतीय अर्थव्यवस्था पर विकासशील, प्रगतिशील तथा परिवर्तनशील अर्थव्यवस्था के रूप में दृष्टि डालेंगे।

1.7 भारत विकासशील अर्थव्यवस्था के रूप में

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत ने 1951 में नियोजित विकास का मार्ग अपनाया जिस पर वह लगातार चलता जा रहा है। अब तक योजनावधि के 56 वर्ष बीत चुके है। इस समय ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (2007-12)

के प्रथम वर्ष की योजना पर कार्य चल रहा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि योजनाकाल में विभिन्न क्षेत्रों में आर्थिक प्रगति हुई है। नीचे दिये गये विवरण से यह स्पष्ट हो जायेगा कि भारतीय अर्थव्यवस्था को वस्तुत: एक विकासशील अर्थव्यवस्था कहना अधिक उपयुक्त होगा।

नोट

1. **नियोजित मिश्रित अर्थव्यवस्था** (Planned Mixed Economy)—जिस प्रकार अमरीकी या जापानी अर्थव्यवस्था को विकसित पूँजीवादी अर्थव्यवस्था कह सकते है, उसी "प्रकार भारतीय अर्थव्यवस्था को नियोजित, मिश्रित व विकासशील अर्थव्यवस्था कह सकते है। यहाँ आर्थिक विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाएँ बनायी जाती है। इसे मिश्रित इसलिए कहा जाता है क्योंकि यहाँ सार्वजनिक क्षेत्र व निजी क्षेत्र दोनों को काम करने का अवसर दिया गया है। एक तरफ सरकारी उपक्रम है तो दूसरी तरफ निजी उपक्रम हैं। जुलाई 1991 से देश में नवीन आर्थिक सुधारों का कार्यक्रम अपनाया गया है, जिसके अन्तर्गत आर्थिक उदारीकरण का मार्ग अपनाया गया है। सरकार निजीकरण, बाजारीकरण व अन्तर्राष्ट्रीयकरण पर बल देने लगी है। औद्योगिक क्षेत्र, विदेशी व्यापार क्षेत्र, राजकोषीय क्षेत्र, वित्तीय व बैंकिंग क्षेत्र में उदार नीतियां अपनाई गई है। प्रतिस्पर्धा व कार्य कुशलता बढ़ाने पर बल दिया जा रहा है।
2. **राष्ट्रीय आय में वृद्धि** (Increase in National Income)—योजनाकाल में राष्ट्रीय आय (1993-94 के मूल्यों पर) में प्रथम योजना में 3.6 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी जो नवीं योजना में 5.5 प्रतिशत हो गई। योजनाकाल में चार दशकों में विकास की वार्षिक दर लगभग 3.8 प्रतिशत आँकी गई है। 1950-51 से पूर्व दशाब्दियों तक भारतीय अर्थव्यवस्था में विकास की दर मुश्किल से 1 प्रतिशत रही थी। अत: योजना काल में पहले की तुलना में तिगुनी से भी अधिक रफ्तार से आर्थिक विकास हुआ है। स्थिर कीमत पर राष्ट्रीय आय 2003-04 में 1950-51 की तुलना में तिगुनी से 9.56 गुनी तथा प्रति व्यक्ति आय इसी अवधि में 3.20 गुनी हो गई हैं। 2003-04 में राष्ट्रीय आय लगभग 12,660 अरब रुपये तथा प्रति व्यक्ति आय 11,799 रुपये रही (दोनों 1993-94 के भावों पर)। इस प्रकार राष्ट्रीय आय में वृद्धि भारत की विकासशील अर्थव्यवस्था की क्षमता का सूचक है।
3. **बचत व विनियोग में वृद्धि** (Increase in Saving and Investment)—भारत में 1950-51 में सकल घरेलू बचत राष्ट्रीय आय की 8.9 प्रतिशत थी जो अब 2003-04 में बढ़कर 28.1 प्रतिशत हो गई है। यह महत्वपूर्ण उपलब्धि है। पूँजी निर्माण या विनियोग की समायोजित दर इसी अवधि में 8.7 प्रतिशत से बढ़कर 26.3 प्रतिशत हो गई है। इस प्रकार भारत में अधिकांश विनियोग घरेलू बचत का उपयोग करके किया गया है। योजनाकाल में बचत व विनियोग की दरों में वृद्धि भारत में विकासशील अर्थव्यवस्था को प्रकट करती है।
4. **कृषिगत उत्पादन में वृद्धि** (Increase in Agricultural Production)—योजनाकाल में कृषिगत उत्पादन 2.7 प्रतिशत वार्षिक दर से बढ़ा तथा यह लगभग दुगुना हो गया। खाद्यान्नों का उत्पादन 1950-51 में 5.1 करोड़ टन से बढ़कर 2003-04 में 21.2 करोड़ टन हो गया। भारत खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता के स्तर तक पहुँचा है, हालांकिसूखे व अकाल के वर्षा में खाद्यान्नों का आयात करना पड़ता है ताकि इनकी कमी न रहे। योजना काल में कपास का उत्पादन चार गुना, जूट व मेस्टा का तिगुना व गन्ने का 4.5 गुना हो गया है।
5. **कृषि का आधुनिकीकरण** (Moderanisation of Agriculture)—भारतीय कृषि जीवन निर्वाह के स्तर से हटकर व्यावसायिक कृषि की ओर मुड़ी है। किसान अब बाजार के लिए फसलें उगाने लगे है। 1956 से हरित क्रान्ति से अधिक उपज देने वाली किस्मों के उपयोग, सिंचाई के विस्तार, साख की मात्रा में वृद्धि, यंत्रीकरण, कीटनाशक दवाइयों के उपयोग व रासायनिक उर्वरकों के बढ़ते

नोट

उपयोग ने कृषि की काया पलट कर दी है। सकल सिंचित क्षेत्र 1951-52 में 2.3 करोड़ हेक्टेयर से बढ़कर 2000-01 में 7.5 करोड़ हेक्टेयर तक जा पहुँचा है। प्रति हेक्टेयर उत्पादन में वृद्धि हुई है। भविष्य में देश के पूर्वी भागों व सूखे क्षेत्रों में कृषि की पैदावार बढ़ाने के प्रयास चल रहे है। देश वितीय हरित क्रान्ति के दौर में प्रवेश कर रहा है।

6. **औद्योगिक विकास** (Industrial Development)—डी. के.एल.कृष्णा के अनुसार योजनाकाल में प्रथम तीन दशकों (1950-51 से 1980-81) तक पंजीकृत विनिर्माण में 6 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि हुई। अस्सी के दशक में विकास की दर बढ़कर लगभग 7.5 प्रतिशत हो गई। लेकिन बाद में इसमें गिरावट आयी और वर्तमान में पुन: औद्योगिक विकास की दर ऊँची होने लगी है। वैसे योजनाकाल में औद्योगिक उत्पादन में काफी विविधता आयी है। कई प्रकार के नए उद्योग सामने आये है। जैसे इलेक्ट्रोनिक्स, कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर, पैट्रो-रसायन वगैरह। भारत में तैयार इस्पात का उत्पादन 1950-51 में 10 लाख टन से बढ़कर 2003-04 में 3 करोड़ 69 लाख टन, क्रूड तेल का उत्पादन 3 लाख टन से बढ़कर 34 लाख टन व कोयले (लिग्नाइट सहित) का उत्पादन 3.23 करोड़ टन से बढ़कर 36.9 करोड़ टन हो गया है। योजनावधि में भारत में औद्योगिक ढांचे का स्वरूप बदल गया है। इसमें उपभोक्ता वस्तुओं के स्थान पर आधारभूत व पूँजीगत वस्तुओं का स्थान ऊँचा हो गया है। निर्यात में औद्योगिक माल का अंश बढ़ा है। इस प्रकार भारत में औद्योगीकरण की दिशा में काफी प्रगति हुई है। सार्वजनिक क्षेत्र में विनियोग बढ़ा है, तथा निजी क्षेत्र का विस्तार हुआ है।

7. **सामाजिक व आर्थिक आधारभूत ढाँचे का विस्तार** (Expansion of Social Economic Infrastructure) **सामाजिक आधारभूत**—ढांचे में शिक्षा, चिकित्सा वगैरह आते है तथा आर्थिक आधारभूत ढाँचे में विद्युत, परिवहन, बीमा, बैंकिंग वगैरह आते है। योजनाकाल में साक्षरता की दर बढ़ी है। यह 2001 में 65.38 प्रतिशत रही है जो पहले से अधिक है फिर भी काफी नीची है। शक्ति की प्रस्थापित क्षमता 1950-51 में 23 लाख किलोवाट से बढ़कर 2003-04 में 1,314 लाख किलोवाट (57 गुनी) हो गयी है। गाँवों के विद्युतीकरण, पम्प-सेटों के विस्तार एवं रेल व सड़कों के विस्तार से कृषि व उद्योगों को लाभ पहुँचा है।

8. **निर्धनता दूर करने के विशिष्ट कार्यक्रम**—छठी योजना में निर्धनता निवारण के लिए विशिष्ट कार्यक्रम जैसे समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम व रोजगार गारन्टी सम्बन्धी विशेष कार्यक्रम अपनाने से निर्धनता अनुपात घटा है।

इस प्रकार भारतीय अर्थव्यवस्था ने विकास, आधुनिकीकरण, आत्मनिर्भरता व सामाजिक न्याय की दिशा में कदम बढाए है। यह विकासशील देशों में सबसे अधिक विकसित अर्थव्यवस्था मानी जाने लगी है। देश में इंजीनियरों, प्रबन्धकों एवं उद्यमकर्ताओं के नए दल तैयार हुए है। कृषि व उद्योग को उधार देने के लिए नए वित्त व विकास निगम की स्थापना की गयी है एवं देश का विदेशी व्यापार, आयात व निर्यात बढ़े है। इस प्रकार अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में हुए परिवर्तनों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भारत एक पिछड़ा हुआ व अल्पविकसित देश होते हुए भी एक विकासशील देश है। भविष्य में उचितआर्थिक नीतियां अपनाकर व उन्हें कारगर ढंग से लागू करके यह अधिकआर्थिक प्रगति कर सकेगा। देश के समक्ष जनसंख्या नियन्त्रण, निर्धनता, असमानता व बेरोजगारी को कम करके, मुद्रा-स्फीति को नियंत्रत करने तथा आत्म-निर्भरता के लक्ष्य को प्राप्त करने की चुनौतियां विद्यमान है। व्यापक जन सहयोग व साझेदारी, सही आर्थिक नीतियों व आवश्यक राजनीतिक इच्छा शक्ति को अपनाकर देश आर्थिक विकास के मार्ग पर उत्तरोतर आगे बढ़ सकता है। इसी में देश का भविष्य छिपा है।

जुलाई 1991 से अपनाये गये नवीन आर्थिक सुधारों के फलस्वरूप विदेशी विनिमय कोष 1 अरब डॉलर से बढ़कर अप्रैल 2005 में लगभग 142 अरब डालर के स्तर को पार कर गया है, जिसका अधिक उपयोग किया जाना चाहिए। देश में विनियोग बढ़ाने में धन लगाना होगा।

नोट

सरकार उदारीकरण की दिशा में एक के बाद एक कदम उठाती जा रही है। भारत विकास का "मध्यम मार्ग" अपना कर आगे बढ़ रहा है। आर्थिक उदारीकरण की नीति के तहत निजी क्षेत्र को बढ़ावा दिया जा रहा है। बाजार संयंत्र का अधिक उपयोग किया जा रहा है तथा देश की अर्थव्यवस्था को विश्व की अर्थव्यवस्था से जोड़ने का प्रयास चल रहा है। आशा है कि इसके श्रेष्ठ परिणाम सामने आएँगे, लेकिन आर्थिक सुधारों को देश की जरूरत के मुताबिक ढालना होगा।

1.8 मुख्य धारणाएं

अर्थशास्त्र में आर्थिक विकास से सम्बन्धित दो मुख्य धारणाएं है। पहली धारणा जिसे 'परम्परागत धारणा' कहा जा सकता है आर्थिक विकास को आर्थिक रूप में परिभाषित करती है। परम्परागत विचारधारा में आर्थिक विकास एक ऐसी स्थिति है जिसमें सकल राष्ट्रीय (या घरेलू) उत्पाद 5 से 7 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ता रहे और उत्पादन एवं रोजगार संरचना में इस प्रकार परिवर्तन हो कि उसमें कृषि का हिस्सा कम होता जाए और विनिर्माण (manufacturing sector) तथा तृतीयक क्षेत्र (tertiary sector) का हिस्सा बढ़ता जाए। इस प्रकार इस विचारधारा के अन्तर्गत ऐसे कदम उठाने की बात की जाती है जिससे कृषि के स्थान पर औद्योगीकरण की गति को तेज किया जा सके। गरीबी निवारण, आर्थिक असमानताओं में कमी और रोजगार के अवसरों में वृद्धि जैसे उद्देश्यों की मात्र चर्चा भर की जाती है और यह मान्यता ले ली जाती है किसकल राष्ट्रीय (या घरेलू) उत्पाद में वृद्धि तथा प्रति व्यक्ति उत्पाद में वृद्धि होने से बाकी उद्देश्यों को अपने आप धीरे-धीरे प्राप्त कर लिया जाएगा अर्थात सकल राष्ट्रीय (या घरेलू उत्पाद और प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि के लाभ रिस-रिस कर अन्य क्षेत्रों को प्रभावित करगे। इसे संवृद्धि का रिसाव प्रभाव (trickle down effect) कहा जाता है।

लेकिन व्यावहारिक तौर पर यह देखा गया है कि इस शताब्दी के छठे और सातवे दशक में अल्प विकसित देशों की लगभग 40 प्रतिशत जनसंख्या कोआर्थिक संवृद्धि से कोई लाभ नहीं हुआ है और उनकी स्थिति में किसी तरह का सुधार नहीं हुआ तो बहुत से अर्थशास्त्रियों ने 'परम्परागत' विकास विचारधारा को तिलांजलि दे दी। आठवे दशक में आर्थिक विकास की संकल्पना को पुन: परिभाषित किया गया और आर्थिक विकास का मुख्य उद्देश्य गरीबी, असमानता और बेरोजगारी का निवारण रखा गया। इस दौर में 'पुनर्वितरण के साथ संवृद्धि' (Redistribution with growth) का नारा दिया गया। इस संदर्भ में **चार्ल्स पी. किन्डलबर्गर और ब्रूस हैरिक** का यह कथन महत्वपूर्ण है : "आर्थिक विकास की परिभाषा प्राय: लोगों के भौतिक कल्याण के सुधार के रूप में की जाती है। जब किसी देश में खासकर नीची आय वाले लोगों के भौतिक कल्याण में बढ़ोतरी होती है, जन साधारण को अशिक्षा, बीमारी और छोटी उम्र में मृत्यु के साथ-साथ गरीबी से छुटकारा मिलता है, कृषि लोगों का मुख्य व्यवसाय न रहकर औद्योगिकरण होता है, जिससे उत्पादन के स्वरूप में और उत्पादन के लिए इस्तेमाल होने वाले कारकों के स्वरूप में परिवर्तन होता है, कार्यकारी जनसंख्या अनुपात बढ़ता है ओर आर्थिक तथा दूसरे किस्म के निर्णयों में लोगों की भागीदारी बढ़ती है तो अर्थव्यवस्था का स्वरूप बदलता है और हम कहते है कि देश विशेष में आर्थिक विकास हुआ है।

डडले सिअर्स (Dudley Scers) ने आर्थिक विकास के अर्थ के विषय में कुछ बुनियादी सवाल उठाए है। वे कहते है कि किसी भी देश में आर्थिक विकास की प्रक्रिया की चर्चा करते समय जिन प्रश्नों पर ध्यान देना आवश्यक है वे है ' क्या गरीबी के स्तर में कमी हो रही है? क्या बेरोजगारी का स्तर कम हो रहा है? क्या अर्थव्यवस्था में असमानताएं कम हो रही है? यदि तीनों प्रश्नों का उत्तर सकारात्मक है तो निश्चय ही अर्थव्यवस्था

में आर्थिक विकास हुआ है परन्तु यदि इसमें से एक या दो अथवा सभी प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक है तो इस स्थिति को आर्थिक विकास कहना अनुपयुक्त होगा चाहे फिर प्रति व्यक्ति आय दुगुनी ही क्यों न हो जा।

शुम्पीटर (Schumpeter) तथा श्रीमती उसूला हिक्स जैसे अर्थशास्त्रियों ने आमतौर पर अधिक प्रयोग होने वाले 'आर्थिक विकास' तथा 'आर्थिक वृद्धि' इन दोनों शब्दों में अन्तर किया है। शुम्पीटर के अनुसार, आर्थिक विकास स्थिर स्थिति में होने वाला वह असंतत और स्वाभाविक परिवर्तन है जो पहले है जो वर्तमान संतुलन की अवस्था को हमेशा के लिए परिवर्तित और विस्थापित कर देता है, जबकि आर्थिक वृद्धि दीर्घकाल में होने वाला क्रमिक और स्थिर परिवर्तन है जो बचत और जनसंख्या की दर में सामान्य वृद्धि के द्वारा आता है।

श्रीमती हिक्स (Hicks)—निदश करती है कि अल्प विकसित देशों की समस्याएं उपयोग में न लाए गए साधनों के विकास से सम्बन्ध रखती है भले ही उनके उपयोग भली-भांति ज्ञात हो, जबकि उन्नत देशों की समस्याय वृद्धि से सम्बन्धित रहती है जिनके बहुत सारे साधन पहले से ज्ञान और किसी सीमा तक विकसित होते है।

माइकल पी. टोडरो के अनुसार, "विकास को कई आयाम या कई परिमाण वाली प्रक्रिया (Multidimensional process)—के रूप में देखा जाना चाहिए, क्योंकि इसमें ढांच (structure), दृष्टिकोण व संस्थाओं के परिवर्तन तथाआर्थिक प्रगति की रफ्तार का तेज होना व असमानता में कमी एवं निरपेक्ष निर्धनता (absolute poverty) का निवारण आदि शामिल होते है।

प्रो. जी. एम. मेयर एवं बाल्डविन के अनुसार, "आर्थिक विकास एवं आर्थिक प्रगति पर्यायवाची शब्द माने गये है परन्तु आर्थिक विकास में राष्ट्रीय आय में दीर्घकाल (25 वर्ष या इससे अधिक) में होने वाले परिवर्तन सम्मिलित होते है जो प्राकृतिक साधनों, जनसंख्या वृद्धि, पूंजी निर्माण, तकनीकी प्रगति, संगठन एवं कार्यक्षमता आदि में होने वाले परिवर्तनों के कारण उदय होते है। दूसरी ओर आर्थिक प्रगति के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन सम्मिलित किया जाता है। अर्थात् आर्थिक विकास व प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी अर्थव्यवस्था की वास्तविक राष्ट्रीय आय में दीर्घकालीन वृद्धि होती है।

इस परिभाषा से आर्थिक विकास के बारे में जो बात सुव्यक्त होती है, वे इस प्रकार है—

आर्थिक विकास एक प्रक्रिया

इस बात पर बल देना आवश्यक है कि आर्थिक विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें कुछ शक्तियां जो एक-दूसरे से सम्बन्धित है, कारण और कार्य के रूप में कियाशील होती है। अत: हमें आर्थिक विकास की परीक्षा एक प्रगतिशील कार्यक्रम के रूप में करनी चाहिए जिसके फलस्वरूप यह किसी देश की जनसंख्या, विशेषकर निर्धन जनसंख्या के लिए अधिक अर्थपूर्ण सिद्ध हो सके।

निर्धनता दूर करना आर्थिक विकास का प्रधान लक्ष्य

आर्थिक विकास की मूल प्रेरणा निर्धनता दूर करने के लक्ष्य से उत्पन्न हुई। इसलिए आवश्यक है कि केवल राष्ट्रीय आय में वृद्धि को लक्ष्य न मानकर प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय में वृद्धि को लक्ष्य माना जाए। आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है कि राष्ट्रीय आय की वृद्धि दर जनसंख्या की वृद्धि दर से अधिक हो ताकि जनसंख्या का जीवन-स्तर उन्नत हो सके। यदि ऐसा होता है तो गरीबी दूर करने की प्रक्रिया चालू हो जायेगी।

आर्थिक विकास का अर्थ वास्तविक आय में दीर्घकालीन वृद्धि है

आर्थिक विकास का अर्थ वास्तविक आय में दीर्घकाल में लगातार वृद्धि है, न कि अल्पकाल में वृद्धि जो किसामान्यत: व्यापार चक्रों के तेजी के काल में व्यक्त होती है। आर्थिक विकास के मूल में बात यह है कि राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि की प्रवृति कम से कम दो या तीन दशक तक बनी रहनी चाहिए। तभी यह बात अधिक विश्वास से कही जा सकती है कि आर्थिक विकास प्रोन्नत हो रहा है।

नोट

आर्थिक विकास का उपलक्ष्य आर्थिक असमानता में कमी लाना है

आर्थिक विकास के बहुत से विशेष अब इस बात पर सहमत है कि चाहे आर्थिक विकास प्रधान लक्ष्य प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि है परन्तु इसके साथ एक अनिवार्य उपलक्ष्य के रूप में आर्थिक असमानता में कमी करना आवश्यक है। इसके लिए निर्धनता रेखा के नीचे रहने वाली जनसंख्या परम और सापेक्ष रूप में कम करनी होगी। जहाँ वैत अर्थव्यवस्था विद्यमान होती है, वहाँ अर्थव्यवस्था के दो अंग होते है—आधुनिक मौद्रिक अर्थव्यवस्था और पारम्परिक देशीय अर्थव्यवस्था। इसमें यह वल्किुल संभव है कि कुल आय में वृद्धि केवल आधुनिक मौद्रिक अर्थव्यवस्था में ही व्यक्त हो और प्रति व्यक्ति आय में भी वृद्धि हो सकती है चाहे पारम्परिक देशीय अर्थव्यवस्था में कोई परिवर्तन न हो। अत:आर्थिक विकास के एक समन्वित अंग के रूप में आय के वितरण की कसौटी को महत्व देना ही होगा।

आर्थिक विकास के कुछ अन्य उपलक्ष्य

उपभोग का न्यूनतम स्तर, बेरोजगारी को समाप्त करना, विभिन्न क्षेत्रों के विकास एवं समृद्धि में भारी अन्तरों को कम करना, अर्थव्यवस्था का विविधीकरण और आधुनिकीकरण करना। इन सभी उप-लक्ष्यों के मूल में यह बात निहित है कि आर्थिक विकास किसी एक क्षेत्र या कुछ क्षेत्रों या किसी एक वर्ग या कुछ उच्च्व वर्गों तक ही सीमित न रहे बल्कि इसका प्रभाव व्यापक रूप में समग्र जनसंख्या पर पड़े। इस प्रकार आधुनिकीकरण की किया का विस्तार होना चाहिए ताकि पारम्परिक अर्थव्यवस्था को आधुनिक अर्थव्यवस्था में परिवर्तित किया जा सके।

निष्कर्ष रूप में यही, कि चाहे यह परम्परा बनी हुई है कि प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि को आर्थिक विकास का सर्वोतक उपलब्ध सूचक माना जाता है, परन्तु इसके आर्थिक कल्याण याआर्थिक प्रगति का पर्यायवाची समझना उचित नहीं होगा। बहुत से देशों के संदर्भ में यह बात स्पष्ट हो गयी है कि चाहे कुल राष्ट्रीय उत्पाद मे वृद्धि व्यक्त हुई परन्तु इनमें अभी भी निर्धनता रेखा के नीचे रहने वाली जनसंख्या की भारी मात्रा विद्यमान है, इनमें बेरोजगारी बढ़ती जा रही है, और आय की असमानताएं और उग्र हो गई है। अत: विकास अर्थशास्त्री अब कुल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) की वलिदेवी के ही पुजारी नहीं रहे बल्कि प्रत्यक्ष रूप में विकास-प्रक्रिया की गुणवता पर अपना ध्यान केन्द्रित करने लगे है। पाकिस्तानी अर्थशास्त्री महवूव उल हक ने ठीक ही कहा है। "विकास की समस्या की परिभाषा निर्धनता के सबसे बुरे रूप पर चयनात्मक प्रहार के रूप में ही जानी चाहिए विकास के लक्ष्यों की परिभाषा कुपोषण (Malnutrition), बीमारी, निरक्षरता, गरीबी, बेरोजगारी और असमानताओं में क्रमिक कमी करने और अन्ततोगत्वा इन्हें समाप्त करने के रूप में की जानी चाहिये। इसमें यह पढ़ाया गया है कि हमें अपने कुल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) का ध्यान रखना चाहिए जो स्वयं निर्धनता का ध्यान कर लेगा। अब हमें इसे उलट देना चाहिए और हमें निर्धनता को समाप्त करने की ओर ध्यान देना चाहिए और यह प्रक्रिया कुल राष्ट्रीय उत्पाद का ध्यान कर लेगी। दूसरे शब्दों में, हमें कुल राष्ट्रीय उत्पाद की संरचना का इसकी वृद्धि दर की अपेक्षा अधिक ख्याल रखना होगा।"

इस प्रकार आर्थिक विकास एक वृह प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन करके उत्पादन-वृद्धि होती है, जबकि आर्थिक प्रगति वर्तमान संरचना में ही परिवर्तनों का अध्ययन करती है। आर्थिक प्रगति दीर्घकाल में आर्थिक विकास का परिणाम बन जाती है।

1.9 आर्थिक विकास की आवश्यकता

डब्ल्यू आर्थर लुइस ने आर्थिक विकास के निम्न लाभों पर बल दिया है—

वातावरण पर नियन्त्रण

इससे मनुष्य को अपने वातावरण पर अधिक नियन्त्रण प्राप्त होता है जिससे उसकी स्वतन्त्रता बढ़ जाती है। प्राचीन अर्थव्यवस्था में मानव को कठिन परिश्रम करना पड़ता था और प्रकृति पर उसका नियन्त्रण बहुत कम था।

आर्थिक विकास से अधिक विश्राम एवं अधिक वस्तुएँ दोनों प्राप्त होते है

आर्थिक विकास से वस्तुओं का उत्पादन बढ़ता है जिससे सर्वसाधारण को भी वे वस्तुएं मिलने लग जाती है जो अन्यथा धनी लोगों तक सीमित रहती। इससे लोगों को विश्राम भी अधिक मिलने लगता है।

आर्थिक विकास पुरुषों की तुलना में स्त्रियों को अधिक लाभ पहुंचाता है

इससे स्त्रियों के लिए रोजगार के अवसर खुलते है तथा दैनिक काय में यन्त्रों का अधिक प्रयोग होने से उनकी परेशानी कम हो जाती है।

आर्थिक विकास से ही एक विकसित देश विकासशील देश की मदद कर सकता है आज अमेरिका, जापान, कनाडा आदि देश विकासशील देशों कोआर्थिक सहायता देकर उनका विकास करने में मदद दे रहे है। यह आर्थिक विकास के कारण ही संभव हो सका। इसी प्रकार एक देश के अन्दर आर्थिक विकास होने पर ही समाज के कमजोर वर्गों को सहायता पहुँचाई जा सकती है।

देशवासियों की राजनीतिक एवं सामाजिक आकांक्षाओं की पूर्ति करने के लिए आर्थिक विकास आवश्यक माना गया है

आर्थिक विकास के कारण ही विश्व के रंगमंच पर चीन को राजनीतिक सम्मान मिल पाया है और आर्थिक विकास के साथ-साथ यह सम्मान बढ़ेगा और अन्य देश उसके अनुभवों से लाभ उठाना चाहेंगे।

आर्थिक विकास से ही एक राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय जगत से सम्मान पा सकता है निर्धन देश धनी देशों की कूटनीति के शिकार हो जाते है। इसलिए आर्थिक विकास का बड़ा महत्व है।

देश में सामाजिक न्याय व समानता अर्थात समाजवाद की स्थापना के लिए आर्थिक विकास करना आवश्यक है।

समाजवाद को अपनाने से आर्थिक विकास संभव होता है और आर्थिक विकास ही समाजवाद को स्थायी बनाता है।

अत: आर्थिक विकास कई कारण से आवश्यक माना गया है। आज विश्व में अमेरिका, रूस व चीन का राजनीतिक प्रभाव उनके आर्थिक विकास की ही देन है। एक देश में उत्पादन, रोजगार, बचत, विनियोग तथा मूल्यों की समस्याएं मूलत: आर्थिक विकास से ही हल हो पाती है।

1.10 आर्थिक विकास का माप

आर्थिक विकास को तीन तरह से मापा जाता है।

राष्ट्रीय आय में वृद्धि

एक परिभाषा यह है कि आर्थिक विकास को समय की किसी दीर्घ अवधि में एक अर्थव्यवस्था की वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि के रूप में मापा जाए। परन्तु यह परिभाषा संतोषजनक नहीं है। प्रथम, वास्तविक राष्ट्रीय आय का सम्बन्ध मुद्रा की अपेक्षा वास्तविक रूप में देश की अन्तिम वस्तुओं और सेवाओं के कुल उत्पादन से है। अत: राष्ट्रीय आय का आकलन करते हुए कीमत परिवर्तनों को नहीं लेना होगा। परन्तु एक विकासशील अर्थव्यवस्था में यह अवास्तविक हो जाता है, जहाँ कीमत परिवर्तन अवश्य होते है। दूसरे, इस परिभाषा में समय

की दीर्घ अवधि का अर्थ है वास्तविक आय में लगातार वृद्धि का होना। इसलिए राष्ट्रीय आय में अल्पकालीन वृद्धि को आर्थिक विकास नहीं माना जा सकता। तीसरे, यदि वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि के साथ ही जनसंख्या में भी अपेक्षाकृत अधिक तेज वृद्धि हो जाती है, तो आर्थिक विकास नहीं बल्कि गतिरोध (retardation) होगा। इस परिभाषा में चक्रीय उतार-चढ़ाव (cyclical swings) के कारण होने वाले वास्तविक राष्ट्रीय उत्पादन (real national output) तथा मुद्रा के मुल्य में परिवर्तनों के लिए गुंजाईश रखनी पड़ेगी। इनके अतिरिक्त अन्य कठिनाइयां भी है, जो अल्पविकसित या विकासशील देशों में समयगत राष्ट्रीय आय की माप से सम्बन्धित है। प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि दूसरी परिभाषा का सम्बन्ध लम्बी अवधि में प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में वृद्धि से है। 'प्रति व्यक्ति वास्तविक आय या उत्पादन में वृद्धि' के रूप में आर्थिक विकास की परिभाषा देने में अर्थशास्त्री एक मत है। **प्रो. मेयर** (Meier) आर्थिक विकास को एक प्रक्रिया (process) परिभाषित करते है। जिससे समय की दीर्घ अवधि में एक देश की वास्तविक आय में वृद्धि होती है।

प्रो. बरन (Baran) कहते है, ' 'भौतिक वस्तुओं के प्रति व्यक्ति उत्पादन में निश्चितकालिक वृद्धि के रूप में आर्थिक वृद्धि (या विकास) की परिभाषा दी जानी चाहिए। इन परिभाषाओं का उद्देश्य इस बात पर बल देना है कि आर्थिक विकास के लिए वास्तविक आय के वृद्धि की दर जनसंख्या में वृद्धि की दर से अधिक होनी चाहिए। परन्तु फिर भी कठिनाइयां रह जाती है।

यह संभव है कि प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि के परिणामस्वरूप जनसाधारण के वास्तविक जीवन-स्तर में सुधार न हो। यह संभव है कि जब प्रति व्यक्ति वास्तविक आय बढ़ रही हो, तो प्रति व्यक्ति उपभोग की मात्रा कम होती जा रही है। हो सकता है किलोग बचत की दर बढ़ा रहे हों या फिर सरकार स्वयं इस बढ़ी हुई आय को सैनिक अथवा अन्य उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल कर रही हो। वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि के बावजूद जनसाधारण की गरीबी का दूसरा कारण यही हो सकता है कि बढ़ी हुई आय बहुसंख्यक गरीब के पास जाने के बजाए मुठी भर धनिकों के हाथ में जा रही हो। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की परिभाषा उन प्रश्नों को गौण बना देती है जो' ' 'समाज के ढाँचे, उसकी जनसंख्या के आकार एवं बनावट, उसकी संस्थाओं तथा संस्कृति साधन-स्वरूप और सामाजिक सदस्यों में उत्पादन के समान वितरण से सम्बन्ध रखते है।

आर्थिक कल्याण में वृद्धि

यह प्रवृति भी होती है कि आर्थिक कल्याण के दृष्टिकोण से आर्थिक विकास की परिभाषा दी जाए। ऐसी प्रक्रिया को आर्थिक विकास माना जाता है जिससे प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में वृद्धि होती है और उसके साथ-साथ आय की असमानताओं का अन्तर कम होता है तथा समस्त जनसाधारण के अधिमान (preferences) संतुष्ट होते है। **ओकन** (Okun) और **रिचर्डसन** (Rechardson) के शब्दों में आर्थिक विकास "भौतिक समृद्धि में ऐसा अनवरत दीर्घकालीन सुधार है जो वस्तुओं और सेवाओं के बढ़ते हुए प्रवाह में प्रतिबिम्बित समझा जा सकता है।" यह परिभाषा भी सीमाओं से मुक्त नहीं है। प्रथम, यह आवश्यक नहीं कि वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि का अर्थ 'आर्थिक कल्याण' में सुधार ही हो। ऐसा संभव है कि वास्तविक राष्ट्रीय आय का प्रति व्यक्ति आय के बढ़ने से अमीर अधिक अमीर हो रहे हों और गरीब अधिक गरीब। इस प्रकार केवल आर्थिक कल्याण में वृद्धि से ही आर्थिक विकास नहीं होता, जब तक कि राष्ट्रीय आय का वितरण न्यायपूर्ण न माना जाए।

दूसरे आर्थिक कल्याण को मापते समय कुल उत्पादन की संरचना (Composition of total output) का ध्यान रखना पड़ता है जिसके कारण प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होती है, और यह उत्पादन कैसे मूल्यांकित (valued) हो रहा है। बढ़ा हुआ कुल उत्पादन पूँजी पदार्थों से मिलकर बना हो सकता है और यह भी उपभोक्ता वस्तुओं के कम उत्पादन के कारण। परन्तु वास्तविक कठिनाई इस उत्पादन के मूल्यांकन (Valuation) में होती है। उत्पादन तो मार्केट कीमत पर मूल्यांकित होता है, जबकि आर्थिक कल्याण वास्तविक राष्ट्रीय आय

उत्पादन या आय में वृद्धि से मापा जाता है। वास्तव में, आय के विभिन्न वितरण से क़ीमत निम्न होंगी और राष्ट्रीय उत्पादन का मूल्य तथा संरचना भी भिन्न होंगे।

तीसरे, कल्याण के दृष्टिकोण से हमें केवल यह नहीं देखना चाहिए कि क्या उत्पादित किया ज़ाता है बल्कि यह भी कि उसका उत्पादन कै से होता है। वास्तविक राष्ट्रीय उत्पादन के बढ़ने से संभव है कि अर्थव्यवस्था में वास्तविक लागत (पीड़ा और त्याग) और सामाजिक लागत में वृद्धि हुई हो। उदाहरणार्थ, उत्पादन में वृद्धि अधिक घन्टे तथा श्रमशक्ति की कार्यकारी अवस्थाओं (Working conditions) में गिरावट के कारण हुई हो।

अंतिम, और फिर, अतिरिक्त कारण के बिना सामाजिक कल्याण का तो कहना ही क्या, हम प्रति व्यक्ति उत्पादन मे वृद्धि को भीआर्थिक कल्याण में वृद्धि के बराबर नहीं मान सकते। विकास की दृष्टतम दर निश्चित करने के लिए हमे आय-वितरण, उत्पादन की संरचना, रूचियों, वास्तविक लागत तथा ऐसे अन्य सभी विशिष्ट प्रयत्नों के सम्बन्ध में मूल्य-निर्णय (Value judgement) करने पड़गे जो कि वास्तविक आय में कुल वृद्धि से संबंध रखते है। इसलिए मूल्य निर्णयों से बचने और सरलता के लिए अर्थशास्त्री प्रति व्यक्ति वास्तविक राष्ट्रीय आय को आर्थिक विकास का माप मानकर प्रयोग करते है।

1.11 आर्थिक विकास के कारक

प्रगति की महत्वाकांक्षा रखने वाले अल्पविकसित देश की आर्थिक विकास के लिए कुछ पूर्वाकाक्षाएं (Prerequisites) होनी चाहिए। परन्तु यह कहना पर्यात नहीं कि उन बाधाओं को दूर कर देने मात्र से ही आर्थिक विकास हो सकता है, जो कि विकास के मार्ग में पायी जाती है। प्रो. **डब्ल्यू. ए. लुइस** के अनुसार, आर्थिक वृद्धि के कुछ-कुछ कारण ये है : बचत करने का प्रयत्न, ज्ञान की वृद्धि या उसका उत्पादन में प्रयोग और प्रति व्यक्ति पूँजी अथवा अन्य साधनों की मात्रा में वृद्धि करना। यद्यपि इन तीन कारण में सैद्धान्तिक दृष्टि से स्पष्ट भेद किया जा सकता है, फिर भी, ये तीनों प्राय: इकठे मिलते है। क्योंकि आर्थिक विकास 'मानवीय गुण, सामाजिक प्रवृतियों, राजनैतिक परिस्थितियों और ऐतिहासिक संयोगों से बहुत निकटता का सम्बन्ध रखता है, अत: आर्थिक विकास के लिए केवलआर्थिक आवश्यकताएं हीं पर्यात नहीं है, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक आवश्यकताएं भी उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी कि आर्थिक आवश्यकताएं। जैसा कि प्रो. केर्नक्रास ठीक ही कहते है कि विकास न तो केवल मुद्रा की प्रचुर मात्रा होने की बात है और न ही वह एक नितान्त आर्थिक घटना है। इसके अन्तर्गत सामाजिक व्यवहार के सभी पक्ष, कानून तथा व्यवस्था की स्थापना, व्यापार सम्बन्धी लेनदेन में आचारशीलता जिसमें राजस्व अधिकारियों से लेनदेन भी शामिल है - परिवार से सम्बन्ध, साक्षरता, यान्त्रिक युक्तियों के परिचय इत्यादि आते है।

इस प्रकार आर्थिक विकास पर अनेक तत्वों का प्रभाव पड़ता है जो ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि श्रेणियों में विभाजित किये जा सकते है। लोगों की आदतें, दृष्टिकोण (attitudes), योग्यता, ज्ञान का विकास करने की अभिलाषा आदि भी आर्थिक विकास को प्रबल रूप से प्रभावित करते है। प्रोफे सर पी.टी. बावर के शब्दों, "आर्थिक प्रगति व उपलिब्ध बहुत कुछ मानवीय गुण व दृष्टिकोण, इन पर आधारित सामाजिक व राजनीतिक संस्थाओं, ऐतिहासिक अनुभव एवं प्राकृतिक साधनों व अन्य कई तत्वों पर निर्भर करती है।

अत: आर्थिक विकास एक जटिल प्रक्रिया है। आर्थिक विकास कें निर्धारक तत्व आर्थिक और अनार्थिक दोनों ही है। जहाँ तकआर्थिक तत्वों का सम्बन्ध है इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण है - पूँजी स्टॉक (Capital stock) तथा संचयन (accumulation) की दर, विभिन्न क्षेत्रों में पूँजी उत्पाद अनुपात, जनसंख्या का आकार एवं वृद्धि दर कृषि में आधिक्य (surplus) तथा भुगतान शेष की स्थित। अनार्थिक कारण में महत्वपूर्ण है - राजनीतिक स्वतन्त्रता (या, दूसरे शब्दों में, औपनिवेशिक शोषण से मुक्ति), न्यायपूर्ण सामाजिक संगठन, तकनीकीं ज्ञान की उपलिब्ध भ्रष्टाचार से मुक्ति, सामाजिक व्यवस्था और विकास के प्रति लोगों की तीव्र

इच्छा एवं दृढ संकल्प'। इन सबके अतिरिक्त प्राकृतिक साधनों की उपलिब्ध भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है और प्राय: विकास की सीमाएँ निर्धारित करती है।

नोट

बंगलादेश में भूमि पर जनभार बहुत ज्यादा है जिससे वहाँ गरीबी व्यापक रूप से फैली हुई है। भूमि जनसंख्या अनुपातआर्थिक विकास पर बहुत प्रभाव डालता है। जनाधिक्य की स्थिति में छोटे व बिखरे खेत की समस्या उग्र रूप धारण कर लेती है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि पर्यात मात्रा में प्राकृतिक साधनों के पाये जाने से आर्थिक विकास में सहुलियत होती है, हालांकि पूंजी व टैक्नोलोजी ने इस बचत को थोड़ा ढीला अवश्य कर दिया है।

पूंजीगत निर्माण (Capital formation) **एवं पूंजी संचय** (Capital Accumulation)

उत्पादन के स्तर को बढाने के दृष्टिकोण से पूंजी निर्माण के महत्व को अर्थशास्त्री हमेशा से स्वीकार करते रहे है। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद विकास अर्थशास्त्र के प्रसार के साथ ही, पूंजी निर्माण पर और ज्यादा जोर दिया जाने लगा है। वस्तुत: हेरोड-डोमर मॉडल में पूंजी को आर्थिक संवृद्धि में निर्णायक भूमिका दी गई है। प्राय: जब राष्ट्रीय आय का एक बड़ा अंश बचाकर पुन: निवेश किया जाता है तो आर्थिक विकास की गति तेज होती है। अर्थव्यवस्था समाजवादी हो या पूंजीवादी, आर्थिक विकास की गति तेज रखने के लिए पूंजी निर्माण की दर ऊँची रखी जानी चाहिए। जापान के तेज आर्थिक विकास का एक मुख्य कारण यह था कि उसमें पूंजी निर्माण की दर बहुत अधिक रखी गई। 1970 के दशक के अन्तिम वर्षों में जापान में बचत का स्तर सकल राष्ट्रीय उत्पाद के 37 प्रतिशत तक पहुंचा दिया गया। 2001 में भी जापान में पूंजी निर्माण का स्तर सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 26 प्रतिशत था। कई विकसित देशों जैसे जर्मनी, आस्ट्रीया, नैदरलैंड्स, डेनमार्क तथा नार्वे में आज भी पूंजी निर्माण की दर 22 प्रतिशत या उसे अधिक है। चीन, हांगकांग, दक्षिण कोरिया, सिंगापुर, थाईलैंड तथा मलेशिया जैसे अल्प-विकसित देशों में पूंजी निर्माण की दर 23 प्रतिशत या उससे अधिक है। इन सभी देशों में उच्च संवृद्धि दर प्राप्त करने के पीछे उनकी यह ऊं ची पूंजी निर्माण दर है। इस सबके विपरीत भारत में 1980 के दशक में पूंजी निर्माण की दर 20 प्रतिशत के आसपास रही है और केवल हाल ही में यह 24 प्रतिशत तक पहुंच पाई है।

रेग्नर नर्क्स अल्प-विकसित देशों में पूंजी निर्माण की समस्या पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। उनके अनुसार मांग पक्ष की ओर से समस्या यह है कि अल्प-विकसित देशों में बाजार का आकार छोटा होता है जो निवेश किया को हतोत्साहित करता है और इस प्रकार पूंजी निर्माण में बाधक है। पूर्ति पक्ष की आरे से समस्या यह है कि प्रति व्यक्ति आय का स्तर नीचा होने से और उपभोग में प्रदर्शन प्रभाव (demonstration effect) के होने से बचत का स्तर भी नीचा है। इसलिए अल्प-विकसित देशों में पूंजी निर्माण की दर को बढ़ाना एक काफी गम्भीर समस्या है।

निर्धन देशों में गरीबी का कुचक्र पाया जाता है और पूंजी की कमी इनके आर्थिक विकास में बाधा पहुँचाती है। पूंजी में हम फै क्री, मशीन, औजार व वस्तुओं का स्टॉक आदि शामिल करते है। जो व्यक्ति अपनी दक्षता बढ़ाने में पूंजी लगाता है उसे सूक्ष्म या मानवीय पूंजी (intangible or human capital) कह सकते है। यह भी उतनी ही महत्वपूर्ण होती है जितनी किस्थूल पूंजी (tangible capital) होती है। एक अवधि में पूंजी के स्टॉक में जो वृद्धि होती है उसे पूंजी-संचय या विनियोग कह कर पुकारते है।

पूंजी का आर्थिक विकास पर प्रभाव इसी बात से पहचाना जा सकता है कि इससे उत्पादन बढ़ता है।भारतीय कृषक की पूंजी-हल, बैल आदि की तुलना अमेरिकी कृषक की पूंजी- ट्रैक्टर, अन्य कृषिगत औजार, कीटनाशक दवाइयां आदि से कर तो दोनों की उत्पादकता का अन्तर आसानी से स्पष्ट हो जायेगा। हमारे ही देश में यह परम्परागत खेती व आधुनिक खेती का अन्तर देखने को मिल सकता है। उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में

श्रमिक को पूंजी से सुसज्जित करना ही आधुनिक उत्पादन प्रणाली का प्रमुख लक्षण माना गया है। प्रति व्यक्ति पूंजीगत साज सामान की उपलब्धि का अन्तर सम्पन्न व निर्धन देशों के बीच का प्रमुख अन्तर माना गया है।

निर्धन देशों में प्रत्येक आर्थिक किया में प्रति व्यक्ति पूंजी की मात्रा कम पाई जाती है। संभवतः इनकी निर्धनता का यह कारण व परिणाम दोनों माना जा सकता है।

पूंजी-विस्तार किया व पूंजी-गहन किया में अन्तर

आर्थिक विकास व पूंजी का योगदान जानने से पूर्व पूंजी-विस्तार किया (capital widening) एवं पूंजी गहन किया (Capital deepening) के बीच अन्तर को समझना होगा। पूंजी-विस्तार प्रक्रिया का अर्थ यह है कि नये श्रमिकों को उन्हीं मशीनों व औजारों से सुसज्जित कर देना जो पुराने श्रमिक काम में ले रहे थे। ऐसी स्थिति में उत्पादन की प्रक्रिया में कोई अन्तर नहीं आता। अर्थव्यवस्था का स्वरूप पहले से बड़ा अवश्य हो जाता है, लेकिन उत्पादकता में कोई वृद्धि नहीं होती। ऐसी पूंजी-संचय "पूंजी-विस्तार किया" में आता है।

यदि देश में पूंजी का स्टॉक श्रम शक्ति से अधिक तेज रफ्तार से बढ़ता है तो प्रत्येक श्रमिक को अधिक **पूंजीगत साज-सामान** उपलब्ध करना सम्भव हो जाता है। इसे पूंजी गहन किया अथवा पूंजी-गहनता (Capital deepening) कहकर पुकारते है। प्रति श्रमिक पूंजी में वृद्धि होने से प्रति श्रमिक औसत उत्पति में वृद्धि होती है। प्रायः पूंजी-विस्तार किया एवं पूंजी गहन किया एक साथ चलती रहती है। पूंजी के बढ़ने के साथ-साथ नई विधियों (innovation) का भी समावेश हो जाता है जिससे उत्पादन व उत्पादकता में और वृद्धि होती है।

पूंजी-संचय आर्थिक विकास को निम्न विधियों से प्रभावित करता है—

(i) पूंजी के उपयोग से उत्पादन परोक्ष व घुमावदार तरीकों (indirect and roundabout methods)से होने लगता है जिससे प्रति श्रमिक उत्पादन बढ़ जाता है। पूंजी के उपयोग से उत्पादन की विधियां अधिक समय लेने वाली (time consuming) बन जाती है, लेकिन अन्त में उत्पादकता बढ़ जाती है। तकनीकी परिवर्तन के बिना भी पूंजी का उपयोग प्रति व्यक्ति उत्पादन बढ़ाता है।

(ii) बढ़ती हुई जनसंख्या को साधनों से सुसज्जित करने के लिए अधिक औजारों व उपकरण की आवश्यकता होती है। नये श्रमिकों को काम पर लगाने के लिए पूंजी-संचय आवश्यक होता है। चालू फैक्टरियां 2 या 3 पाली में लगाई जा सकती है, लेकिन वे 4 या 5 पाली में नहीं चलाई जा सकती। यदि बढ़ती हुई श्रम-शक्ति के अनुरूप पूंजीगत साज-सामान का विस्तार नहीं किया गया तो उत्पादन की घटिया विधियां अपनानी होंगी और बहुत से व्यक्तियों को रोजगार नहीं दिया जा सकेगा।

(iii) पूंजी का उपयोग उत्पादन के पैमाने (scale of production) को बढ़ाने एवं तकनीकी प्रगति के लिए भी आवश्यक माना गया है। बडे पैमाने का उत्पादन व विशिष्टीकरण पूंजी के बढ़ते हुए उपयोग पर निर्भर करते है। तकनीकी प्रगति का आधार भी पूंजी ही है। दुग्ध व्यवसाय में दुग्ध निकालने की मशीन का आविष्कार होना ही काफी नहीं है, बल्कि इसका व्यावसायिक उपयोग होना ज्यादा आवश्यक है। इसके लिए पूंजी का होना आवश्यक है। **कैरनक्रोस** के अनुसार, तकनीकी प्रगति के लिए अतिरिक्त पूंजी की आवश्यकता हो सकती है। इस नई खोज की वित्तीय व्यवस्था कर सकती है, अथवा ज्यादा सामान्य रूप में, प्रचलित ज्ञान की इस प्रकार से अपनाने में मदद दे सकती है कि वस्तु, प्रक्रिया या माल (product, process or material) में कोई नवीनता लाकर उसके व्यावसायिक उपयोग का मार्ग खुल सके।

इस प्रकार पूंजी उत्पादन बढ़ाने के लिए कई दृष्टियों से महत्व रखती है। विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं में पूजी-संचय की विधि भिन्न हो सकती है जैसे रूस में वहाँ की सरकार पूंजी- संचय की दर के

नोट

बारे मे निर्णय करती है जबकि पूंजीवादी समाज में अधिकांश निर्णय निजी व्यक्तियों के द्वारा किये जाते है। पूंजी-संचय की विधि व पूंजी का स्वामित्व चाहे जैसा हो, फिर भी सभी अर्थव्यवस्थाओं के विकास में पूंजी की अपनी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। पूंजी निर्माण की प्रक्रिया में एक बात यह ध्यान देने की होती है कि इसमें वर्तमान उपयोग का त्याग करके भावी उपयोग को बढ़ाने का प्रयास किया जाता है। आज के सुख का त्याग करके भावी आर्थिक विकास की नींव डाली जाती है। लेकिन जिस समाज में बेकार साधन पाये जाते है उसमें इनका उपयोग करने से उपभोग व विनियोग दोनों में वृद्धि हो सकती है। पूंजीगत साधन जैसे मशीन, आदि बढ़ाने के लिए सर्वप्रथम हमें वित्तीय साधन बढ़ाने होंगे। पर्यात मात्रा में वित्त (finance) प्राप्त होने पर पूंजीगत साधनों का विस्तार सुगमतापूर्वक होता रहता है।

वित्त की स्त्रोत के सम्बन्ध में कर, ऋण, घाटे की वित व्यवस्था एवं विदेशी पूंजी की चर्चा की जाती है। कर प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों प्रकार के हो सकते है। निर्धन देशों में सर्वसाधारण से कर के रूप में धन-राशि जुटाने के लिए आम जनता के उपभोग की वस्तुओं पर भी उत्पादन कर व बिक्री-कर लगाये जाते है। सरकार नई मुद्रा छाप कर भी व्यय करती है। इससे देश में मुद्रास्फीति उत्पन्न हो जाती है और कभी-कभी वह अनियन्त्रित रूप में बढ़ने लगती है।

नीची आय व कम बचत की परिस्थिति के कारण निर्धन देशों के लिए विदेशी पूंजी का महत्व बढ़ जाता है। विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं निर्धन राष्ट्रों को आर्थिक विकास के लिए ऋण देती है। एक देश की सरकार दूसरे देश की सरकार को कर्ज देती है। विदेशी पूंजी के साथ विदेशी तकनीकी ज्ञान व प्रबन्धकीय दक्षता भी मिलती है।

जनसंख्या की वृद्धि

आर्थिक विकास को प्रभावित करने वाला एक और महत्वपूर्ण तत्व जनसंख्या व श्रम की पूर्ति माना जा सकता है। श्रम आर्थिक किया का साधन एवं साध्य दोनों होता है। उत्पादन मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही किया जाता है। दूसरे शब्दों में, श्रमिक उत्पादक व उपभोक्ता दोनों होते है। इस प्रकार आर्थिक विकास पर जनसंख्या का विशेष प्रभाव पड़ता है।

जनसंख्या व आर्थिक विकास का सम्बन्ध बड़ा पेचीदा व रूचिप्रद माना गया है। यह एक-दूसरे को प्रभावित करते है। हम पहले जनसंख्या का प्रभाव आर्थिक विकास पर देखेंगे और बाद में आर्थिक विकास का प्रभाव जनसंख्या पर देखेंगे।

जनसंख्या का आर्थिक विकास पर प्रभाव

(i) **बहुधा प्रति व्यक्ति उत्पति में कमी**—जनसंख्या के बढ़ने से कुल उत्पति में तो बढ़ने की प्रवृति पायी जाती है। लेकिन प्रति व्यक्ति बढ़ेगी, उतनी ही रहेगी अथवा घटेगी यह जनसंख्या की वृद्धि के स्वरूप पर निर्भर करेगा। कल्पना कीजिये कि देश में सन्तानोत्पति की दर ऊँची है। ऐसी स्थिति में जनसंख्या में बच्चों की संख्या अधिक होगी जिससे उपभोक्ता की संख्या उत्पादकों से ज्यादा तेजी से बढ़ेगी। परिणामस्वरूप समाज में सक्रिय श्रमिकों पर आश्रित का भार बढ़ेगा और प्रतिव्यक्ति उत्पति घट जायेगी। बाल्डविन के अनुसार अल्पविकसित देशों में 40 प्रतिशत जनसंख्या 15 वर्ष से कम आयु की पायी जाती है। जबकि विकसित देशों में यह अनुपात बहुधा 30 प्रतिशत के आस-पास होता है। 65 से ऊपर की आयु वाल के लिए अनुपात उल्टा हो जाता है। कम विकसित देशों में

यह अनुपात 5 प्रतिशत या कम होता है और विकसित देशों में यह 8 प्रतिशत से 10 प्रतिशत पाया जाता है। 15 से 64 वर्ष की आयु में यह अनुपात अल्पविकसित देशों में लगभग 55 प्रतिशत और विकसित देशों में लगभग 63 प्रतिशत पाया जाता है। अतः दोनों प्रकार के देशों में उत्पादकता का स्तर समान होने पर भी अल्पविकसित देशों में प्रति व्यक्ति उत्पत्ति या आय कम होगी। लेकिन यदि जीने की प्रत्याशा बढ़ जाती है तो श्रमिक ज्यादा वर्ष तक उत्पादन करगे जिससे आश्रितता का भार उस सीमा तक कम हो जायेगा।

(ii) **भूमि व पूंजी पर अधिक दबाव**—जनसंख्या काआर्थिक विकास पर प्रभाव इस बात पर भी निर्भर करता है कि जनसंख्या की वृद्धि किस वातावरण में हो रही है। यदि भौगोलिक क्षेत्रफल सीमित है तो जनसंख्या की वृद्धि से प्राकृतिक साधनों पर दबाव बढ़ेगा। यदि समाज के पास सीमित पूंजीगत साधन है तो पूंजी के स्थान पर श्रम का प्रतिस्थापन किया जायेगा।

(iii) **वस्तुओं की मांग में वृद्धि एवं फलस्वरूप रोजगार आदि में वृद्धि**—जनसंख्या की वृद्धि से वस्तुओं के लिए बाजार बढ़ता है। इससे व्यवसाय एवं रोजगार को प्रोत्साहन मिलता है। बड़े पैमाने पर उत्पादन होने लगता है और पैमाने की बचत या मितव्ययिताएँ प्राप्त होने लगती है। इससे प्रति इकाई लागत कम हो जाती है जिससे कीमत भी कम की जा सकती है, और लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा हो सकता है।

उपर्युक्त विवेचन का सार यह है कि जनसंख्या की वृद्धि आर्थिक विकास के लिए अनुकूल अथवा प्रतिकूल दोनों ही सिद्ध हो सकती है। वास्तविक प्रभाव इस बात पर निर्भर करेगा कि वृद्धि कहाँ, कब और कै सी हो रही है? अठारहवीं व उन्नीसवीं शताब्दियों में जब विश्व के विभिन्न भागों में खाली प्रदेश विद्यमान थे उस समय जनसंख्या वृद्धि नेआर्थिक विकारा को प्रोत्साहन दिया, लेकिन आज भारत व चीन जैसे मुल्कों में जनसंख्या की वृद्धिआर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव डाल रही है।

अतः जनसंख्या की वृद्धि से एक तरफ प्राकृतिक साधनों व पूंजी पर दबाव बढ़ते है तो दूसरी तरफ बाजारों का विस्तार होता है, व्यापार-व्यवसाय बढ़ते है और आर्थिक किया का विस्तार होता है। इस प्रकार आर्थिक विकास की दृष्टि से प्रतिकूल व अनुकूल प्रभाव साथ-साथ चलते रहते है। अन्तिम प्रभाव क्या होगा यह उस देश की विशेष परिस्थितियों पर निर्भर करेगा।

आर्थिक विकास का जनसंख्या पर प्रभाव

मृत्यु दर में तीव्र गिरावट व जनसंख्या का विस्फोट (Rapid fall in the death rate population explosion)—आर्थिक विकास से जीवन-स्तर में सुधार आता है। भोजन, वस्त्र, मकान आदि की सुविधाएँ बढ़ती है, साथ में सार्वजनिक स्वाथ्य व दवा आदि की उपलब्धि भी बढ़ती है जिससे लोगों की आयु बढ़ती है और मृत्यु-दर घटती है। आगे चलकर औद्योगीकरण व नगरीकरण के फलस्वरूप जन्म दर भी घटने लगती है। लेकिनआर्थिक विकास का मृत्यु-दर पर प्रभाव बड़ा तेजी से एवं शीघ्र ही आ जाता है। अतःआर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में जनसंख्या की तीव्र गति से वृद्धि होती है। व्यावहारिक अनुभव बतलाता है कि अल्पविकसित देशों में 'जनसंख्या के विस्फोट' (population explosion) की स्थिति बहुत शीघ्र आ जाती है। प्रायः यह देखा जाता है कि इनमें आर्थिक प्रगति के होने से पूर्व ही मृत्यु-दर घटने लगती है। सच पूछा जाय तो ये देश विकास की प्रक्रिया के बिना ही विकास के लाभप्रद परिणाम प्राप्त करने लगते है। रिचार्ड टी. गिल का मत है किये देश 'औद्योगिक क्रान्ति' से पूर्व ही और, इससे स्वतंत्र रूप में, 'सार्वजनिक स्वाथ्य में क्रान्ति' का अनुभव प्राप्त करने लग जाते है। इन देशों में मृत्यु-दर के और गिरने की सम्भावनाएं है। लेकिन

इनमें जन्म-दर (birth- date) ऊँची बनी हुई है, परिणामस्वरूप आर्थिक विकास के प्रारम्भिक वर्षों में देश में बच्चों की बाढ़ आ जाती है जिसके परिणाम अच्छे नहीं निकलते।

नोट

उपर्युक्त विवेचन से एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि जनसंख्या की वृद्धि के लिए आर्थिक प्रगति कोई आवश्यक शर्त नहीं है। आधुनिक विज्ञान के वरदान स्वरूप भीषण निर्धनता के बीच में जनसंख्या की वृद्धि हो सकती है। इस प्रकार जनसंख्या की वृद्धि एवं आर्थिक विकास का परस्पर गहरा सम्बन्ध पाया जाता है (अल्प-विकसित देशों में जनसंख्या का आर्थिक घनत्व प्रति व्यक्ति आय को घटाता है। इसलिए जीवन-स्तर में सुधार करने की दृष्टि से जन्म-दर कम करने के लिए बड़े पैमाने पर देशव्यापी परिवार-नियोजन कार्यक्रम अपनाये जाते है।

इस प्रकार आर्थिक विकास में जनसंख्या एक महत्वपूर्ण कारक है। मानव से ही उत्पादन कार्य के लिए श्रम की उपलब्ध होती है। यदि किसी देश में श्रम शक्ति कुशल होने के साथ-साथ कार्यक्षम भी है तो उसकी सत्यापन सामर्थ निश्चय ही अधिक होगी। दुर्बल, अशिक्षित, अकुशल और रूढ़ियों में फँसे हुए व्यक्तियों की उत्पादकता कम होती है और आर्थिक विकास में उनका योगदान भी अधिक नहीं होगा। परन्तु इस संदर्भ में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि यदि मानव शक्ति का युक्तिपूर्ण उपयोग नहीं किया जाता, सभी व्यक्तियों को उत्पादक काय में नहीं लगाया जाता या फिर मानव संसाधनों का प्रबंधन अकुशल और अनुपयुक्त तरीके से किया जाता है तो वहीं लोग जो आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते थे, अर्थव्यवस्था पर बोझ बन जाते है। यही कारण है कि अर्थशास्त्री जनाधिक्य (over population) कोआर्थिक विकास में बाधा मानते है।

उत्पादन का पैमाना, विशिष्टीकरण व श्रम विभाजन

आर्थिक विकास, उत्पादन की तकनीक व संगठन के परिवर्तनों से भी प्रभावित होता है। विभिन्न देशों काआर्थिक विकास उनके साधनों की वृद्धि के आधार पर ही नहीं समझाया जा सकता। अत: इस बात का भी आर्थिक विकास पर गहरा प्रभाव पड़ता है कि हम उत्पादन के साधनों का उपयोग किस प्रकार से करते है।

उत्पादन के साधनों का उपयोग करने के सम्बन्ध में उत्पादन के पैमाने व विशिष्टीकरण के प्रश्न उठते है। पैमाने में फर्म के आकार की बात आती है जबकि विशिष्टीकरण में एक उत्पादन-किया को कई भागों में बाटने का प्रश्न आता है। वैसे पैमाने के बड़ा होने से .

विशिष्टीकरण भी बढ़ जाता है। लेकिन कई बार यह स्थिति भी देखने में आती है कि छोटी फर्म ऊँची किस्म का विशिष्टीकरण प्राप्त कर लेती है और एक वस्तु का छोटा-सा अंश ही बनाती है। पुराने समय में उत्पादन का पैमाना छोटा होता था और विशिष्टीकरण का अभाव पाया जाता था। श्रम नियोजन भी सीमित होता था। आधुनिक औद्योगिक समाज में उत्पादन बड़े पैमाने पर होने लग गया है। अमेरिका में कुछ निगम ऐसे है जिनमें प्रत्येक की परिसम्पति एक अरब डालर से भी अधिक है। उनमें विशिष्टीकरण अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया है। विशिष्टीकरण में उत्पादकता (productivity) बढ़ती है। श्रम विभाजन के कारण प्रत्येक श्रमिक अपने कार्य में ज्यादा दक्ष हो जाता है, श्रमिक को एक काम से दूसरे काम पर जाने में समय नष्ट नहीं करना पड़ता और वह काम करने के नये तरीक ढूँढ लेता है।

इस प्रकार व्यक्तिगत दक्षता का उपयोग करके एवं उत्पादन में यन्त्रों को लगाकर उद्योग के संगठन में आवश्यक परिवर्तन करकेआर्थिक विकास को प्रोत्साहन दिया जा सकता है। एडमस्मिथ ने इस बात पर बल दिया था कि श्रम-विभाजन पर बाजार के विस्तार का गहरा प्रभाव पड़ता है। घने बसे प्रदेशों में भी यदि धनी व्यक्ति थोडे हों तो विलासिता की वस्तुओं का उत्पादन बड़े पैमाने पर सम्भव नहीं होगा।

इस तरह विनियोग के विकास, परिवहन की प्रगति, जनसंख्या की वृद्धि एवं प्रति व्यक्ति उत्पति के स्तर से यह निश्चित होगा किसमाज 'श्रम की उत्पादन शक्तियों में सुधार का लाभ उठा सकेगा अथवा नहीं। अत:

नोट

उत्पादन के पैमान व विशिष्टीकरण का भी आर्थिक विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। लेकिन जनाधिक्य वाले देशों में उत्पादन के छोटे पैमाने का ज्यादा प्रचार होता है और विशिष्टीकरण का अभाव पाया जाता है। भारत में ज्यादातर खेती पारिवारिक आधार पर छोटे पैमाने पर होती है। रूस व अमेरिका में बड़े पैमान पर यन्त्रीकृत कृषि प्रचलित है। अत: आर्थिक विकास पर उत्पादन के पैमाने व विशिष्टीकरण का भी प्रभाव पड़ता है। निर्धन देशों में उत्पादन का पैमाना छोटा होता है और विशिष्टीकरण का अभाव पाया जाता है, जबकि विकसित देशों में उत्पादन का पैमाना बड़ा होता है और विशिष्टीकरण का काफी बोलबाला होता है।

कृषि का विक्रय अधिशेष

देश के आर्थिक विकास के लिए नि:सन्देह कृषि उत्पादन तथा उत्पादकता में वृद्धि महत्वपूर्ण है, परन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है कृषि के विक्रय अधिशेष में वृद्धि। विक्रय अधिशेष (या बिक्री योग्य अधिशेष) कृषि उत्पादन का वह हिस्सा है जो ग्रामीण जनसंख्या की आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद बच जाता है। इस विक्रय अधिशेष पर ही शहरी क्षेत्रों के लोगों का गुजर बसर होता है। जैसे-जैसे कोई अर्थव्यवस्था विकास पथ पर आगे बढ़ती है, शहरी जनसंख्या का अनुपात बढ़ता जाता है जिससे खाद्यान्नों की कमी बढ़ती जाती है। इस मांग को पूरा करना आवश्यक है अन्यथा शहरी क्षेत्रों में खाद्यान्नों की कमी होने से विकास की प्रक्रिया में बाधा आ जाएगी जिससे भुगतान शेष की स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। 1976-77 तक भारत भी इसी दौर से गुजर रहा था। शहरी जनसंख्या की आवश्यकताओं की तुलना में खाद्यान्नों का बिक्री योग्य अधिशेष कम था इसलिए सरकार को उनका भारी मात्रा में आयात करना पड़ा। इससे खाद्यान्नों की समस्या का तो समाधान हो गया परन्तु विदेशी मुद्रा के रूप में बहुत अधिक खर्च करना पड़ा। इस मुद्रा का प्रयोग ऐसे अन्य उद्देश्यों के लिए किया जा सकता था जिनसे आर्थिक विकास की दर को और ज्यादा बढ़ाना सम्भव हो सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि यदि कोई औद्योगीकरण की गति को तेज करना चाहता है तो उसे इस बात का भी ध्यान रखना पड़ेगा कि कृषि क्षेत्र पिछड़ न जाए। खाद्य पदार्थों की आपूर्ति को लगातार बढ़ाना आवश्यक है क्योंकि औद्योगीकरण की प्रक्रिया के दौरान ग्रामीण लोगों की एक बहुत बड़ी संख्या शहरी क्षेत्रों में जाकर बसने लगती है (क्योंकि इन शहरी क्षेत्रों में रोजगार के अवसरों में औद्योगीकरण के कारण वृद्धि होती है)।

विदेशी व्यापार की शर्त

बहुत लम्बे समय तक कई अर्थशास्त्रियों ने व्यापार के क्लासिकल सिद्धान्त का सहारा लेकर यह तर्क दिये है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उन सब देशों के लिए लाभदायक है जो व्यापार में हिस्सा लेते है। इस सन्दर्भ में यह कहा जाता रहा है कि अल्पविकसित देशों को कृषि पदार्थों तथा कच्चे माल का उत्पादन व निर्यात करना चाहिए क्योंकि इसी में उनका तुलनात्मक लागत लाभ (comparative cost advantage) है। इसके विपरीत विकसित देशों को निर्मित वस्तुओं का उत्पादन व निर्यात करना चाहिए क्योंकि इनका तुलनात्मक लागत लाभ इसी में है। परन्तु, जैसाकि लिस्ट (List) और कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों ने तर्क दिया है, विशिष्टीकरण का यह स्वरूप अल्प-विकसित देशों के लिए हानिप्रद सिद्ध हुआ है। इसका कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में व्यापारिक शत निर्मित माल का निर्यात करने वाले देशों के अनुकूल और कृषि पदार्थों और कच्चे माल का निर्यात करने वाले देशों के प्रतिकूल रही है। इस प्रकार विदेशी व्यापार के इस ढांचे से विकसित देशों को तो लाभ हुआ है जबकि अल्प-विकसित देशों को हानि हुई है। इसी आधार पर राउल प्रैबिश (Prebisch) तथा कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों ने पिछले कुछ दशकों में इस बात पर जोर दिया है कि मुक्त व्यापार (free trade) विकसित व अल्प-विकसित देशों के लिए समान रूप में लाभदायक नहीं है। विदेशी व्यापार से उन देशों को ही अधिक लाभ हुआ है जिन्होंने तेजी के साथ औद्योगीकरण कर निर्मित माल को ही विदेशी बाजारों में बेचा है। इसलिए अल्प-विकसित देशों के सामने भी यह लक्ष्य होना चाहिए कितेजी से औद्योगीकरण करे, औद्योगिक

नोट

वस्तुओं और पूंजीगत वस्तुओं के क्षेत्र में आत्मनिर्भर बन तथा अपने निर्यात में कृषि पदार्थों और कच्चे माल का हिस्सा घटाकर औद्योगिक वस्तुओं का निर्यात बढ़ाए। इस प्रकारआर्थिक विकास पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा अन्य परिस्थितियों का भी काफी प्रभाव पड़ता है। यदि विकसित देश विकासशील देशों का माल अधिक मात्रा में खरीदते है और आयात पर प्रतिबन्ध ढीले रखते है तथा उन्हें अधिक उदार शत पर पूंजी प्रदान करतें है तो विकास की गति तेज जो सकती है। पिछले कुछ वर्षों में क्रूड तेल व पैट्रोल के पदार्थों के भाव बढ़ जाने से विकासशील देशों को काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है हालांकि भाव बढाने वाले भी कुछ विकासशील मुल्क ही हैं जैसे ईरान, ईराक, सऊदी अरब आदि। यदि विकसित देश अविकसित देशों के प्रति सहायता व सहानुभूति का रूख रखें तो उनकाआर्थिक विकास अपेक्षाकृत अधिक शीघ्रता से हो सकेगा। इसके विपरित यदि सम्पन्न देश निर्धन देशों को राजनीतिक दांवपेच का शिकार बना डालते हैं तोआर्थिक विकास पर विपरीत प्रभाव पडेगा विश्व की परिस्थितियाँ भी आर्थिक विकास को प्रभावित करती है।

आर्थिक प्रणाली

आर्थिक विकास की दृष्टि से अर्थप्रणाली बहुत महत्वपूर्ण है। एक समय ऐसा था जब सरकारी हस्तक्षेप रहित पूँजीवादी अर्थप्रणाली को अपना कर तेजी से आर्थिक विकास करना संभव था जैसा कि इंग्लैण्ड ने किया परन्तु आज की बदली हुई परिस्थितियों में इंग्लैण्ड की भांति विकास कर पाना असम्भव है क्योंकि अल्प-विकसित देशों के पास औपनिवेशिक शोषण की वैसी संभावनाएं नहीं है जैसी कि इंग्लैण्ड के पास थी। जापान और जर्मनी ने भी पूंजीवादीआर्थिक प्रणाली को अपनाया परन्तु वहाँ विकास-पथ इंग्लैण्ड से नितान्त भिन्न था। आज के अल्प- विकसित देशों को अपना विकास-पथ स्वयं चुनना होगा। इन देशों के सामने अब दो रास्ते है। प्रथम पूँजीवादी प्रणाली में आर्थिक आयोजन जैसा कि भारत में किया गया है। इसमें विकास की दर धीमी रहती है। लेकिन दक्षिण कोरिया तथा कुछ दूसरे देशों ने पूंजीवादी ढांचे में ही सरकारी सहयोग से तेजी के साथ विकास किया है। दूसरा रास्ता समाजवादीआर्थिक आयोजन का है। चीन में इस रास्ते को अपनाया है और इसके द्वारा तेजआर्थिक विकास प्राप्त करने में सफलता पाई है।

1.12 आर्थिक विकास के अनार्थिक कारण

ऐसा ऐतिहासिक प्रमाण से सिद्ध होता है कि आर्थिक विकास की प्रक्रिया में अनार्थिक तत्वआर्थिक तत्वों से कम महत्वपूर्ण नहीं है। यहाँ पर हम संक्षेप में आर्थिक विकास के निर्धारक अनार्थिक तत्वों का विश्लेषण करगे/ राजनैतिक स्वतन्त्रता, सरकारी नीति एवं प्रशासनिक कुशलता (Political Freedom Government Policy & Administrative Efficiency) विश्व इतिहास पर दृष्टिगत करने से स्पष्ट है किसंसार में विकास और अल्प-विकास की प्रक्रियाएं एक साथ चली है। भारत, पाकिस्तान, बंगलादेश, श्रीलंका, मलेशिया, कीनिया आदि देशों का अल्प-विकास इंग्लैण्ड के विकास का परिणाम है। इंग्लैण्ड ने इन उपनिवेशों का जिस प्रकार शोषण किया उससे इंग्लैण्ड में तो भारी विकास हुआ परन्तु ये सभी देशआर्थिक दृष्टि से पिछड _ गए। इसी प्रकार फ्रांस का विकास अल्जीरिया तथा हिंदचीन के अल्प-विकास, नैदरलैंड्स का विकास इंडोनेशिया के अल्प-विकास और लैटिन अमेरिकी देशों का अल्पविकास संयुक्त राज्य अमेरिका के विकास से जुड़ा हुआ है। वास्तव में इसे एक-दूसरे से अलग करके समझ सकना कठिन है। आंद्रे गुंडर फ्र क Andre Gunder Frank) ने विस्तार के साथ स्पष्ट किया है कि ब्राजील और चिली का अल्प-विकास अमेरिकी प्रभाव का परिणाम ही है। दादाभाई नौरोजी ने अपनी विख्यात पुस्तक Poverty and Un –British Rule in India' में स्पष्ट किया है कि भारत में अंग्रेजी शासन काल में जो संपति और पूँजी का निर्यात हुआ, उससे देश में निर्धनता बढी और आर्थिक विकास में बाधा पड़ी। विपन चन्द्र के अनुसार ब्रिटिश शासनकाल में भारत में औद्योगिक विकास मुख्य रूप से

उन वर्षों में अधिक हो सका है जब विश्वयुद्ध के कारण भारत और इंग्लैण्ड के बीच संबंध में शिथलता थी। संक्षेप में ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता है कि औपनिवेशिक शासन के अन्तर्गत किसी देश काआर्थिक विकास हुआ है। अत:आर्थिक विकास के लिए राजनैतिक स्वतंत्रता का विशेष महत्व है।

इस तरह विभिन्न देशों केआर्थिक विकास का अध्ययन करने से पता चलता है कि उसमें वहाँ की राजनीतिक परिस्थितियां तथा सरकारी नीतियों का भी न्यूनाधिक मात्रा में योगदान रहा है। ऐसा प्रत्येक किस्म की अर्थव्यवस्था में हुआ है, चाहे वह पूंजीवादी हो अथवा समाजवादी। अब सरकार की तरफ से पूर्ण अहस्तक्षेप की नीति का समर्थन स्वयं तथाकथित पूंजीवादी राष्ट्र भी नहीं करते है। साम्यवादी अर्थव्यवस्थाओं में तो राज्य का उत्पादन के प्रमुख साधनों पर पूर्ण स्वामित्व होता है और वहाँ उनका उपयोग सार्वजनिक हित को ध्यान में रखकर नियोजित तरीके से किया जाता है। पूंजीवादी अथवा मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं में भी सरकार अर्थव्यवस्थाओं में कई निर्णयों को प्रभावित करती है और निजी क्षेत्र की कियाओं का नियमन करती है। सरकार की सही, सुदृढ़ व सुलझी हुई नीतियों से हीआर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त होता है। यदि किसी देश की सरकार प्रगतिशील नीतियां नहीं अपना पाती है, अथवा वहाँ प्रशासन का स्तर नीचा होता है तो वह 'कल्याणकारी राज्य' की स्थापना करने में असमर्थ होती है। विकासशील देशों में आर्थिक विकास की प्रमुख जिम्मेदारी सरकार के कंधे पर ही होती है। इसलिए आजकल सरकार की देख-रेख में नियोजित विकास के कार्यक्रम अपनाये जाते है और उन्हें सरकारी प्रशासन के माध्यम से कार्यान्वित किया जाता है। सरकार या तो निदशन (direction) दे सकती है अथवा प्रत्यक्ष रूप में नियन्त्रण (direct control) कर सकती है। व्यवहार में दोनों विधियों का सिम्मश्रण भी पाया जाता है इसमें कोई संदेह नहीं है कि रूस, चीन, क्यूबा, युगोस्लाविया, पोलैंड्ड, जापान आदि देशों काआर्थिक विकास वहाँ की सरकार के योगदान के फलस्वरूप ही हो पाता है।

भारत में भी जनता सरकार विभिन्न उपाय अपनाकरआर्थिक विकास करने में प्रयत्नशील है। कार्यकुशल व ईमानदार प्रशासनआर्थिक विकास को प्रोत्साहन देता है एवं अकार्यकुशलता व भ्रष्ट प्रशासन विकास को हतोत्साहित करता है। व्यवस्थापिका द्वारा पारित विभिन्न अधिनियम व नीतियों को लागू करना प्रशासन का ही काम होता है।

गुन्नार मिर्डल ने अल्पविकसित देशों की समस्याओं का विवेचन करते हुए यह स्वीकार किया है कि इनमें उदार या 'नरम राज्य' (soft state) की समस्या पाई जाती है। स्वीकृत कानूनों को व्यापार में लाग नहीं किया जाता और नियन्त्रण को तोड़ने के संबंध में भ्रष्टाचार का काफी बोलवाला होता है। इस प्रकार स्वीकृत नीतियां सरकारी फाइल में दबी रहती है। प्रशासनिक ढलाई, विलम्ब व अकार्यकुशलता के वातावरण में सुदृढ़आर्थिक नीतियों का मखौल उड़ाया जाता है। लोकतान्त्रिक सरकार प्राय: कठोरआर्थिक प्रशासन का मार्ग अपनाने में असमर्थ रहती है जिसमे सरकार को उत्पादन बढ़ाने व उसे उचित ढंग से वितरण करने में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। देश में अनुशासनहीनता का भी उत्पादन पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। अत:आर्थिक विकास पर सरकार की नीतियों व प्रशासन की कार्यकुशलता का काफी प्रभाव पड़ता है। साम्यवादी देशों में उचितआर्थिक नीतियों को प्रभावकारी ढंग से लागू करके अनुकूल आर्थिक प्रभाव उत्पन्न कि ए जाते है। इससे उत्पादन व वितरण दोनों पक्षों पर सफलता मिलती है।

न्यायपूर्ण सामाजिक संगठन

निर्धन देशों केआर्थिक विकास पर वहाँ की सामाजिक संस्थाओं, प्रथाओं, लोगों की आदत व दृष्टिकोण आदि का भी प्रभाव पड़ता है। समाज में भौतिक दृष्टिकोण (material out look) के पाये जाने से आर्थिक विकास को प्रोत्साहन मिलता है क्योंकिलोग मेहनत करके अपनी जीवन-स्तर को सुधारने में विश्वास रखते है और इसके लिए प्रयत्नशील रहते है। इसलिए कुछ लोगों का विचार है कि आर्थिक विकास प्रमुखतया इस बात पर निर्भर

नोट

करता है कि ' 'क्या देशवासीआर्थिक विकास करना चाहते है? ' यह बात सुनने में जरा अटपटी सी लगती है, लेकिन यह सच है कि इस सम्बन्धी में विभिन्न देशवासियों की इच्छा की तीव्रता में अन्तर हो सकता है। कुछ देशवासी धार्मिक व आध्यात्मिक दृष्टिकोण के कारणआर्थिक विकास पर कम ध्यान देते है। भारत में यह तय कुछ सीमा तक देश केआर्थिक विकास को प्रभावित करता है।

जाति-प्रथा श्रम की गतिशीलता में बाधक होने के कारण विकास में बाधक, होती है। संयुक्त परिवार प्रणाली में परिश्रम व प्रतिफल का सीधा सम्बन्ध नहीं होता जिससे ' 'एक व्यक्ति कमाता है और अनके व्यक्ति खाते है ' ' की प्रथा के कारण व्यक्ति की काम करने की प्रेरणा कम हो जाती है। अत: व्यक्तिवादी समाज-प्रणाली विकास को प्रोत्साहन देती है।

सामाजिक वातावरण में स्त्रियों का समाज में स्थान विशेष महत्व रखता है। उनमें शिक्षा के प्रचार से श्रम-शक्ति (Labour force) में शामिल होने की प्रवृति पायी जाती है। जिससे वे भी उत्पादन को बढ़ाने में भाग लेने लगती है।

भारत के पिछड़े सामाजिक वातावरण को देखते हुए कुछ लोग यह कहने लगे है कि वहाँ "आर्थिक क्रान्ति ' 'से पूर्व सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता है जो विकास को प्रोत्साहन देने ली प्रवृतियों जैसे जातिविहीन समाज (Casteless society), विभिन्न सम्प्रदायों में समान हित की भावना, आदि को बढ़ावा दे सके और पुरानी रूढ़ियों अन्धविश्वास, सम्प्रदायवाद, भाग्यवादिता, अकर्मण्यता व अन्यप्रगति-विरोधी दृष्टिकोण को हतोत्साहित कर सके।

इस प्रकार विकास की प्रक्रिया उसी समय तेज हो सकती है जब देश के विकास कार्यक्रम में सभी व्यक्तियों की भागीदारी हो और यह उसी समय संभव होगा जबकिसामाजिक संगठन न्यायपूर्ण हो। जिस समाज का गठन इस प्रकार का है कि राष्ट्रीय आय में होने वाली सम्पूर्ण वृद्धि देश के सबसे अधिक सम्पन्न वर्गों के पास पहुंच जाती है वही जनसाधारण से आर्थिक विकास में योगदान की आशा करना व्यर्थ है। भारत में उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों से औद्योगिक क्षेत्र में एकाधिकारी तत्वों के हाथ में आय और संपति का केन्द्रीकरण वढा है तथा ग्रामीण क्षेत्रों में हरित क्रान्ति के परिणामस्वरूप धनी किसानों की आय अपेक्षाकृत तेजी से बढ़ी है। इन दोनों प्रवृतियों के परिणामस्वरूपआर्थिक असमानताएँ बढ़ी है जिससे भारत में सामाजिक ढांचा न्यायपूर्ण नहीं है। यही करण है कि आज साधारण भारतीय को विकास योजनाओं में कोई रूचि नहीं है।

तकनीकी ज्ञान एवं सामान्य शिक्षा एवं उद्यमकर्ता

आर्थिक विकास, उत्पादन की तकनीक व संगठन के परिवर्तनों से भी प्रभावित होता है। विभिन्न देशों काआर्थिक विकास उनके साधनों की वृद्धि के आधार पर ही नहीं समझाया जा सकता। अत: इस बात का भीआर्थिक विकास पर गहरा प्रभाव पड़ता है कि हम उत्पादन के साधनों का उपयोग किस प्रकार से करते है।

टेक्नालोजी एवं उद्यमशीलता

आजकल टेक्नालोजी ने हमारे जीवन को झकझोर दिया है। उत्पादन की नई तकनीक व विधियों का उपयोग करके कम लागत पर माल बनने लगा है। नये पदार्थ सामने आ गये है।

नये विचार आविष्कार व तौर-तरीकेआर्थिक विकास में प्राण फू क रहे है। इनके अभाव में आधुनिक ढंग केआर्थिक विकास की कल्पना नहीं की जा सकती थी।

तकनीकी प्रगति मानवीय इतिहास में कोई नई बात नहीं है। आग पर नियन्त्रण, पहिये का आविष्कार, लोहे का उपयोग आदि तकनीकी परिवर्तन को सूचित करते है। लेकिन आधुनिक युग की सबसे अुत बात यह है कि नई टेक्नोलोजी का प्रवाह बड़ी तीव्र गति से हो रहा है और साथ में यह गहन, नियमित व निर्भर करने

नोट

योग्य भी हो गया है। आधुनिक टेक्नोलोजी थोड़ी मात्रा में नहीं बल्कि विशाल मात्रा में बाढ़ की तरह आने लगी है। अनुसंधान की प्रगति के कारण नया तकनीकी ज्ञान तेजी से बढ़ा है। 18 मई, 1974 को भारत में किये गये परमाणु विस्फोट ने आर्थिक विकास के लिए परमाणु शक्ति के उपयोग के लिए नए मार्ग खोल दिये है। भूमि के

नीचे परमाणु शक्ति का उपयोग करने से खनिज सम्पदा, विशेषकर खनिज तेल के पता लगाने की सम्भावनाएं व सुविधाएँ बढ़ गयी है 20 जुलाई, 1976 को अमेरिकी अन्तरिक्ष यान -वाइकि ग 1 का मंगल ग्रह पर उतरना विज्ञान व टेक्नॉलोजी के क्षेत्र में एक महान् उपलब्धि है। पृवी से करोड़ो किलोमीटर की यात्रा करके मंगल ग्रह पर पहुंचना एक अुत चमत्कार है -।ऐसी स्थिति में पृवी पर उत्पादन के क्षेत्र में टेक्नालोजी के परिवर्तन तो बहुत सुगम हो जाते है। विकसित देशों में टेक्नालोजी परिवर्तन बड़ी तेज गति से हो रहे है। वे अनुसंधान व विकास (R&D) पर काफी धनराशि व्यय करते है।

तकनीकी परिवर्तन (technical change) को मापने की एक सरल विधि होती है। एक दी हुई अवधि में उत्पति की प्रतिशत वृद्धि को श्रम व पूंजी की प्रतिशत वृद्धि से विभाजित करने पर प्राप्त परिणाम तकनीकी परिवर्तन कहलाता है।

एक सरल दृष्टान्त में मान लीजिए कि श्रम व पूंजी दोनों प्रतिवर्ष 2 प्रतिशत बढ़ रहे है और कुल उत्पति प्रति वर्ष 4 प्रतिशत बढ़ रही है। स्पष्ट है कि उत्पति की मात्रा साधनों की मात्रा,से ज्यादा तेज गति से बढ़ रही है। इस स्थिति में प्रतिवर्ष तकनीकी परिवर्तन लगभग 2 प्रतिशत माना जायेगा। श्रम व पूंजी के भिन्न-भिन्न दरों पर बढ़ने से समस्या जटिल हो सकती है और उसमें इनको अलग-अलग भार (weights) देने की समस्या का सामना करना पडेगा।

तकनीकी प्रगति, शिक्षा व उद्यमकर्ता

तकनीकी प्रगति स्वयं विज्ञान-शुद्ध व्यावहारिक पर आश्रित होती है। अत: इसका शिक्षा से गहरा सम्बन्ध होता है। तकनीकी क्रान्ति के लिए शिक्षित समाज की आवश्यकता होती है। निरक्षर समाज प्रौयोगिक सृजन-शक्ति (technological creativity) में कभी आगे नहीं आ सकता है। अत:आर्थिक विकास में टेक्नालोजी का अधिक उपयोग करने के लिए शिक्षा के प्रसार की आवश्यकता होती है।

नई टेक्नालोजी को लागू करने के लिए उद्यमकर्ताओं(entrepreneurs) की आवश्यकता होती है। उद्यमकर्ता एक नये विचार को व्यवहार में कार्यान्वित करता है। वह नई विधियों का व्यावसायिक दृष्टि से उपयोग करता है। वह उत्पादन की जोखम अपने ऊपर लेता है और कई महत्वपूर्ण प्रश्नों पर निर्णय करता है। यदि उधमकर्ता न हो तो उत्पादन के अन्य साधन अपने आप एकत्र होकर उत्पादन का कार्य चालू नहीं कर दगे। अत: कुशल उद्यमकर्ता का उत्पादन की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण योगदान माना गया है। जहाँ निजी उद्यमकर्ता को काम नहीं करने दिया जाता वहाँ सरकार स्वयं उधमकर्ता का कार्य करती है। अत: प्रोयोगिकीय प्रगति, नई तकनीक, उत्पादन के पैमाने में परिवर्तन, अतिरिक्त पूंजी, प्रशिक्षित व अनुशासित श्रम-शक्ति आदि एक साथ पाये जाते है। उधमकर्ता नई विधियों को अपनाने वाला व्यक्ति अथवा नव-प्रवर्तक (innovator) होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कितकनीकी परिवर्तन काआर्थिक विकास पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इस परिवर्तन का विज्ञान, शिक्षा, उधभकर्ता (जो नवप्रवर्तक का काम करता है) व अतिरिक्त पूंजी से विशेष सम्बन्ध पाया जाता है। भारत में हरित क्रान्ति कृषि के क्षेत्र में एक तकनीकी परिवर्तन है। इस परिवर्तन का श्रेय अधिक उपज देने वाली किस्मों के आविष्कार को है। इन किस्मों की खेती के लिए खाद, पानी, औजार व कीटनाशक दवाइयों की आवश्यकता होती है, अर्थात् अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है। भारत में उद्यमकर्ता किसान इन विधियों को अपनाकर उत्पादन बढ़ाने में संलग्न है। इस प्रकार तकनीकी प्रगति, आविष्कार (invention)

नोट

व नव-प्रवर्तन (innovation) आदि उद्यमकर्ता व साहसी के सहारे आगे बढ़ते है। इनमें कोई संदेह नहीं कि भूमि, श्रम, पूंजी व उत्पादन के संगठन आदि के अलावाआर्थिक विकास पर महत्वपूर्ण प्रभाव टेक्नालोजी व उधमकर्ता का पड़ता तकनीकी प्रगति कोआर्थिक विकास का 'अवशिष्ट' तत्व (Residual) कहते है विकास की प्रक्रिया को ठीक से समझने के लिए अर्थशास्त्रियों ने यह जानने का प्रयास किया है कि विभिन्न तत्वों काआर्थिक विकास में पृथक-पृथक योगदान कितना होता है। इसके लिए तीन तत्वों-श्रम, पूंजी और तकनीकी प्रगति का प्रभाव देखा गया है। तकनीकी प्रगति को अवशिष्ट तत्व में लिया गया है। श्रम व पूंजी काआर्थिक विकास में योगदान मापने के बाद शेष प्रगति के लिए 'तकनीकी प्रगति' को जिम्मेदार ठहराया जाता है। इस प्रकार 'तकनीकी प्रगति' को आर्थिक विकास में एक 'अवशिष्ट' तत्व मानते है।

आधुनिक युग में आर्थिक विकास पर केवल साधनों की वृद्धि का ही प्रभाव नहीं पड़ा है, बल्कि उन साधनों के उपयोग में किये जाने वाले तकनीकी परिवर्तनों का भी प्रभाव पड़ा है। आर्थिक विकास अनेक तत्वों की देन होता है। इस पर श्रम व पूंजी की मात्रा का प्रभाव पड़ता ही है, लेकिन साथ में लोगों की दक्षता, ज्ञान, गुण एवं प्रवृत्तियों का भी प्रभाव पडता है जोआर्थिक विकास की गति व दिशा प्रदान करते हैं।

जैसे -जैसे वैज्ञानिक तथा तकनीकी प्रगति होती है वैसे-वैसे उत्पादकों को अधिक उत्पादकता वाली तकनीकों का ज्ञान होता है जिससे उत्पादन का स्तर तेजी से बढ़ता है। शुम्पीटर ने तो उद्यमियों द्वारा कि ए जाने वाले नव-प्रवर्तनों (innovations) को पूँजीवादी विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया है। राबर्ट एम. सोले ने अपने एक लेख में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अमेरिका में राष्ट्रीय आय में होने वाली वृद्धि में सर्वाधिक योगदान तकनीकी परिवर्तनों का है। टी. डब्ल्यू. शुल्ज और अमर्त्य कु मार से न के अनुसार मानव पूंजी में निवेश (अर्थात् शिक्षा पर व्यय) से आर्थिक विकास में तेजी आती है। परन्तु शिक्षा पर निवेश से आर्थिक विकास में कितना योगदान मिलता है इसकी परिमाणात्मक जाँच (quantitative measurement). आसान नहीं है।

भ्रष्टाचार से मुक्ति

अल्प-विकसित देशों में व्याप्त भ्रष्टाचार का इन देशों केआर्थिक विकास पर व्यापक प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। जब तक सरकारी तन्त्र भ्रष्ट है उस समय तक लोकतंत्रीय प्रणाली में सम्पन्न पूंजीपति, व्यापारी तथा अन्य लोग विभिन्न प्रकार से अपने व्यक्तिगत हित में राष्ट्रीय साधनों का दुरूपयोग करगे। भ्रष्ट समाज में योजनाओं पर होने वाले व्यय का एक भाग तो सरकारी अफसर और दूसरे कर्मचारी हड़प कर जाते है। सरकार गलत लोगों को लाइसस. देती है। करों की चोरी में करदाताओं के साथ सरकारी अफसर मिले रहते है। इस प्रकार के वातावरण में आर्थिक विकास की गति अधिक तेज नहीं हो सकती। परन्तु यह आश्चर्य का विषय है कि पश्चिमी देशों के विकास और अल्प-विकास पर जो साहित्य लिखा गया है उसमें विकास में अवरोधक के रूप में भ्रष्टाचार का कोई जिक्र नहीं होता। गुन्नर मिर्डल ने इस प्रवृति की कटु आलोचना की है। उनके अनुसार, यह दुभा[ग्यपूर्ण है कि युद्धोत्तर काल में अर्थशास्त्रियों ने विकास समस्याओं का अध्ययन करते समय भ्रष्टाचार की चर्चा जान-बूझकर नहीं की है। विकास के लिए आकांक्षा (Desire to Develop) विकास प्रक्रिया को एक मशीनी प्रक्रिया नहीं समझा जाना चाहिए। किसी भी देश में र्थिक विकास की प्रक्रिया की गति उस देशे के लोगों की विकास के लिए आकांक्षा पर निर्भर होती है। यदि चेतना का स्तर नीचा है और जनसाधारण ने गरीबी को अपना भाग्य मान लिया है तो आर्थिक विकास की अधिक संभावना नहीं होगी। देशे में विकास के लिए जनसाधारण में आकांक्षा होनी चाहिए। रिचर्ड गिल ने ठीक कहा है, ' 'आर्थिक विकास कोई यान्त्रिक प्रक्रिया नहीं है या विविध कारकों को जोड़ देना मात्र भी नहीं है। आखरकार यह एक मानवीय प्रयास है और किसी भी मानवीय प्रयास की तरह इसका परिणाम भी इस बात पर निर्भर करेगा किलोगों का कौशल, प्रशिक्षण, दृष्टिकोण तथा रवैया क्या है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आर्थिक विकास की दृष्टि से जहाँ विकसित देशों की भांति ही अल्पविकसित देशों मे दृढ़ भौतिक आधार का निर्माण करना आवश्यक है, वहाँ विकास के राजनैतिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक निर्धारकों पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। मानवीय तत्वों की उपेक्षा कर विकास के किसी भी कार्यक्रम को सफल नहीं बनाया जा सकता है।

1.13 भारत के लिए विकास युक्ति

भारत में आर्थिक विकास की युक्ति क्या हो इस सम्बंध में पी.सी महालनोबिस (P.C.Mahalanobis) ने दूसरी योजना की रूपरेखा तैयार करते समय स्पष्ट किया था कि भारत के लिए सभी क्षेत्रों का समान रूप से विकास कर पाना नहीं है। इस बात को समझाते हुए उन्होंने अपनी पुस्तक Talks on planning में लिखा है कि आर्थिक दृष्टिकोण से भारत को सबसे पहले भारी मशीन उद्योग की स्थापना करनी चाहिए। इससे अन्य बुनियादी उद्योगों (basic industries) जैसे -इस्पात, एल्युमिनियम तथा उर्वरकों के उत्पादन के लिए आवश्यक मशीन और पूंजी उपकरण आसानी से उपलब्ध हो सकेंगे। उनके अनुसार भारी मशीन उद्योग के बाद दूसरी प्राथमिकता संश्लेषिक कच्चे पदार्थों (synthetic material) का उत्पादन करने वाले उद्योगों को दी जानी चाहिए। एक बार इन उद्योगों का विकास हो जाने पर अन्य उद्योगों एवं क्षेत्रों जैसे - कोयला, बिजली, इस्पात, एल्युमीनियम, परिवहन उपकरण, उर्वरक इत्यादि के विस्तार करने के लिए अनुकूल और साथ ही साथ नाना प्रकार की उपभोक्ता-वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए अनुकूल वातावरण बन सकेगा। जैसा किस्पष्ट है कि महालनोबिस का यह कथन असन्तुलित विकास के सिद्धान्त के अनुरूप है। उनका यह विश्वास था कि इस प्रकार के असन्तुलित विकास द्वारा भारत ऊँची संवृद्धि दर प्राप्त करता है। समाजवादी देशों में (विशेषकर भूतपूर्व सोवियत रूस में) इस युक्ति को अत्यन्त सफलतापूर्वक अपनाया गया था। समाजवादी व्यवस्था में विकास के प्रारिम्भक चरण में लोगों का उपभोग-स्तर कम रखा जाता है जिससे उपभोक्ता वस्तु उद्योगों की स्थापना के लिए कोई खास दबाव नहीं होता। इस प्रकार की परिस्थितियों में राज्य बड़ी आसानी से आर्थिक आधिक्य (economic surplus) का निवेश पूंजीगत उद्योगों में कर सकता है। परन्तु भारत जैसे पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में राज्य का उत्पादन प्रणाली पर बहुत कम अंकुश है। भारत में उच्च आय वर्गों की आय बड़ी तेजी से बढ़ी है जिससे उपभोक्ता वस्तुओं की मांग में तीव्र वृद्धि हुई है। इस मांग को पूरा करने के लिए निजी क्षेत्र ने उपभोक्ता वस्तु उद्योगों को बड़ी मात्रा में स्थापना की है ओर उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाया है। सरकार शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों के संपन्न वर्गों की उपभोक्ता वस्तुओं के लिए बढ़ती हुई मांग को नियंत्रत करने में असफल रही है। इस परिपेक्ष्य में, अपने मजबूत सैद्धान्तिक आधार के बावजूद, असन्तुलित विकास का सिद्धान्त भारत में कारगर नहीं हो सकता। पिछले कुछ वर्षों में देश में व्याप्त गम्भीर ऊजा[संकट ने इस सिद्धान्त की उपयोगिता पर और बड़ा प्रश्नचिन्ह लगा दिया है। सम्भवत: इन्हीं समस्याओं को ध्यान में रखते हुए आयोजकों ने हाल के वर्षों में इस बात पर जोर देना शुरु कर दिया है कि अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के बीच निवेश में तालमेल स्थापित किया जाए।

1.14 विकास और अल्पविकास

निर्धनता और असमानता

उत्पादन संभाव्यता वक्र की सहायता से निर्धनता तथा असमानता को प्रदर्शित किया जाता है।

अर्थव्यवस्था में उत्पादित हो सकने वाली वस्तुओं का दो श्रेणियों में वर्गीकरण किया जाता है–विलासिता की वस्तुएँ तथा आवश्यक वस्तुएँ।

नोट

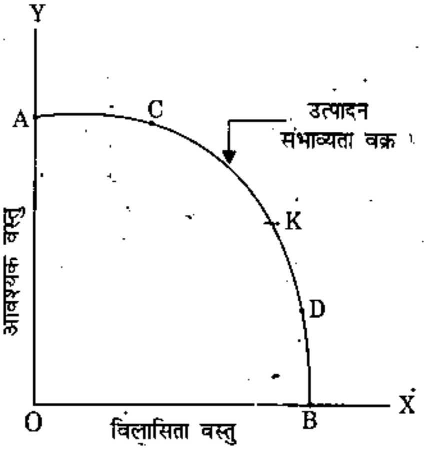

वक्र AB एक उत्पादन संभाव्यता वक्र है। यह दो वर्गों की वस्तुओं का विभिन्न संयोजन दर्शाती है। ABCD या K चिह्नित संयोजन इस अर्थव्यवस्था में कुशलता से उत्पन्न किया जा सकता है। अर्थव्यवस्था के तुलनात्मक रूप से निर्धन होने पर तथा आय के समान रूप में वितरण से वास्तविक उत्पादन C के आस-पास या C और K के बीच होगा। आय के असमान वितरण से असल उत्पादन D बिंदु के आस-पास होगा। अत: मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं में उत्पादन संयोजन का मूलभूत निर्धारक समग्र प्रभावपूर्ण माँग वक्र आय के स्तर तथा आय के वितरण द्वारा निर्धारित होता है।

निर्धनता की प्रकृति

निर्धनता एक प्रकार का रोग है जिसका असर विश्व के अधिकांश भागों पर है। इसका अर्थ है मानव का रहन-सहन की आवश्यक वस्तुओं से दूर होना। इसके निम्नलिखित रूप हो सकते हैं–

निरपेक्ष तथा तुलनात्मक निर्धनता–'निरपेक्ष' निर्धनता का अर्थ है व्यक्ति के साधारण विकास को उनकी व्यक्तिगत शीलनिष्ठता के साथ समझौते के हद तक अवरुद्ध करना। अपनी जैविक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपने संसाधनों को उपयोग में लाने में असमर्थ होना गरीबी है। भूखा होना, अशिक्षित होना, अपर्याप्त आवास गृह में रहना तथा अमानवीय स्थिति में काम करना गरीबी है। असमानता की तथा असुरक्षा के विरुद्ध संरक्षण की डिग्री का चरम रूप है।

निर्धनता का मापन

निर्धनता के भिन्न माप पेशेवर अर्थशास्त्रियों द्वारा विकसित किए गए हैं जो कि निम्नलिखित हैं–

1. **हैड-काउन्ट अनुपात–**हैड-काउन्ट द्वारा उन लोगों की निरपेक्ष निर्धनता को मापा जाता है जिनकी आय गरीबी रेखा से नीचे गिर जाती है। भारत में गरीबी की रेखा को परिभाषित निम्न प्रकार से किया गया है–

   (i) जीवन निर्वाह का न्यूनतम पौषणिक स्तर निर्धारित किया है।

   (ii) न्यूनतम आहार की लागत का अनुमान लगाया है।

   (iii) प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय के आधार पर गरीबी रेखा का विस्तृत वर्णन किया है।

   हैड-काउन्ट सूचकांक गरीबी की रेखा से नीचे गरीबों की संख्या का माप करता है, परंतु आय में कमी के बारे में कुछ नहीं बताता। गरीबों को तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया

जाता है–(i) जीवन की आवश्यकताओं से सर्वाधिक रहित, (ii) जीवन की आवश्यकताओं से रहित तथा; (iii) गरीब।

2. **गरीबी अंतराल**–इससे हमें गरीबी की गहराई का पता चलता है। गरीबी का प्रति व्यक्ति उपभोग तथा गरीबी रेखा का प्रतिशत, गरीबी के अनुपात को समायोजित करता है। यह एक विशालता का माप है।
3. **वर्गाकर गरीबी अंतराल**–जो लोग गरीबी के मानक से क्रमबद्ध रूप से और भी नीचे हैं, उन्हें गरीबी से बाहर निकालने के लिए यह अंतराल कार्य करता है।
4. **अन्य माप**–गरीबी के अन्य माप हैं–फोस्टर-ग्रीर थेयरबेक माप, सेन सूचकांक आदि।

1.15 अल्प-विकास की अवधारणा

'अल्प विकास' (Under-development) एक सापेक्ष विचार है। इसका आशय विकास की कमी से है। आर्थिक विकास की दृष्टि से अर्थशास्त्रियों ने विश्व की विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं को दो प्रमुख भागों में वर्गीकृत किया है–(i) विकसित अर्थव्यवस्थाएँ (Developed Economics) तथा (ii) अर्द्ध-विकसित या विकासशील अर्थव्यवस्थाएँ (Under-developed or Developing Economies)।

विकसित अर्थव्यवस्थाएँ (Devloped Economies) वे हैं जिनका कुल उत्पादन एवं प्रति व्यक्ति आय का स्तर बहुत ऊँचा है, इसलिए इन अर्थव्यवस्थाओं में उपभोग, बचत और विनियोग का स्तर भी ऊँचा है। इन अर्थव्यवस्थाओं में जापान, अमेरिका आदि देश आते हैं।

इसके विपरीत, एक अल्प-विकसित अर्थव्यवस्था (Under-developed Economy) में कुल उत्पादन एवं प्रति व्यक्ति आय का स्तर बहुत नीचा होता है। इन अर्थव्यवस्थाओं में भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका आदि देश आते हैं।

परिभाषाएँ (Definitions)–अर्द्ध-विकसित देश की एक ऐसी परिभाषा देना जिसमें सब आवश्यक तत्व सम्मिलित किये गये हों, अत्यन्त कठिन है, फिर भी किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए आवश्यक होगा कि कुछ प्रचलित परिभाषाओं का अध्ययन करें। प्रचलित परिभाषाओं का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है–

(i) प्रति व्यक्ति आय के आधार पर
(ii) अल्प-विकसितता के कारणों पर आधारित परिभाषाएँ एवं
(iii) विकास के आधार पर परिभाषाएँ

(i) प्रति व्यक्ति आय के आधार पर परिभाषाएँ

'संयुक्त राष्ट्र संघ के कुछ दक्ष सदस्यों के अनुसार, "विकासशील देश वे हैं जिनमें प्रति व्यक्ति वास्तविक आय अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया और पश्चिमी यूरोपीय देशों की प्रति व्यक्ति आय से कम हो।" इस अर्थ में विकासशील देश और निर्धन देश पर्यायवाची शब्द हैं।

(ii) अल्पविकसितता के कारणों पर आधारित परिभाषाएँ

(1) **प्रो. जे. आर. हिक्स** के अनुसार, "एक अल्प विकसित देश वह है जिसमें तकनीकी एवं मौद्रिक साधनों की मात्रा उत्पादन और बचत के वास्तविक स्तर के समान ही निम्न होती है जिसका परिणाम यह होता है कि श्रमिक को प्रति इकाई औसत पारिश्रमिक उस राशि

से कम मिलता है जो यदि ज्ञात साधनों में तकनीकी की व्यवस्था की जाती तो उसे प्राप्त होती है।"

(2) **भारतीय योजना आयोग** की दृष्टि में, "एक अल्प-विकसित अर्थव्यवस्था वह है जिसमें मानवीय शक्ति का अल्प-उपयोग या अनुपयोग एक ओर व प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग न होने की स्थिति दूसरी ओर साथ-साथ पायी जाती हैं।"

नोट

(iii) विकास के आधार पर परिभाषाएँ

जेकब वाइनर ने विकास की सम्भावनाओं के आधार पर अर्द्ध-विकसित की परिभाषा दी है। उनके शब्दों में, "अर्द्ध-विकसित देश वह है जिसमें उपलब्ध पूँजी, श्रम-शक्ति, प्राकृतिक साधनों आदि के अधिक उपयोग की काफी सम्भावनाएँ हैं जिससे वर्तमान जनसंख्या के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा किया जा सके और प्रति व्यक्ति आय पहले से ही अधिक है तो रहन-सहन के स्तर को नीचा किये बिना अधिक जनसंख्या का निर्वाह किया जा सके।"

उपर्युक्त परिभाषाओं में निहित तत्व—अर्द्ध-विकसित देशों के सम्बन्ध में उपर्युक्त परिभाषाओं मे निम्नलिखित महत्वपूर्ण तत्व प्रकाश में आते हैं—

(i) **निम्न प्रति व्यक्ति आय** (Low Per Capita Income)—अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्था में प्रति व्यक्ति आय विकसित अर्थव्यवस्थाओं की अपेक्षा प्रायः कम होती है।

(ii) **व्यापक निर्धनता** (Mass Poverty)—अर्द्ध-विकसित देशों की केन्द्रीय समस्या वहाँ की व्यापक निर्धनता है जोकि उनके विकास के नीचे स्तर का कारण और परिणाम दोनों ही हैं।

(iii) **उत्पादन की पुरातन प्रविधि** (Old Production Technique)—अर्द्ध-विकसित देशों में व्यापक निर्धनता का कारण प्राकृतिक साधनों का अभाव नहीं है अपितु उत्पादन की पुरानी विधियों का प्रयोग और अनुपयुक्त सामाजिक संगठन है।

(iv) **निम्न संसाधन आधार** (Low Resource Base)—अर्द्ध-विकसित देशों में व्यापक निर्धनता गरीबों के निम्न संसाधन आधार का परिणाम है। निर्धनों के पास भूमि, पूँजी, गृह-सम्पत्ति आदि के रूप में कुल परिसम्पत्ति का बहुत थोड़ा भाग होता है।

आदर्श परिभाषा

उपर्युक्त सभी विशेषताओं के आधार पर हम अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों की परिभाषा निम्न प्रकार से दे सकते हैं—

"एक अर्द्ध-विकसित देश वह देश है जहाँ यद्यपि जनसंख्या वृद्धि की दर तुलनात्मक दृष्टि से अधिक हो और जहाँ पर्याप्त साधन हों, पर उनका प्रयोग उपयुक्त और पर्याप्त रूप से न हुआ हो, जहाँ के निवासियों का जीवन-स्तर निम्न हो, पूँजी-निर्माण की गति धीमी हो, फिर भी वहाँ के निवासी अपनी वर्तमान व बढ़ती हुई जनसंख्या के रहन-सहन के स्तर का बढ़ाने के लिए उत्साहपूर्ण ढंग से पूँजी, श्रम और अन्य साधनों का आधिकाधिक प्रयोग करने में सदैव रत हों।"

1.16 अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्थाओं की विशेषताएँ

यद्यपि विकासशील अर्थव्यवस्था की सर्वमान्य विशेषताएँ अत्यन्त कठिन हैं क्योंकि विकासशील देशों में पर्याप्त भिन्नताएँ पायी जाती हैं। फिर भी कुछ सामान्य विशेषताओं को बताया जा सकता है जो सभी विकासशील देशों में न्यूनाधिक रूप में पायी जाती हैं। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इन

विशेषताओं को निम्न छः भागों में बाँटा जा सकता है– सारणी 1–अर्द्ध-विकसित देशों की विशेषताएँ

आर्थिक विशेषताएँ	जनसंख्या सम्बन्धी विशेषताएँ	सांस्कृतिक एवं सामाजिक विशेषताएँ	राजनीतिक विशेषताएँ	तकनीकी विशेषताएँ	अन्य विशेषताएँ
प्रति व्यक्ति निम्न आय निम्न जीवन स्तर पूँजी निर्माण की नीची दर कृषि प्रधानता प्राकृतिक साधनों का अल्प उपयोग विदेशी व्यापार त्रिकोणी अर्थव्यवस्था तृतीय क्षेत्र तथा अधोसंरचना का पिछड़ापन विदेशी ऋणग्रस्तता बेरोजगारी, अर्द्ध-बेरोजगारी एवं अदृश्य बेरोजगारी औद्योगीकरण का अभाव सम्पत्ति एवं आय वितरण में असमानता	जनसंख्या की अधिकता ऊँची जन्म व मृत्यु-दर अधिकांश जनता का गाँवों में निवास निम्न जीवन विधि आश्रितों की अधिकता जनसंख्या का घनत्व अकुशल जनसंख्या	रूढ़िवादियों की प्रधानता अशिक्षा महँगे रीति रिवाज स्त्रियों का निम्न स्थान छूआछूत का पालन भाग्यवादिता रीति-रिवाज़ों की प्रधानता	विदेशी शासन विदेशी नीति समान हित भ्रष्ट प्रशासन जागृति का उदय	तकनीकी व सामान्य शिक्षा का अभाव उत्पादन की प्राचीन विधियाँ परिवहन एवं संवहन की अपर्याप्तता अकुशल श्रमिकों की प्रचुरता	स्थिर व्यावसायिक ढाँचा दोषपूर्ण वित्तीय संगठन

(I) आर्थिक विशेषताएँ (Economic Characteristics)

(1) प्रतिव्यक्ति निम्न आय (Low Per Capita Income)–अर्द्ध-विकसित देशों की प्रमुख विशेषता प्रति व्यक्ति निम्न आय का स्तर होना है। इन देशों की औसत आय विश्व की औसत आय से बहुत कम होती है, उदाहरण के लिए, 1999 में स्विट्ज़रलैण्ड की प्रति व्यक्ति आय 38, 350 डॉलर थी और अमेरिका की 30,600 डॉलर थी, जबकि भारत की 450 डॉलर, बांग्लादेश की 370 और नेपाल की 210 डॉलर थी। उल्लेखनीय है कि अर्द्ध-विकसित देशों की प्रति व्यक्ति आय में जो यह अन्तर है, वह निरन्तर और बढ़ता जा रहा है। इसका कारण राष्ट्रीय आय का निम्न स्तर अथवा जनसंख्या की अधिकता दोनों हो सकते हैं। राष्ट्रीय आय के निम्न स्तर के उत्तरदायी कारण हैं– निम्न उत्पादकता, निम्न बचत व विनियोग, पिछड़ी प्रौद्योगिकी व पिछड़ा आर्थिक व सामाजिक ढाँचा।

(2) निम्न जीवन-स्तर (Low Standard of Living)–अर्द्ध-विकसित देशों में निम्न प्रति व्यक्ति आय के कारण वहाँ के निवासियों का जीवन-स्तर अत्यन्त नीचा है। उदाहरण के लिए, जहाँ विकसित देशों में प्रति व्यक्ति प्रतिदिन औसत कैलोरी उपभोग 3,000 से ऊपर है, वहाँ अल्प-विकसित देशों में यह 2,000 के लगभग है। एक अनुमान के अनुसार अमेरिका में जहाँ 420 व्यक्तियों पर एक चिकित्सक है, वहाँ भारत में 2,460 व्यक्तियों पर, कीनिया में 10,150 व्यक्तियों पर एक चिकित्सक उपलब्ध है।

नोट

मानव विकास सूचकांक (HDI) यूनाइटेड नेशन्स डवलेपमेण्ट प्रोग्राम द्वारा तैयार किया गया एक सामूहिक सूचकांक है। इसका अनुमान जीवन अवधि (Longevity), ज्ञान (Knowledge) तथा आय (Income) के स्तर पर निर्भर करता है। इसे 0.1 से 1 तक के पैमाने पर मापा जाता है। विकसित राष्ट्रों की तुलना में अल्पविकसित राष्ट्रों का मानव विकास सूचकांक (HDI) कम होता है। अर्द्धविकसित देशों में यह सामान्यता 0.3 से 0.4 तक जबकि विकसित देशों में 0.8 से 0.9 तक रहता है।

(3) **पूँजी-निर्माण की नीची दर** (Low Rate of Capital Formation)–पूँजी-निर्माण किसी भी देश के आर्थिक विकास की मूलभूत आवश्यकता है, जबकि अल्प-विकसित देशों में न केवल पूँजी स्टॉक अपर्याप्त होता है बल्कि पूँजी-निर्माण की दर भी अत्यन्त कम होती है। इस दृष्टि से इन देशों को 'पूँजी दरिद्र' अथवा 'न्यून बचत व न्यून निवेश' वाली अर्थव्यवस्था कहा जाता है। उदाहरण के लिए, सन् 2000 में सकल पूँजी निर्माण भारत में सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 23 प्रतिशत, कीनिया में 18 प्रतिशत तथा पाकिस्तान में 17 प्रतिशत थी, वहाँ सिंगापुर में 37 प्रतिशत थी। इसके विपरीत पूँजी निर्माण की दर जापान में 39 प्रतिशत व आस्ट्रेलिया में 30 प्रतिशत थी।

पूँजी निर्माण की कमी से अर्द्धविकसित देशों को आर्थिक क्रियाओं का विस्तार करने, आर्थिक क्रियाओं को प्रारम्भ करने तथा उत्पादन तकनीक में सुधार लाने में कठिनाई होती है और वे प्राथमिक व्यवसाय में ही संलग्न रहते हैं।

(4) **कृषि प्रधानता** (Predominance of Agriculture)–अर्द्ध-विकसित देशों में कृषि की प्रधानता रहती है। उनका प्रमुख उत्पादन खाद्य सामग्री और कच्चा माल रहता है। इन देशों में जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग साधारणतया 65 से लेकर 85 प्रतिशत तक अपनी जीविका के लिए कृषि पर निर्भर रहता है। अत: कृषि पर जनसंख्या का अत्यधिक भार होता है। इन देशों में राष्ट्रीय आय का लगभग आधा या इससे भी अधिक भाग से प्राप्त होता है। एक अनुमान के अनुसार सन् 1999 में सकलघरेलू उत्पाद (GDP) में कृषि का योगदान भारत और कीनिया में 27 प्रतिशत, इण्डोनेशिया में 23 प्रतिशत था, जबकि उसी वर्ष कृषि का यह योगदान अमेरिका और जापान में क्रमश: 3 प्रतिशत तथा 2 प्रतिशत था। अल्प-विकसित देशों में कृषि पर अधिक निर्भरता के कारण एक तरफ विनिर्माणी उद्योगों का विकास नहीं हो पाया तो दूसरी ओर, भूमि पर अनावश्यक भार पड़ने के कारण कृषि-कार्य अनार्थिक सिद्ध हुआ है। निम्न प्रति व्यक्ति आय, पूँजी-निर्माण की धीमी गति, बाजार की अपूर्णताएँ तथा असन्तुलित एवं अवरुद्ध आर्थिक विकास, सही अर्थों में, कृषि उद्योग की व्यापकता और उसकी निम्न उत्पादकता की ही देन हैं।

प्रो. बौर एवं यामे (Bauer & Yamay) के मतानुसार, "अल्प-विकसित देशों में कृषि एक प्रमुख व्यवसाय है जो आर्थिक व उत्पादन क्रियाओं में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है और कृषि जोतों के निर्माण, सुधार एवं विकास में ही समस्त राष्ट्रीय साधन लगा दिये जाते हैं।" **प्रो. लुइस** (W Arthur Lewis) ने इस प्रकार के देशों को 'Producing Economies' और मायर तथा बाल्डविन ने 'Primary Sector Economy' कहकर सम्बोधित किया है।

(5) **प्राकृतिक साधनों का अल्प उपभोग** (Under-utilization of Natural Resources) –अर्द्ध-विकसित देशों में प्राकृतिक साधनों के प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने के बाद भी उनका

उपभोग या तो होता ही नहीं और यदि होता भी है तो बहुत कम मात्रा में। कभी-कभी तो अर्द्ध-विकसित देशों को इस बात का पता नहीं होता कि उनके देश में कौन-कौन-से प्राकृतिक साधन उपलब्ध हैं।

एक अनुमान के अनुसार यूरोप के विकसित देशों में उपलब्ध जल-शक्ति का 60 प्रतिशत भाग उपयोग में लाया जाता है, जबकि एशिया व मध्य अमेरिका में क्रमश: 19 प्रतिशत व 8 प्रतिशत भाग का ही उपयोग होता है।

(6) **विदेशी व्यापार** (Foreign Trade)–अर्द्ध-विकसित देशों की राष्ट्रीय आय में विदेशी व्यापार का बहुत कम योगदान होता है। ये अर्थव्यवस्थाएँ परम्परागत वस्तुओं का निर्यात करती हैं। इन देशों के निर्यातों में मुख्यत: प्राथमिक वस्तुएँ होती हैं जबकि आयातों में निर्मित वस्तुओं की प्रधानता होती है। इन अर्थव्यवस्थाओं का विदेशी व्यापार कुछ चुने हुए देशों या क्षेत्रों के साथ ही होता है।

(7) **त्रिकोणी अर्थव्यवस्था** (Triplism Economy)–अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्थाएँ अधिकतर त्रिकोणी अर्थव्यवस्थाएँ होती हैं। इन अर्थव्यवस्थाओं में पाये जाने वाले तीन मुख्य क्षेत्र इस प्रकार हैं–(i) जीवन निर्वाह क्षेत्र (Subsistence Sector), (ii) बाजार क्षेत्र (Market Sector), (iii) विदेशों द्वारा संचालित क्षेत्र (Foreign Enclaves)।

अन्य अर्थव्यवस्थाओं में आर्थिक क्रियाओं का संचालन दो स्तरों पर होता है–एक, परम्परागत (Traditional) तथा दूसरे, आधुनिक (Modern)। जीवन निर्वाह क्षेत्र में उत्पादन परम्परागत तरीके से होता है। इसमें श्रम-विभाजन तथा विशिष्टीकरण बहुत कम पाया जाता है। उत्पादन की वृद्धि दर लम्बे समय तक स्थिर रहती है। अतएव विकास की सम्भावना कम होती है। इसके विपरीत, बाजार क्षेत्र या विदेशों द्वारा संचालित क्षेत्र में उत्पादन की आधुनिक तकनीक अपनायी जाती है परन्तु इस क्षेत्र का आकार अपेक्षाकृत बहुत छोटा होता है।

(8) **तृतीयक क्षेत्र या अधो-संरचना का पिछड़ापन** (Backwardness of Tertiary Sector and Infrastructure)–अर्द्ध-विकसित देशों में तृतीयक क्षेत्र अर्थात् व्यापार, बैंकिंग, बीमा आदि विभिन्न सेवाएँ तथा अधो-संरचना, जैसे–यातायात के साधन, बिजली, सिंचाई आदि काफी सीमा तक अविकसित स्थिति में होते हैं। इन अर्थव्यवस्थाओं में बाजार का आकार छोटा होने, जीवन निर्वाह के लिए उत्पादन, वस्तु विनिमय का प्रचलन आदि के फलस्वरूप सेवाओं तथा अधो-संरचना का सीमित विकास हो पाता है।

(9) **विदेशी ऋणग्रस्तता** (Foreign Indebtedness)–अर्द्ध-विकसित देश विदेशों से बहुत अधिक ऋण लेते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि इन देशों की निर्यात क्षमता कम होती है तथा आयात की आवश्यकताएँ अपेक्षाकृत अधिक होती हैं।

(10) **निर्धनता का दुष्चक्र** (Vicious Circle of Poverty)–अर्द्ध-विकसित देशों की उपरोक्त विशेषताएँ उसकी निर्धनता का कारण भी हैं तथा परिणाम भी हैं। ये देश निर्धनता के दुष्चक्र में फँसे हुए हैं। इसलिए नर्क्स ने कहा है कि एक देश निर्धन है क्योंकि वह निर्धन है। इस प्रकार निर्धनता का दुष्चक्र चलता रहता है। निर्धनता के दुष्चक्र के दो पक्ष हैं जैसा कि नीचे स्पष्ट किया गया है–

(i) माँग पक्ष (Demand Side) :

कम आय → कम माँग → विनियोग की कम प्रेरणा → कम विनियोग → कम उत्पादकता

नोट

(ii) पूर्ति पक्ष (Supply Side) :

कम आय → कम बचत → कम विनियोग → कम उत्पादकता → कम आय

यही निर्धनता का दुष्चक्र अर्द्ध-विकसित देशों की प्रमुख विशेषता है। यह उनके अर्द्ध-विकसित होने का कारण भी है तथा परिणाम भी है। यदि इन देशों में आय में वृद्धि के प्रयत्न किये भी जाते हैं तो इनमें पायी जाने वाली जनसंख्या की ऊँची वृद्धि दर प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि दर को नहीं बढ़ने देती। इसके फलस्वरूप इन देशों के लिए निर्धनता के दुष्चक्र को तोड़ना कठिन सिद्ध हो रहा है।

(11) **बेरोजगारी, अर्द्ध-बेरोजगारी एवं अदृश्य बेरोजगारी** (Unemployment, Under-employment and Disguise Unemployment)–अधिकांश अर्द्ध-विकसित देशों में व्यापक बेरोजगारी, अर्द्ध-बेरोजगारी एवं अदृश्य बेरोजगारी विद्यमान होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इन देशों में श्रम की प्रचुरता है लेकिन श्रम को काम देने के लिए उत्पादन के अन्य साधन; जैसे–पूँजी, भूमि, तकनीकी सेवाएँ व साहसी योग्यता की कमी है। इन अर्थव्यवस्थाओं में बेरोजगारी के कारण ही व्यापक निर्धनता पायी जाती है।

(12) **औद्योगीकरण का अभाव** (Lack of Industrialisation)–विकासशील देशों का औद्योगिक ढाँचा बहुत कमजोर होता है। इसी कारण इन देशों में जनसंख्या का एक छोटा-सा भाग ही उद्योग में लगा होता है। इन देशों की राष्ट्रीय आय में उद्योग का भाग भी बहुत कम होता है। उदाहरणार्थ, सकलघरेलू उत्पाद (G.D.P.) में उद्योग का योगदान भारत में 57 प्रतिशत तथा कीनिया में 19 प्रतिशत था, जबकि विकसित देशों की राष्ट्रीय आय में उद्योगों का योगदान क्रमशः जर्मनी में 38 प्रतिशत, जापान में 44 प्रतिशत व अमेरिका में 27 प्रतिशत है। इन देशों में आधारभूत उद्योग, जैसे–मशीन उद्योग, इस्पात उद्योग आदि नहीं के बराबर होते हैं। इसके फलस्वरूप औद्योगिक ढाँचे के बुनियादी तत्व यहाँ नहीं के बराबर होते हैं। उद्योग की उत्पादन तकनीक पुरानी होती है। जो थोड़े-बहुत उद्योग है।, वे उपभोग वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। इनमें भी अधिकतर कुटीर तथा छोटे पैमाने के उद्योग होते हैं। ये उद्योग पुरानी तकनीक की मदद से परम्परागत वस्तुएँ तैयार करते हैं।

(13) **सम्पत्ति एवं आय वितरण में असमानता** (Inequality in Distribution of Property and Income)–विकासशील देशों में धन के वितरण की व्यापक विषमता पाई जाती है। सम्पूर्ण राष्ट्रीय आय का एक बहुत बड़ा भाग थोड़े-से व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित रहता है, जबकि जनसंख्या के एक बड़े भाग को सम्पूर्ण आय का अत्यन्त अल्प भाग ही मिलता है। अल्पविकसित तथा विकसित देशों में पाया जाने वाला असमानता का विस्तार स्पष्ट हो जाता है–

सारणी 1.2: असमानता का विस्तार

देश	राष्ट्रीय आय में सबसे अधिक आय वाले 20 प्रतिशत व्यक्तियों का भाग	राष्ट्रीय आय में कम आय वाले 20 प्रतिशत व्यक्तियों का भाग
विकसित देश	46.4	5.2
यू. एस. ए. स्विट्ज़रलैण्ड	40.3	6.9

अल्पविकसित देश	63.8	5.5
ब्राजील केन्या	50.2	6.7

नोट

(II) जनसंख्या सम्बन्धी विशेषताएँ (Demographic Characteristics)

देश में पायी जाने वाली जनसंख्या सम्बन्धी विशेषताओं के आधार पर भी हम अर्थव्यवस्था को विकसित अथवा अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्था में बाँट सकते हैं। अर्द्ध-विकसित देशों की जनसंख्या सम्बन्धी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) **जनसंख्या की अधिकता** (Excess of Population)–अर्द्ध-विकसित देशों में जनसंख्या बहुत ही अधिक है और जनसंख्या वृद्धि दर भी अपेक्षाकृत अधिक है। अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्था में रूढ़ियों व अन्धविश्वास, शिक्षा आदि के कारण परिवार में बच्चों को भार नहीं माना जाता है, फलत: अधिकांश अर्द्ध-विकसित देशों को जनसंख्या-विस्फोट की स्थिति का सामना करना पड़ रहा है।

जनसंख्या का दबाव इतना गम्भीर होता है कि वह आर्थिक विकास एवं जीवन-स्तर को ऊँचा करने के प्रयास को निष्फल-सा कर देता है। **लीबिन्स्टीन** (Leibenstein) ने इसे 'निम्नस्तरीय जनसंख्या साम्य जाल' (Low Level Equilibrium Population Trip) कहा है। इसका अर्थ यह है कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि के साथ-साथ जनसंख्या में भी वृद्धि होती जाती है। फलतः प्रति व्यक्ति आय एक निम्न स्तर पर ही बनी रहती है। लीबिन्स्टीन ने अपनी पुस्तक 'Theory of Economic Demographic Development' में यह प्रदर्शित किया है कि आय में वृद्धि के साथ-साथ मृत्यु-दर में कमी आने के कारण जनसंख्या में भी वृद्धि होती है। यदि जनसंख्या में यह वृद्धि, आय में वृद्धि से अधिक है तो यह (जनसंख्या) अर्थात् अ अ रेखाचित्र में बढ़ते हुए आय रेखा को 'प' बिन्दु पर काटते हुए इससे ऊपर उठ जाती है। तब 'प' बिन्दु पर प्रति व्यक्ति आय कम हो जायेगी जिसे निम्नस्तरीय साम्य जाल (Low Level Equilibrium Trap) कहा जाता है। इसका अर्थ यह है कि प्रति व्यक्ति आय जाल में फँस जाती है और स्थिर रहती है।

(2) **ऊँची जन्म व मृत्यु-दर** (High Birth and Death Rate)–अर्द्ध-विकसित देशों की जनसंख्या की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि यहाँ जहाँ एक ओर जन्म व मृत्यु दरें दोनों ही विकसित देशों की अपेक्षा अधि क रहती हैं (जन्म-दर ऊँची होने के कारण हैं–बाल-विवाह, धार्मिक और सामाजिक अन्धविश्वास, संयुक्त परिवार, निर्धनता, सन्तान निरोधक की कमी), वहीं दूसरी ओर, तकनीकी पिछड़ेपन के कारण उत्पादन लागत अधिक रहती है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में इस देश की प्रतिस्पर्द्धा शक्ति कम हो जाती है जिसके कारण उद्योगों का स्तर निम्न रहता है और उत्पादन तकनीकी पिछड़ी अवस्था में ही रह जाती है।

(3) **अधिकांश जनता का गाँवों में निवास** (Inhabitance of Major Population in Village) –विकासशील देशों में अधिकांश जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है जिसका मुख्य व्यवसाय कृषि होता है। 2001 की जनगणना के अनुसार भारत की 76.7 प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में व शेष शहरों में रहती है।

नोट

(4) **निम्न जीवनावधि** (Low Expentency of Life)–विकसित देशों की तुलना में विकासशील देशों की प्रत्याशित आयु कम होती है। विकसित देशों की प्रत्याशित आयु औसतन 73 से 79 वर्ष की होती है, जैसे–स्विट्ज़रलैण्ड में 78 वर्ष, स्वीडन में 78 वर्ष, अमेरिका में 77 वर्ष, ब्रिटेन में 76 वर्ष, आस्ट्रिया में 77 वर्ष। विकासशील देशों में यह 40 से 60 वर्ष तक ही है। वर्तमान में भारत में प्रत्याशित आयु 61 वर्ष है।

(5) **आश्रितों की अधिकता** (High Dependency)–विकासशील देशों में एक परिवार में आश्रित की मात्रा अधिक होती है। इसका अर्थ यह है कि इन देशों में कमाने वाले कम होते हैं, खाने वाले ज्यादा।

(6) **जनसंख्या काघनत्व** (Density of Population)–विकासशील देशों में जनसंख्या काघनत्व अधिक होता है, जबकि विकसित देशों में उतना नहीं होता है।

(7) **अकुशल जनसंख्या** (Unskilled Population)–अर्द्ध-विकसित देशों की जनसंख्या–शिक्षा, चिकित्सा, स्वास्थ्य एवं पौष्टिक भोजन के अभाव में सापेक्षिक दृष्टि से अकुशल रहती है और मानव पूँजी अच्छी किस्म की नहीं। इस बात की पुष्टि मानव विकास रिपोर्ट से होती है जिसके अनुसार मानव विकास सूचकांक अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में अत्यन्त कम है।

(III) सांस्कृतिक एवं सामाजिक विशेषताएँ

(1) **रूढ़िवादियों की प्रधानता** (Domination of Traditions)–अर्द्ध-विकसित देशों में सामाजिक परम्पराओं और रूढ़ियों की प्रधानता रहती है जिसमें समाज की बहुमूल्य बचत का अपव्यय होता है।

(2) **अशिक्षा** (Illiteracy)–अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में शिक्षा का अभाव पाया जाता है और समाज के अधिकांश व्यक्ति अशिक्षित होते हैं।

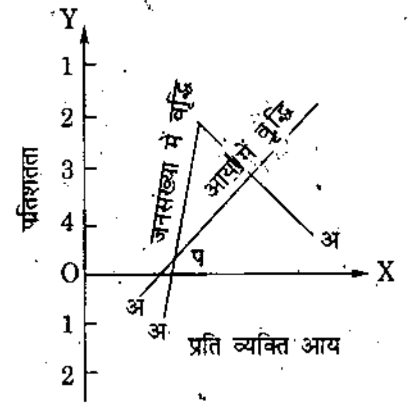

चित्र 1.1

(3) **महँगे रीति-रिवाज** (Costly Customs)–यहाँ के लोगों के रीति-रिवाज बहुत महँगे होते हैं और इन पर आय का एक बड़ा भाग व्यय होता है। वास्तव में, उत्सवों और समारोहों पर खर्च के कारण बचत की गुंजाइश कम होती है।

(4) **स्त्रियों का निम्न स्थान** (Low Status of Women)–अल्प-विकसित राष्ट्रों में स्त्रियों को निम्न स्थान प्रदान किया जाता है, उन्हें कोई स्वतन्त्रता नहीं दी जाती है और उनका भाग्य पुरुष के साथ जोड़ दिया जाता है।

नोट

(5) **छुआछूत का पालन** (Prevalance of Untouchability)–अर्द्ध-विकसित देशों में छुआछूत का पालन कठोरता के साथ किया जाता है और ऐसा न करने वालों का बहिष्कार कर दिया जाता है।

(6) **भाग्यवादिता** (Fatalism)–इन देशों में जनता अकर्मण्य, भाग्यवादी तथा साहसहीन होती है। प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के स्थान पर प्राकृतिक बाधाओं के प्रति समर्पण की स्थिति पायी जाती है।

(7) **रीति-रिवाजों की प्रधानता** (Priority of Customs)–इन देशों में रीति-रिवाजों की प्रधानता होती है जिनको प्रत्येक व्यक्ति आँख मूँदकर मानता है और समय-समय पर उन्हीं रिवाजों के अनुसार कार्य करता है।

(8) **जातिवाद** (Castism)–इन देशों में वर्ग-भेद व जातिवाद की भावना व्याप्त होती है।

(9) **आध्यात्मिक प्रगति** (High Spitualism)–आध्यात्मिक, दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अर्द्ध-विकसित देश बहुत धनी हैं जहाँ सन्तोष और मानसिक शान्ति प्रमुख सामाजिक मूल्य हैं। यदि व्यक्तिगत सुख और सन्तोष को आधार बनाया जाए तो अर्द्ध-विकसित देशों की गणना विश्व के देशों में सर्वप्रथम होगी।

(IV) राजनीतिक विशेषताएँ (Political Characteristics)

विकासशील देशों की प्रमुख राजनीतिक विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) **विदेशी शासन** (Foreign Rule)–अधिकांश विकासशील देशों में विदेशी शासन रहा है और विदेशी शासकों ने इन राष्ट्रों के विकास में कोई रुचि नहीं ली है।

(2) **विदेशी नीति** (Foreign Policy)–विकासशील देशों की विदेश नीति गुट-निपेक्षता की नीति है।

(3) **समान हित** (Common Interest)–ये देश अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र के समान हितों की रक्षा के लिए परस्पर परामर्श करते हैं।

(4) **भ्रष्ट प्रशासन** (Corrupt Administration)–विकासशील देशों का प्रशासनिक ढाँचा प्राय: कमजोर होता है। परिणामस्वरूप यहाँ सरकारी कार्य बड़ी धीमी गति से होता है तथा बड़ी मात्रा मेंघूसखोरी, भ्रष्टाचार जैसी बुराइयाँ देखने को मिलती है।

(5) **जागृति का उदय** (Emergence of Awareness)–एक अन्य महत्वपूर्ण बात जिसके कारण अर्द्ध-विकसित देशों के विकास की समस्या का समाधान आज बहुत आवश्यक हो गया है, वह है इन देशों में जागृति का उदय। रूस की क्रान्ति तथा इधर कुछ ऐसे देशों को राजनीतिक स्वाधीनता मिलने से इस जागरूकता को और बल मिला है। परिवहन तन्त्र संचार साधनों में उन्नति के फलस्वरूप विश्व के देश अब एक-दूसरे के अधिक निकट हो गये हैं। टेलीविजन, रेडियो, सामाचार-पत्रों, पुस्तकों तथा लोगों के विदेशों में आने-जाने से पारस्पारिक जानकारी में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई है। अर्द्ध-विकसित देशों के लोग अब अपनी स्थिति, आवश्यकताओं तथा अधिकारों के विषय में अधिक जागरूक होने लगे हैं।

(V) तकनीकी विशेषताएँ (Technological Characteristics)

विकासशील देशों में निम्नलिखित तकनीकी विशेषताएँ पायी जाती हैं:

नोट

(1) तकनीकी व सामान्य शिक्षा का अभाव (Lack of Technical and General Education) –इन देशों में सामान्य और तकनीकी दोनों प्रकार की शिक्षाओं का अभाव पाया जाता है।

(2) उत्पादन की प्राचीन विधियाँ (Old Techniques of Production)–इन देशों में तकनीकी ज्ञान के अभाव में उत्पादन की प्राचीन विधियों का ही उपयोग किया जाता है जिसमें प्रति व्यक्ति उत्पादन बहुत कम रहता है।

(3) **परिवहन एवं संवहन की अपर्याप्तता** (Inadequacy of Transport and Management)–अर्द्ध-विकसित देशों में परिवहन एवं संवहन की सुविधाएँ अत्यन्त अपर्याप्त और पिछड़ी हुई अवस्था में रहती हैं जिससे आवश्यक वस्तुएँ तत्काल प्राप्त नहीं हो पातीं।

(4) **अकुशल श्रमिकों की प्रचुरता** (Abundant Unskilled Labour)–इन देशों में तकनीकी ज्ञान का सामान्यतया अभाव रहता है। फलत: अकुशल श्रमिकों की ही प्रचुरता रहती है।

(VI) अन्य विशेषताएँ (Other Characteristics)

(1) **स्थिर व्यावसायिक ढाँचा** (Static Occuapational Structure)–अर्द्ध-विकसित देशों में व्यावसायिक ढाँचा एकसमान अर्थात् स्थिर रहता है, उसमें परिवर्तन नहीं होते हैं।

(2) **दोषपूर्ण वित्तीय संगठन** (Defective Financial Organisation)–अर्द्ध-विकसित देशों में वित्तीय संगठन दोषपूर्ण होते हैं। इन देशों की बैंकिंग व्यवस्था प्रभावशाली नहीं होती, सरकारी आय के साधन सीमित होते हैं, मुद्रा बाजार असंगठित होता है तथा प्रत्यक्ष कर अधिक लगाये जाते हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि ऊपर वर्णित सभी विशेषताएँ सभी अर्द्ध-विकसित देशों में देखने को मिलें। कुछ देशों में कुछ विशेषताओं की प्रधानता हो सकती है तो दूसरे देशों में अन्य विशेषताओं की। इसीलिए **हिगिन्स** (Higgins) ने कहा है कि अर्द्ध-विकसित देशों में कई वर्ग बनाये जा सकते हैं। कुछ अर्द्ध-विकसित देश अन्य देशों की अपेक्षा श्रेष्ठ स्थिति में हो सकते हैं। अन्य शब्दों में, अर्द्ध-विकसित देशों में कुछ पिछड़े हुए तो कुछ तेज़ी से विकासशील देश हो सकते हैं।

1.17 विकसित तथा अर्द्ध-विकसित देशों में अन्तर

विकसित तथा अर्द्ध-विकसित देशों के बीच अन्तर हम मुख्यत: निम्न आधारों पर कर सकते हैं:

अन्तर का आधार	विकसित देश	अर्द्ध-विकसित
(1) **प्राकृतिक साधन**	पर्याप्त प्राकृतिक साधन और उनका पूर्ण विदोहन।	पर्याप्त प्राकृतिक साधन परन्तु पूर्ण विदोहन न होना
(2) **आर्थिक स्थिति** (3) **कृषि**	(अ) प्रति व्यक्ति वास्तविक आय अधिक होने से उपभोग का स्तर ऊँचा रहता है। (ब) राष्ट्रीय आय के अनुपात में बचत और विनियोग का स्तर ऊँचा होता है। जनसंख्या का एक अल्प भाग कृषि में कार्यरत रहता है और कृषि आधुनिक ढंग पर की जाती है।	(अ) प्रति व्यक्ति आय कम होने के कारण उपभोग का स्तर निम्न रहता है। (ब) बचत और विनियोग का स्तर नीचा रहता है। (स) जनसंख्या का अधिकांश भाग कृषि उद्योग में संलग्न होता है और कृषि पुराने ढंग से की जाती है।

(4) **उद्योग**	(अ) विशाल उत्पादन इकाइयों का संगठन। (ब) प्रति इकाई औसत उत्पादन का कम होना। (स) ऊँची कार्यक्षमता के कारण प्रति श्रमिक अधिक उत्पादकता।	(अ) उत्पादन कार्य छोटी-छोटी इकाइयों द्वारा किया जाना। (ब) प्रति इकाई औसत उत्पादन का अधिक होना। निम्न कार्यक्षमता के कारण श्रम उत्पादकता का नीचा होना।
(5) **पूँजी निर्माण**	(अ) प्रति व्यक्ति ऊँचा पूँजी अनुपात (ब) प्रति इकाई औसत उत्पादन का कम होना।	(अ) प्रति व्यक्ति कम पूँजी अनुपात (ब) प्रति इकाई औसत उत्पादन का निम्न कार्य क्षमता के कारण श्रम उत्पादक का नीचा होना।
(6) **निर्यात**	(अ) निर्यात पर कम निर्भरता। (ब) निर्यात का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय उत्पादन में सन्तुलन बनाये रखना। (स) अधिकांशत: निर्मित माल का निर्यात किया जाता है।	(अ) निर्यात पर अधिक निर्भरता। (ब) निर्यात का उद्देश्य राष्ट्रीय आय में वृद्धि करना होता है। (स) अधिकांशत: कच्चे माल का निर्यात किया जाता है।
(7) **जनसंख्या**	(अ) कम जनसंख्या और जन्म तथा मृत्यु दर भी कम होती है। (ब) अधिक जीवन प्रत्याशा और अधिक कार्य-कुशलता का होना।	(अ) अधिक जनसंख्या और जन्म व मृत्यु दर का ऊँचा पाया जाना। (ब) कम जीवन प्रत्याशा और कम कार्य-कुशलता।
(8) **प्राविधिक स्तर**	पूँजी-प्रधान तकनीक का प्रयोग व उच्च प्राविधिक स्तर।	श्रम-प्रधान तकनीक का उपयोग और निम्न प्राविधिक स्तर।

1.18 क्या भारत एक अल्प-विकसित देश है?

भारत–एक विकासशील अर्थव्यवस्था

अर्द्ध-विकसित देशों की विभिन्न विशेषताओं को देखते हुए तथा वाह्य दृष्टि से भारतीय अर्थव्यवस्था पर दृष्टिपात करने पर नि:सन्देह यही कहा जायेगा कि भारत एक अर्द्ध-विकसित राष्ट्र है जिसके प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं–(1) कृषि की प्रधानता, (2) प्रति व्यक्ति आय का निम्न स्तर, (3) पूँजी निर्माण का निम्न स्तर, (4) बेरोजगारी, (5) ऊँची जन्म व मृत्यु-दरें, (6) निम्न प्रत्याशित आयु, (7) जनसंख्या काघनत्व, (8) पुरानी उत्पादन विधि, (9) निम्न साक्षरता, (10) पिछड़ा आर्थिक व सामाजिक ढाँचा, (11) निम्न जीवन-स्तर आदि ऐसी कसौटियाँ हैं जो भारत को पिछड़ेपन के धरातल पर लाकर खड़ा कर देती हैं परन्तु पिछले कुछ वर्षों से भारत विकास की स्थैतिक अवस्था से निकलकर प्रावैगिक अवस्था में प्रवेश कर चुका है जैसा कि निम्न विवरण से स्पष्ट है:

(1) **नियोजित मिश्रित अर्थव्यवस्था** (Planned Mixed Economy)–1 अप्रैल, 1951 से भारतीय अर्थव्यवस्था नियोजित अर्थव्यवस्था के रूप में कार्यशील है। यहाँ आर्थिक विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाएँ बनायी जाती हैं। इसे मिश्रित इसलिए कहा जाता है कि यहाँ सार्वजनिक क्षेत्र एवं निजी क्षेत्र दोनों को काम करने का समान अवसर दिया गया है। एक तरफ सरकारी उपक्रम है तो दूसरी तरफ निजी उपक्रम है।

जुलाई, 1991 से देश में आर्थिक सुधारों का नया कार्यक्रम अपनाया गया है जिसके अन्तर्गत आर्थिक उदारीकरण (Economic Liberalisation) का मार्ग अपनाया गया है। सरकार निजीकरण, बाजारीकरण व अन्तर्राष्ट्रीयकरण पर बल देने लगी है।

नोट

(2) **प्रति व्यक्ति आय एवं राष्ट्रीय आय में वृद्धि** (Increase in Per Capita Income & National Income)–भारत में प्रति व्यक्ति आय एवं राष्ट्रीय आय में निरन्तर वृद्धि हो रही है। प्रति व्यक्ति वार्षिक आय जो वर्ष 1950-51 में (1993-94 की कीमतों के आधार पर) 3, 687 रुपये थी, वह वर्ष 2000-2001 में बढ़कर 10,254 रुपये हो गयी है।

(3) **बचत व विनियोग दरों में वृद्धि** (Increase in Saving and Investment Rates) –योजना अवधि में बचत व विनियोग दर में भी उतार-चढ़ाव आते रहे हैं। चालू मूल्यों के आधार पर ळक्च से सकल बचत का अनुपात जो 1950-51 में 8.9 प्रतिशत था, वह 2000-2001 में बढ़कर 23.0 प्रतिशत हो गया। इसी प्रकार सकलघरेलू पूँजी निर्माण की दर जो 1950-51 में 8.9 प्रतिशत थी, वह 2000-2001 में बढ़कर 24.0 प्रतिशत हो गयी।

(4) **तीनों क्षेत्रों का सापेक्षिक महत्व** (Relative Significance of Three Sectors)–पिछले 52 वर्षों में भारत की राष्ट्रीय आय में कृषि के योगदान में कमी आयी है और उद्योग तथा सेवा क्षेत्र का सापेक्षिक महत्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है। ये परिवर्तन अर्थव्यवस्था के विकास के परिचायक हैं।

(5) **कृषि क्षेत्र का विकास** (Development of Agriculture)–कुछ समय पूर्व तक भारत में कृषि अत्यन्त ही पिछड़ी हुई तथा अविकसित स्थिति में थी परन्तु अब खेती में उपकरणों, रासायनिक खाद, अधिक उपज देने वाले बीजों व अन्य कृषि आदान (Agricultural Inputs) का प्रयोग धीरे-धीरे जोर पकड़ रहा है और खेती का व्यापारीकरण भी बढ़ रहा है। 'हरित क्रान्ति' के कारण अब पहले की अपेक्षा कृषि उत्पादन की मात्रा काफी तेजी से बढ़ने लगी है।

(6) **औद्योगिक विकास** (Industrial Development)–औद्योगिक क्षेत्र में तो परिवर्तन द्रुत गति से हो रहे हैं। अब देश में अनेक प्रकार के आधुनिक उद्योग, मूल व भारी उद्योग, जैसे–मशीन उद्योग, लोहा व इस्पात उद्योग, इन्जीनियरी उद्योग आदि स्थापित किये जा चुके हैं। पहले केवल दस्तकारी या कुटीर उद्योगों का ही बोलबाला था। औद्योगिक उत्पादन की मात्रा में इधर कुछ वर्षों से भारी वृद्धि हुई है।

औद्योगिक विकास के फलस्वरूप देश में निर्मित वस्तुओं का आयात काफी बढ़ गया है और निर्यात व्यापार में निर्मित वस्तुओं का भाग काफी तेजी से बढ़ रहा है। राष्ट्रीय आय और रोजगार में उद्योग क्षेत्र का योगदान धीरे-धीरे बढ़ रहा है।

(7) **सार्वजनिक क्षेत्र का विकास** (Development of Public Sector)–यहाँ सार्वजनिक उद्योगों में बराबर वृद्धि हो रही है। 1950-51 में भारत में 5 सार्वजनिक उद्योग थे जिनमें 29 करोड़ रुपये की पूँजी लगी थी वर्तमान में इनकी संख्या 235 व विनियोजित पूँजी बढ़कर 2,73,700 करोड़ रुपये हो गयी है। इन उद्योगों में लोहा एवं इस्पात उद्योग, सीमेण्ट उद्योग, रसायन उद्योग, इन्जीनियरिंग उद्योग, कोयला उद्योग व अनेक उपभोक्ता व औद्योगिक उद्योग शामिल हैं।

(8) **बाजार-तन्त्र द्वारा आर्थिक क्रियाओं का निर्देशन** (Direction to Economic Activities by Market Mechanism)—भारतीय अर्थव्यवस्था में बाजार-तन्त्र बहुत प्रभावशाली है। यहाँ वस्तुओं के आलावा उत्पादन के साधनों, जैसे—श्रम और पूँजी के पर्याप्त रूप में संगठित बाजार हैं। वस्तु बाजारों में अधिकांश चीजों की कीमतें माँग और पूर्ति की शक्तियों के बीच सन्तुलन द्वारा निर्धारित होती हैं। बाजार-तन्त्र द्वारा दिये जाने वाले निर्देशों को नियन्त्रित करने के लिए लाइसेन्स प्रणाली के आलावा आयात नियन्त्रण, अनिवार्य वस्तुओं के अभाव के समय उनका उचित मूल्य दुकानों (Fair Price Shops) के द्वारा वितरण तथा किसानों को प्रोत्साहन देने के लिए कृषि उत्पादों की समर्थन कीमतों (Support Prices) पर सरकार द्वारा खरीद की व्यवस्था की गई है।

(9) **निर्धनता दूर करने के विशिष्ट कार्यक्रम** (Specific Programmes for Eradicating Poverty)—छटी योजना में गरीबी दूर करने के विशिष्ट कार्यक्रम, जैसे—समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम व रोजगार सम्बन्धी विशेष कार्यक्रम अपनाने से निर्धनता-अनुपात (Proverty-ratio)घटा है लेकिन इस सम्बन्ध में योजना आयोग व लकड़ावाला विशेषज्ञ-समूह के आँकड़ों में भारी अन्तर पाया जाता है।

(10) **यातायात एवं संचार** (Transport and Communication)—रेलों, सड़कों जहाजरानी तथा संचार के साध नों में भी पर्याप्त विकास हुआ है। भारतीय रेल प्रणाली विश्व की बड़ी रेल प्रणालियों में अपना अग्रणी स्थान रखती है। जहाजरानी में भारत का विश्व की बड़ी 16 जहाजरानी प्रणालियों में महत्वपूर्ण स्थान है। संचार व्यवस्था में भी नये कीर्तिमान स्थापित किये गये हैं। उपग्रह के माध्यम से दूरसंचार व्यवस्था का विकास हुआ है।

(11) **मुद्रा और साख व्यवस्था** (Money and Credit System)—बैंकिंग और वित्त के क्षेत्र में भी प्रगति उत्साहवर्द्धक रही है। बैंकों एवं बीमा-कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण से बैंक जमाओं और बीमा व्यवसाय में अत्यधि क वृद्धि हुई है। वित्तीय साधनों की उपलब्धि से कृषि, निर्यात, उद्योग, लघु एवं कुटीर उद्योगों, फुटकर एवं छोटे व्यापार, स्व-नियुक्त रोजगार, शिक्षा आदि क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति हुई है।

(12) **सामाजिक सेवाओं का विस्तार** (Expansion of Social Services)—शिक्षा, स्वास्थ्य आदि सामाजिक सेवाओं के विस्तार में भी पर्याप्त प्रगति हुई है। स्कूली एवं विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा और शोध के क्षेत्रों में अभूतपूर्व सुधार हुआ है। साक्षरता का स्तर बढ़ा है। अब देश में प्रशिक्षित श्रमिकों, तकनीकी विशेषज्ञों, वैज्ञानिकों, अनुसन्धानकर्ताओं, प्रशासकों व प्रबन्धकों आदि की कमी नहीं है।

(13) **सामाजिक परिवर्तन** (Social Changes)—भारतीय समाज में शिक्षा के प्रसार व विकास के साथ-साथ परिवर्तन हुआ है। रूढ़िवादिता, बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, छुआछूत आदि बुराइयाँ धीरे-धीरे कम हुई हैं और देशवासियों ने विकास के अनुरूप अपने को ढालने की चेष्टा की है जो एक प्रगति के पथ पर अग्रसर राष्ट्र के लिए आवश्यक है।

निष्कर्ष (Conclusion)—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय अर्थव्यवस्था यद्यपि पिछड़ी है लेकिन अब वह गरीबी के दुष्चक्र से बाहर है। योजनाकाल में हमने तीव्र गति से आर्थिक विकास किया है जिसके कारण यहाँ की अर्थव्यवस्था में संस्थात्मक एवं संरचनात्मक परिवर्तन स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रहे हैं। आज हमारा औद्योगिक ढाँचा पहले से अधिक मजबूत है। कृषि क्षेत्र में विविध

संस्थागत और तकनीकी सुधार हुए हैं। आधारभूत आर्थिक संरचना ज्यादा विकसित है। वित्तीय ढाँचा अधिक सशक्त और फैला हुआ है। आर्थिक उदारीकरण की नीति के तहत निजी क्षेत्र को बढ़ावा दिया जा रहा है। बाजार-संयन्त्र का अधिक उपयोग किया जा रहा है तथा देश की अर्थव्यवस्था को विश्व की अर्थव्यवस्था से जोड़ने का प्रयास चल रहा है। हर्ष की बात है कि भारतीय अर्थव्यवस्था, क्रयशक्ति की समता (Purchasing Power Parity) की दृष्टि से विश्व की चौथी बड़ी अर्थव्यवस्था है।

1.19 आर्थिक विकास के मापदंड

आर्थिक विकास के मापदण्ड के सम्बन्ध में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के विचार और आधुनिक अर्थशास्त्रियों के विचार अलग-अलग हैं जैसा कि निम्नलिखित विवरण से स्पष्ट हो जायेगा–

(i) प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के विचार

विभिन्न प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के आर्थिक विकास के मापदण्ड के सम्बन्ध में विभिन्न विचार निम्न प्रकार रहे हैं–

(1) वाणिज्यवादी अर्थशास्त्रियों ने उपलब्ध सोना-चाँदी की मात्रा तथा विदेशी व्यापार की मात्रा को आर्थिक विकास का मापदण्ड माना है, जबकि इस विचारधारा की सार्थकता न थी, न है।

(2) एडम स्मिथ एवं समकालीन अर्थशास्त्रियों ने शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन की मात्रा का अधिक होना ही आर्थिक विकास माना है।

(3) कार्ल मार्क्स अधिकतम सामाजिक कल्याण का आधार समाजवाद अथवा साम्यवाद को मानता है, इसलिए मार्क्स के अनुसार समाजवाद ही आर्थिक विकास का मापदण्ड है।

(4) प्रो. जे. एस. मिल ने तो सहकारिता को ही आर्थिक विकास का मापदण्ड माना है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा सुझाये गये मापदण्ड एकाकी थे और उनका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं था।

(ii) आधुनिक अर्थशास्त्रियों के विचार

आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक विकास के लिए उत्पादन के साथ-साथ वितरण को भी महत्व दिया। आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक विकास के लिए किसी एक तत्व को मापदण्ड नहीं माना। उनकी दृष्टि से आर्थिक विकास के लिए सभी आवश्यक तत्वों का एक महत्वपूर्ण स्थान है। इन सब तत्वों के परिणामस्वरूप ही किसी देश में आर्थिक विकास होता है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार आर्थिक विकास के कुछ प्रमुख मापदण्ड अग्र प्रकार हैं–

1. **राष्ट्रीय आय** (National Income)–आर्थिक विकास का माप करने के लिए हमें देश की राष्ट्रीय आय को देखना पड़ता है। किसी देश में एक वर्ष के अन्दर पैदा की गयी समस्त वस्तुओं एवं सेवाओं के मौद्रिक मूल्य को कुल राष्ट्रीय उत्पादन कहते हैं परन्तु वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन करने के लिए जिन उपकरणों का प्रयोग किया जाता है, उनमें घिसावट या मूल्य-ह्रास होता है। अत: यदि कुल राष्ट्रीय उत्पादन में से सम्पत्ति की घिसावट का मूल्यघटा दिया जाय तो शेष शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन होगा। पर कुल राष्ट्रीय उत्पादन आर्थिक विकास की उचित कसौटी नहीं है क्योंकि कुल राष्ट्रीय उत्पादन में

सम्पत्ति की प्रतिस्थापना पर ध्यान नहीं दिया जाता है। शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन या आय ही आर्थिक विकास का मापदण्ड है। यदि किसी राष्ट्र में शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ रहा है तो वह उसकी बढ़ती हुई राष्ट्रीय आय व आर्थिक विकास का संकेतक है परन्तु यह वृद्धि निरन्तर व स्थायी होनी चाहिए।

इसी तथ्य को रेखाचित्र 1.2 द्वारा स्पष्ट किया गया है। चित्र से स्पष्ट है कि पाँचवें वर्ष तक A देश B देश की तुलना में धनी देश है। पर आरम्भ से ही B देश में राष्ट्रीय आय की वृद्धि दर A देश की अपेक्षा अधिक है। फलतः पाँचवें वर्ष में पहुँचते-पहुँचते B देश की आय A देश के बराबर हो जाती है और उसके बाद B देश A देश की तुलना में अधिक धनी हो जाता है।

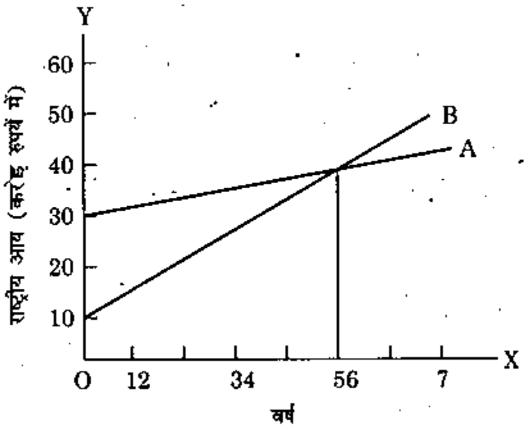

चित्र 1.2

सीमाएँ (Limitations)–राष्ट्रीय आय को आर्थिक विकास के मापन के एक महत्वपूर्ण मापदण्ड के रूप में स्वीकार किया गया है परन्तु इसे सन्तोषजनक नहीं माना जाता है क्योंकि राष्ट्रीय आय की गणना करने में बहुत-सी कठिनाइयाँ आती हैं। जैसे–(i) राष्ट्रीय आय सदैव मुद्रा में ही मापी जाती है परन्तु बहुत-सी वस्तुएँ एवं सेवाएँ ऐसी होती हैं जिनका मुद्रा में मूल्यांकन करना कठिन होता है। (ii) राष्ट्रीय आय की गणना करने में किसी वस्तु या सेवा को कई बार गिनने की आशंका बनी रहती है। (iii) राष्ट्रीय आय के माप में हस्तान्तरण भुगतान, जैसे–पेंशन, बेरोजगारी भत्ता आदि को सम्मिलित करने में कठिनाई उत्पन्न होती है। (iv) राष्ट्रीय आय की परिगणना में बहुत-सी सार्वजनिक सेवाएँ, जैसे–पुलिस व सैनिक सेवाएँ भी ली जाती हैं जिनका ठीक-ठीक हिसाब लगाना कठिन होता है। (v) पूँजीगत लाभ व हानियों को भी राष्ट्रीय आय में आगणन करने में कठिनाई आती है।

2. **प्रति व्यक्ति आय**–कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि वास्तविक राष्ट्रीय आय को विकास का एकमात्र द्योतक नहीं माना जा सकता। उनका कहना है कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने से यह सम्भव है कि जन-समूह की निर्धनता बढ़ जाये। ऐसा उस समय होता है जब जनसंख्या में वृद्धि की गति राष्ट्रीय आय में वृद्धि की गति से अधिक तेजी से होती है क्योंकि वास्तविक राष्ट्रीय आय की वृद्धि का अर्थ यह नहीं है कि प्रति व्यक्ति आय बढ़ रही है। हो सकता है कि लोग बचत की दर बढ़ा रहे हों या फिर सरकार स्वयं इस बढ़ी हुई आय को सैनिक अथवा अन्य उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल कर रही हो। वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि के बावजूद जनसाधारण की गरीबी का दूसरा कारण यह भी हो सकता है

कि बढ़ी हुई आय बहुसंख्यक गरीबों के पास जाने की बजाय मुट्ठी भर अमीरों के हाथ में जा रही हो।

नोट

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार अर्द्ध-विकसित देशों की प्रमुख समस्या वहाँ के निवासियों के जीवन-स्तर में सुधार की होती है और जीवन-स्तर में सुधार तभी सम्भव है, जबकि प्रति व्यक्ति आय बढ़े। अत: उसके मत में आर्थिक विकास का सही मापदण्ड प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि है, न कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि।

प्रति व्यक्ति आय के पक्ष में तर्क–प्रति व्यक्ति आय के पक्ष में निम्न तर्क दिये जा सकते हैं–

(अ) **जीवन-स्तर में सुधार** (Improvement in Living Standard)–आर्थिक विकास में वर्तमान रूचि का मुख्य कारण अर्द्ध-विकसित देशों के निवासियों का जीवन-स्तर सुधारना है। इसके लिए प्रति व्यक्ति आय का बढ़ना आवश्यक है।

(ब) **आर्थिक कल्याण में वृद्धि** (Increase in Economic Welfare)–पिछले कुछ वर्षों में जनसंख्या, विशेषकर एशिया के देशों में अत्यधिक बढ़ी है। यदि हम इसकी उपेक्षा कर देंगे तो आर्थिक कल्याण की वृद्धि का कोई अर्थ नहीं होगा। साथ ही विगत वर्षों में जनसंख और प्रति व्यक्ति आय दोनों में ही वृद्धि हुई है। इसका यह अर्थ हुआ कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि, प्रति व्यक्ति आय की अपेक्षा अधिक रही है।

(स) **प्रति व्यक्ति उत्पादन में वृद्धि** (Increase in Per Capita Production)–आर्थिक विकास के लिए प्रति व्यक्ति उत्पादन बढ़ना अनिवार्य है और इस बढ़ती हुई उत्पादिता का सही सूचक बढ़ती हुई प्रति व्यक्ति आय है, न कि राष्ट्रीय आय।

प्रति व्यक्ति आय के विपक्ष में तर्क–आर्थिक विकास के मापदण्ड के रूप में प्रति व्यक्ति आय के विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं–

(अ) प्रति व्यक्ति आय के बढ़ने के बावजूद प्रति व्यक्ति उपयोग की मात्रा कम होना।

(ब) ऐच्छिक रूप से अथवा अनिवार्य रूप से बचतों का अधिक किया जाना।

(स) धन का असमान वितरण होना इत्यादि। अत: आर्थिक विकास का यह सूचक भी मानव-जाति के अन्तिम लक्ष्य, आर्थिक कल्याण के प्रति तटस्थ बना रहता है।

3. **आर्थिक कल्याण** (Economic Welfare)–कुछ अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक कल्याण को आर्थिक विकास का उचित मापदण्ड माना है। उनके अनुसार ऐसी प्रक्रिया को आर्थिक विकास माना जाता है जिससे प्रति व्यक्ति वास्तविक आय व उपभोग में वृद्धि होती है और उसके साथ-साथ आय की असमानताओं का अन्तर कम होता है तथा देश के निवासियों को अधिकतम सन्तुष्टि मिलती है। ओकन और रिचर्डसन1 के शब्दों में, आर्थिक विकास "भौतिक समृद्धि में ऐसा अनवरत् दीर्घकालीन सुधार है जो कि वस्तुओं और सेवाओं के बढ़ते हुए प्रवाह में प्रतिबिम्बित समझा जा सकता है।"

सीमाएँ (Limitations)–इस मापदण्ड की प्रमुख सीमाएँ निम्नलिखित हैं–

(अ) यह आवश्यक नहीं है कि वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि का अर्थ आर्थिक कल्याण में सुधार ही हो क्योंकि हो सकता है कि वास्तविक राष्ट्रीय आय बढ़ने पर भी उसका वितरण न्यायपूर्ण नहीं है जिसके फलस्वरूप गरीबों के उपभोग स्तर में किसी प्रकार की वृद्धि न हो।

(ब) उपभोग तथा जीवन स्तर अत्यन्त भ्रामक शब्द हैं जिनकी निरपेक्ष माप सम्भव नहीं है।

(स) कल्याण के दृष्टिकोण से हमें केवल यह नहीं देखना चाहिए कि क्या उत्पादित किया जाता है बल्कि यह भी कि उसका उत्पादन कैसे होता है। वास्तविक राष्ट्रीय उत्पादन के बढ़ने से सम्भव है कि अर्थव्यवस्था में वास्तविक लागतों (पीड़ा और त्याग) और सामाजिक लागतों में वृद्धि हुई हो। उदाहरणार्थ, उत्पादन में वृद्धि अधिकघण्टे तथा श्रम-शक्ति की कार्यकारी अवस्थाओं में गिरावट के कारण हुई हो तो ऐसी स्थिति में उत्पादन बढ़ने पर भी आर्थिक कल्याण में वृद्धि नहीं होगी।

1.20 आर्थिक विकास के सूचक

1950 तथा 1960 के दशकों में ळछच्थ्ळछच प्रति व्यक्ति को आर्थिक विकास का सूचक माना जाता रहा। 1960 के विकास दशक के लिए संयुक्त राष्ट्र ने एक प्रस्ताव द्वारा अल्पविकसित देशों के लिए ळछच में 5 प्रतिशत की वृद्धि दर का लक्ष्य निश्चित किया। इस लक्षित दर को प्राप्त करने के लिए अर्थशास्त्रियों ने शहरीकरण के साथ तीव्र औद्योगिकीकरण का सुझाव दिया। उनका यह मत था कि ळछच की वृद्धि से प्राप्त लाभ अपने-आप रोजगार और आय सुअवसरों में वृद्धि के रूप में गरीबों तक धीरे-धीरे पहुंच जाएंगे। इस प्रकार, विकास के इस माप के अनुसार गरीबी, बेरोजगारी और आय असमानताओं की समस्याओं को गौण महत्त्व दिया गया।

रोस्टोव द्वारा प्रतिपादित विकास के इस एक रेखीय वृद्धि की अवस्थाओं के पथ को नर्क्स के कम बचतों, छोटी मार्किटों तथा जनसंख्या दबावों के कुचक्रों (vicious circles) ने और शक्ति प्रदान की। यह समझा गया कि इन कुचक्रों को दूर करने से प्राकृतिक शक्तियां मुक्त हो जाएंगी जो अर्थव्यवस्था में ऊंची वृद्धि लाएंगी। इसके लिए रोडान ने 'बड़ा धक्का', नर्क्स ने संतुलित विकास, हर्षमैन ने असंतुलित विकास, तथा लीबन्स्टीन ने क्रान्तिक न्यूनतम प्रयत्न सिद्धान्त का सुझाव दिया। परन्तु अल्पविकसित देशों में विकास के लिए पूंजी, तकनीकी ज्ञान, विदेशी विनिमय, आदि के रूप में "लुप्त अंशों" (missing components) को प्रदान करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहायता पर अधिक बल दिया गया। विदेशी सहायता के तर्क के पीछे "दो-अंतराल मॉडल" (two gap model) तथा आयात स्थानापन्नता द्वारा औद्योगिकीकरण था ताकि अल्पविकसित देश धीरे-धीरे विदेशी सहायता का परित्याग कर दें।

डेविड मोरवैट्ज (David Morawetz) के अनुमान यह बताते हैं कि इस विकास कूटनीति के अपनाने से विकासशील देशों में 1950-75 के बीच ळछच प्रति व्यक्ति में 3.4 प्रतिशत प्रति वर्ष औसत दर से वृद्धि हुई। परन्तु यह वृद्धि दर ऐसे देशों की गरीबी, बेरोजगारी तथा असमानताओं की समस्याओं को सुलझाने में असफल रही।

आर्थिक विकास के सूचक के रूप में ळछच के विरुद्ध अर्थशास्त्रियों के बीच आलोचनाएं 1960 की दशाब्दी से बढ़ती जा रही थीं परन्तु सार्वजनिक तौर से प्रथम प्रहार प्रो. डडले सियरज् (Dudley Seers) ने 1969 में नई दिल्ली में आयोजित Eleventh World Conference of the Society for International Development के अध्यक्षीय भाषण में किया। उसने समस्या को इस प्रकार प्रस्तुत किया, "एक देश के विकास के बारे में पूछे जाने वाले प्रश्न हैं–गरीबी को क्या हो रहा है? बेरोजगारी को क्या हो रहा है? असमानता को क्या हो रहा है? यदि ये तीनों ऊंचे स्तरों से कम हुए हैं तो बिना संशय के उस देश के लिए विकास की अवधि रही है। यदि इन मुख्य

नोट

समस्याओं में से एक या दो अधिक बुरी अवस्था में हो रही हैं, विशेषतया तीनों ही, तो परिणाम को 'विकास' कहना आश्चर्यजनक होगा चाहे प्रति व्यक्ति आय दुगुनी हुई हो। उस समय के विश्व बैंक के गर्वनर राबर्ट मैक्कनमारा (Robert McNamara) ने भी फरवरी 1970 में विकासशील देशों में ळछच वृद्धि दर को आंर्थिक विकास के सूचक के रूप में विफलता को इन शब्दों में स्वीकार किया–"प्रथम विकास दशाब्दी में, ळछच में 5 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि दर के प्राथमिक विकास उद्देश्य को प्राप्त किया गया था। यह मुख्य उपलब्धि थी। परन्तु ळछच में सापेक्षतया ऊंची वृद्धि दर विकास में संतोषजनक उन्नति न लाई। विकासशील विश्व में, दशाब्दी के अन्त में, कुपोषण सामान्य है, शिशु मृत्यु दर ऊंची है, अनपढ़ता विस्तृत है, बेरोजगारी स्थानिक रोग है जो और बढ़ रहा है, धन और आय का पुनर्वितरण अत्यन्त विषम है।"

विकास के GNP/GNP प्रति व्यक्ति माप से असंतुष्ट होकर, 1970 की दशाब्दी से अधिक विचारकों ने विकास प्रक्रिया की गुणवत्ता की ओर ध्यान देना प्रारंभ किया है। जिसके अनुसार वे तीन विभिन्न, परन्तु पूरक, रोजगार को बढ़ाने, गरीबी को दूर करने तथा आय और धन की असमानताओं को कम करने के लिए मूलभूत मानवीय आवश्यकताओं (basic human needs) की कूटनीति पर बल देते हैं। इसके अनुसार, जनसाधारण को स्वास्थ्य, शिक्षा, जल, खुराक, कपड़े, आवास, काम आदि के रूप में मूलभूत भौतिक आवश्यकताएं और साथ ही सांस्कृतिक पहचान तथा जीवन और कार्य में उद्देश्य एवं सक्रिय भाग की भावना जैसी अभौतिक आवश्यकताएं प्रदान करना है। मुख्य उद्देश्य गरीबों को मूलभूत मानवीय आवश्यकताएं प्रदान करने उनकी उत्पादकता बढ़ाना और गरीबी दूर करना है। यह तर्क दिया जाता है कि मूलभूत मानवीय आवश्यकताओं का प्रत्यक्ष प्रबंध करने से गरीबी पर थोड़े संसाधनों द्वारा और थोड़े समय में प्रभाव पड़ता है। शिक्षा, स्वास्थ्य और अन्य मूलभूत आवश्यकताओं के रूप में मानव संसाधन विकास से उत्पादकता के उच्च स्तर प्राप्त होते हैं। ऐसा विशेष तौर से वहाँ होता है जहाँ ग्रामीण भूमिहीन अथवा शहरी गरीब पाए जाते हैं तथा जिनके पास दो हाथों और काम करने की इच्छा के सिवाय कोई भौतिक परिसंपत्तियां नहीं होती हैं। इस कूटनीति के अन्तर्गत मूलभूत न्यूनतम आवश्यकताओं के प्रबंध के अलावा, रोजगार के सुअवसरों, पिछड़े वर्गों के उत्थान तथा पिछड़े क्षेत्रों के विकास पर बल देना और उचित कीमतों एवं दक्ष वितरण प्रणाली द्वारा आवश्यक वस्तुओं को गरीब वर्गों को जुटाना है।

विभिन्न अर्थशास्त्रियों, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं, जैसे–विश्व आर्थिक मंच (World Economic Forum), विश्व बैंक (World Bank) आदि ने विभिन्न सामाजिक व आर्थिक निर्देशांकों के द्वारा विभिन्न देशों के आर्थिक विकास के स्तर को मापने का प्रयास किया है। उनमें से कुछ प्रमुख निर्देशांकों (Indices) का अध्ययन हम आगे कर रहे हैं–

(i) **सामाजिक अथवा मूलभूत आवश्यकता सूचक** (Social or Basic Needs Indicator) –विकास के राष्ट्रीय आय प्रति व्यक्ति माप से असन्तुष्ट होकर 1970 की दशाब्दी से आर्थिक विचारकों ने विकास प्रक्रिया की गुणवत्ता की ओर ध्यान देना प्रारम्भ किया है जिसके अनुसार वे तीन विभिन्न परन्तु पूरक, रोजगार को बढ़ाने, गरीबी को दूर करने तथा आय और धन की असमानताओं को कम करने के लिए मूलभूत मानवीय आवश्यकताओं (Basis Human Needs) की कूटनीति पर जोर देते हैं।

इस कूटनीति के अन्तर्गत मूलभूत न्यूनतम आवश्यकताओं के प्रबन्ध के अतिरिक्त रोजगार के सुअवसरों, पिछड़े वर्गों के उत्थान तथा पिछड़े क्षेत्रों के विकास पर बल देना और उचित कीमतों एवं दक्ष वितरण प्रणाली द्वारा आवश्यक वस्तुओं को जुटाना है।

हिक्स और स्ट्रीटन मूलभूत आवश्यकताओं के लिए छः सामाजिक सूचकों पर विचार करते हैं–

नोट

मूल आवश्यकता	सूचक
(1) स्वास्थ्य	जन्म के समय जीवन की प्रत्याशा
(2) शिक्षा	प्राथमिक शिक्षा विद्यालयों में जनसंख्या के प्रतिशत के अनुसार दाखिले द्वारा साक्षरता की दर।
(3) खाद्य	प्रति व्यक्ति कैलोरी आपूर्ति
(4) जल आपूर्ति	शिशु मृत्यु दर तथा पीने योग्य पानी तक कितने प्रतिशत जनसंख्या की पहुँच
(5) स्वच्छता	शिशु मृत्यु दर तथा स्वच्छता प्राप्त जनसंख्या का प्रतिशत
(6) आवास	कोई नहीं

इस प्रकार इस कूटनीति में आय वृद्धि के साथ-साथ गरीबी, बेरोजगारी, स्वास्थ्य व शिक्षा तथा वितरण विषमताओं को दूर करने के उद्देश्यों को यथोचित स्थान दिया गया है। अनेक अर्द्ध-विकसित देशों के हाल के अनुभवों व अध्ययनों की पृष्ठभूमि में इस कसौटी को न्यायसंगत ठहराया गया है।

फाई, रैनिस तथा स्टूवर्ट ने नौ देशों का अध्ययन किया जिसके अनुसार उन्होंने पाया कि (अ) ताईवान, दक्षिण कोरिया तथा इण्डोनेशिया में मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने के साथ-साथ औसत से अधिक आर्थिक विकास हुआ है। (ब) ब्राजील ने मात्र न्यूनतम मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा किया तथा औसत से अधिक आर्थिक विकास किया। (स) सोमानी, क्यूबा, मिस्र तथा श्रीलंका ने मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति बहुत अच्छी तरह से की लेकिन आर्थिक विकास औसत से कम था। (द) केवल एक देश मालदीव ने मात्र न्यूनतम मूलभूत आवश्यकताओं के प्रावधान के साथ औसत से कम आर्थिक विकास प्राप्त किया।

उपर्युक्त अध्ययन के अनुसार फाई, रैनिस तथा स्टुअर्ट इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आर्थिक विकास और मूलभूत आवश्यकताओं की कूटनीति के बीच कोई विवाद नहीं है अर्थात् विकासशील देशों की आर्थिक विकास की दर मूलभूत आवश्यकताओं की कूटनीति द्वारा बढ़ी है।

हम रेखाचित्र 1.6 की सहायता से भी यह स्पष्ट कर सकते हैं कि मूलभूत आवश्यकताओं की कूटनीति, कुल राष्ट्रीय आय, प्रति व्यक्ति आय व आर्थिक कल्याण के मापदण्ड से श्रेष्ठ है। चित्र में (i) ग.अक्ष पर समयावधि और ल. अक्ष पर प्रति व्यक्ति उपभोग (विकास दर) को दर्शाया गया है। (ii) P_1, P_2, P_3 तीन विकास पथ हैं। P_1 पथ का सम्बन्ध कुल राष्ट्रीय आय व प्रति व्यक्ति आय की कूटनीति से है। इस पथ में शुरू में गरीबों में प्रति व्यक्ति उपभोग समय T_1 तकघटता है क्योंकि तेजी से औद्योगीकरण से गरीबी, बेरोजगारी, असमानता बढ़ती है परन्तु जब प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि के लाभ गरीबों तक 'रिस कर' पहुँचते हैं तो उनके रोजगार तथा आय में वृद्धि होती है और समय T_1 के बाद प्रति व्यक्ति उपभोग में भी वृद्धि होनी शुरू हो जाती है।

(iii) पथ P_2 का सम्बन्ध आर्थिक कल्याण की धारणा से है जो गरीबों में प्रति व्यक्ति उपभोग की धीमी वृद्धि को दर्शाता है। यह पथ समय T_2 से पथ P_1 से पीछे रहता है।

नोट

(iv) पथ P_3 मूलभूत आवश्यकताओं की कूटनीति से सम्बन्धित है जिसमें शुरू में गरीबों में उपभोग के मूलभूत न्यूनतम वेतनमान स्तर को प्राप्त करने को उच्च प्राथमिकता दी जाती है जो समय T_3 तक आर्थिक कल्याण तथा प्रति व्यक्ति आय के उपभोग स्तरों से कम रहता है परन्तु दीर्घकाल में जब गरीबों की मूलभूत आवश्यकताओं के पूरा होने के कारण उनकी उत्पादकता तथा आय के स्तरों में वृद्धि हो जाती है तो समय T_3 से आगे आर्थिक विकास तीव्र गति से होने लगता है।

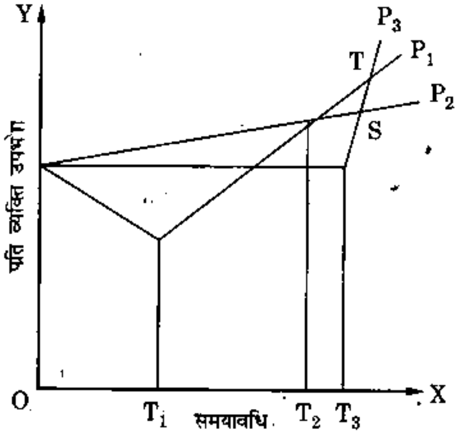

चित्र 1.3

(v) इस प्रकार पथ P_3 पहले पथ P_2 को R बिन्दु पर पीछे छोड़ देता है तथा बाद में S बिन्दु पर पथ P_1 से ऊपर चला जाता है उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मूलभूत आवश्यकताओं की कूटनीति या मापदण्ड कुल राष्ट्रीय आय या प्रति व्यक्ति आय व आर्थिक कल्याण की आर्थिक विकास की कूटनीति से श्रेष्ठ है।

(vi) भौतिक जीवन-कोटि निर्देशांक (Physical Quality of Life Index, POLI)—कुछ विद्वानों के अनुसार भौतिक जीवन-कोटि में सुधार आर्थिक विकास का संकेतक माना है। मारिश डी मारिश ने एक वर्ष पर जीवन प्रत्याशा, बाल मृत्यु दर (Infant Mortality) तथा साक्षरता तीनों को मिलाकर समन्वित निर्देशांक निर्मित किया जिसे उन्होंने जीवन की भौतिक गुणवत्ता निर्देशांक (Physical Quality of Life Index POLI) कहा।

इस कूटनीति या संकेतक से बहुत-से सूचकों, जैसे—स्वास्थ्य, शिक्षा, पेय जल, पोषण तथा स्वच्छता आदि का पता चला है। प्रत्येक सूचक के तीनोंघटकों को शून्य से 100 तक के पैमाने पर रखा गया है। जिसमें शून्य को निम्नतम तथा 100 को सर्वोत्तम प्रदर्शन के रूप में परिभाषित किया गया है। POLI सूचक की गणना तीनोंघटकों को समान भार (Weight) देते हुए औसत निकालकर की जाती है तथा सूचक को भी शून्य से 100 के पैमाने पर रखा गया है। इस निर्देशांक के आधार पर देश में विकास के होने या न होने का पता चलता है। यदि जीवन-निर्देशांक में स्थायी तौर से वृद्धि होती है जो कि तभी सम्भव है, जबकि देश में कुल राष्ट्रीय उत्पादन का वितरण और उपयोग इस ढंग से हो कि अधिकाधिक लोग लाभ उठा सकें और फलस्वरूप शिशु मृत्यु-दरघटे तथा प्रत्याशित आयु और साक्षरता 4बढ़े तो यह इस बात का सूचक होगा कि देश में आर्थिक विकास हो रहा है।

अपने अध्ययन में मैरिस ने यह पाया कि प्रति व्यक्ति आय व POLI के बीच कोई स्वत: तालमेल नहीं होता। उन्होंने पाया कि यद्यपि श्रीलंका का POLI भारत से कहीं अधिक था, जबकि

इसकी औसत प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि दर लगभग भारत के बराबर थी। इसी प्रकार अमेरिका तथा इटली दोनों ही विकसित देशों का POLI काफी ऊँचा था परन्तु इटली की प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि दर अमेरिका से लगभग दुगुनी थी। अत: उनका मत था कि राष्ट्रीय आय या प्रति व्यक्ति आय नहीं बल्कि POLI ही आर्थिक विकास का एक उचित मापदण्ड है।

सीमाएँ

अनेक अर्थशास्त्री इस मापदण्ड की निम्नलिखित आधारों पर आलोचनाएँ करते हैं—

(i) POLI मूल आवश्यकताओं को केवल एक सीमा तक ही माप सकता है।

(ii) यह मापदण्ड सामाजिक और आर्थिक संगठन के बदले हुए ढाँचे को भी नहीं प्रदर्शित करता है। अत: यह आर्थिक विकास को नहीं मापता।

(iii) इसके अन्तर्गत केवल तीन सूचकों को ही लिया गया है और अनेक सूचकों को छोड़ दिया गया है जो जीवन की गुणवत्ता को प्रभावित करते हैं।

(iv) POLI कुल कल्याण को भी नहीं मापता है।

उपर्युक्त सीमाओं के होते हुए भी च्व्स्प जीवन की गुणवत्ताओं को मापता है जो गरीबों के लिए बहुत आवश्यक है। साथ ही यह अल्पविकसित के उन विशेष क्षेत्रों का पता लगाने तथा सामाजिक नीतियों की असफलता तथा उपेक्षा के शिकार समाज के विभिन्न वर्गों की जानकारी प्राप्त करने में सहायक हो सकता है। यह उस सूचक की ओर संकेत करता है जहाँ तत्काल सरकारी हस्तक्षेप व कार्यवाहियों की आवश्यकता होती है। सरकार ऐसी नीतियाँ अपना सकती है जिससे POLI में भी शीघ्र वृद्धि हो तथा आर्थिक विकास भी त्वरित हो।

(i) **क्रयशक्ति समता सूचकांक** (Purchasisng Power Parity Index)—आर्थिक विकास के मापदण्ड के रूप में क्रयशक्ति समता सूचकांक का भी उपयोग किया जाता है। इस सूचकांक का सर्वप्रथम उपयोग अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने किया था। आजकल विभिन्न देशों के रहन-सहन की तुलना के लिए विश्व बैंक द्वारा इस सूचकांक का उपयोग किया जा रहा है।

क्रयशक्ति समता विधि के अन्तर्गत किसी देश की सकल राष्ट्रीय आय को किसी पूर्ण निश्चित अन्तर्राष्ट्रीय विदेशी विनिमय दर पर न व्यक्त करके, उस देश के भीतर मुद्रा की क्रयशक्ति के आधार पर व्यक्त किया जाता है। और विभिन्न देशों के रहन-सहन के स्तर के माप व तुलना के लिए क्रयशक्ति समता स्थापित की जाती है।

क्रयशक्ति समता स्थापित करने की विधि को हम एक उदाहरण द्वारा समझ सकते हैं। मान लीजिए, X तथा Y दो देश हैं जिनका अपनी मुद्रा में प्रति व्यक्ति सकलघरेलू उत्पाद क्रमश: 30 हजार व 35 हजार है। चूँकि दोनों देशों में अलग-अलग मुद्राओं का प्रचलन है। अत: इनकी तुलना तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि इन्हें किसी एक मुद्रा या एक इकाई में बदल नहीं दिया जाता। ऐसा करने के लिए सरल तरीका यह होगा कि दोनों देशों की प्रति व्यक्तिघरेलू उत्पाद को किसी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा जैसे डालर में बदल दिया जाये। मान लीजिए कि दोनों देशों की मुद्राओं के सम्बन्ध में निर्धारित विनिमय दर 1 + = 50 है। ऐसी स्थिति में X देश की प्रति व्यक्ति आय 600 डालर तथा Y देश

नोट

की प्रति व्यक्ति आय 700 डालर होगी। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चूँकि Y देश में प्रति व्यक्ति की आय अधिक है। इसलिए वहाँ के निवासियों का रहन-सहन का स्तर ऊँचा है।

परन्तु उपर्युक्त निष्कर्ष जिसमें डालर के रूप में प्रति व्यक्ति आय के आधार पर व्यक्तियों का रहन-सहन या उपभोग का स्तर मापा गया है, यह आवश्यक नहीं है कि वहाँ के निवासियों के जीवन स्तर का सही चित्र प्रस्तुत करे क्योंकि हो सकता है, दोनों देशों में मुद्रा (डालर) की क्रयशक्ति अलग हो जिसमें उनकी वास्तविक आय पृथक्-पृथक् होगी। वस्तुतः रहन-सहन का स्तर वास्तविक आय पर निर्भर करता है और यदि दोनों देशों में डालर की क्रयशक्ति समान नहीं है तो डालर के रूप में व्यक्त की गयी प्रति व्यक्ति आय भ्रामक निष्कर्ष दे सकती है। उदाहरण के लिए, यदि X देश में एक डालर की क्रयशक्ति 20 वस्तुओं व सेवाओं की इकाई है और Y देश में 10 वस्तुओं व सेवाओं की इकाई है तो वास्तविक रूप में परिवर्तित करने पर X देश की प्रति व्यक्ति आय 12,000 वस्तुएँ व सेवाएँ तथा Y देश की प्रति व्यक्ति आय 7,000 वस्तुएँ व सेवाएँ होगी। इस आधार पर सही निष्कर्ष यह प्राप्त होता है कि X देश में उपभोग का स्तर Y देश के उपभोग के स्तर से ऊँचा है। इसीलिए अर्थशास्त्रियों ने क्रयशक्ति समता सूचकांक (Purchasing Power Parity Index) तैयार किया जिसके आधार पर क्रयशक्ति समता के रूप में विभिन्न देशों की प्रति व्यक्ति आय को विश्व बैंक व्यक्त करता है। क्रयशक्ति समता के आधार पर भारत की प्रति व्यक्ति आय 1998 में 1,700 डालर थी और इस आधार पर भारतीय अर्थव्यवस्था विश्व की चौथी बड़ी अर्थव्यवस्था है परन्तु अधिकांश अर्थशास्त्री क्रयशक्ति समता सूचकांक को आर्थिक विकास की मापन की एक अच्छी विधि नहीं मानते हैं।

(ii) मानव विकास सूचकांक (Human Development Index, HDI)—सयुंक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (United Nations Development Programme, UNDP) के साथ जुटे हुए अर्थशास्त्री महबूबल हक ने विकास के एक सर्वमान्य सूचकांक को विकसित करने की दिशा में सबसे पहले प्रयास शुरू किया। उनके कहने पर नोबल पुरस्कार से सम्मानित प्रो. ए. के. सेन तथा प्रो. सिंगर हंस के नेतृत्व में अर्थशास्त्रियों के एक समूह ने मानव विकास सूचकांक (HDI) विकसित किया।

(HDI) की पूरी धारणा इस मान्यता पर आधारित है कि "किसी राष्ट्र में रहने वाले लोग ही उस राष्ट्र की वास्तविक सम्पत्ति हैं।" आर्थिक विकास का मूल उद्देश्य एक ऐसा वातावरण तैयार करना है जिससे लोग लम्बे, स्वस्थ्य तथा सृजनात्मक जीवन का आनन्द उठा सकें।

मानव विकास प्रतिवेदन के अनुसार "मानव विकास लोगों की पसन्दगियों के विस्तृत करने की एक प्रक्रिया है।" ये पसन्दगियाँ अनेक हो सकती हैं और इन पसन्दगियों में समय के साथ परिवर्तन हो सकता है, पर विकास के प्रत्येक स्तर पर तीन आवश्यक पसन्दगियाँ है और ये हैं—लम्बी और स्वस्थ जिन्दगी जीने की इच्छा, ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा और एक खूबसूरत जिन्दगी व्यतीत करने के लिए आवश्यक संसाधनों तक पहुँचने की इच्छा। यदि ये तीनों पसन्दगियाँ उपलब्ध नहीं है तो व्यक्ति को अनेक अवसरों से वंचित होना पड़ेगा। अतः व्यक्ति को एक खूबसूरत जिन्दगी व्यतीत करने के लिए (अ) आवश्यकताओं

नोट

को सन्तुष्ट करने के लिए आय, (ब) शिक्षा तथा (स) स्वास्थ्य आवश्यक है। इस प्रकार भ्क्ष तीन आधारभूत पहलुओं में उपलब्धियों का एक मिश्रित सूचक है–एक लम्बा व स्वस्थ जीवन, शिक्षा या ज्ञान तथा उत्कृष्ट जीवन स्तर।

मानव विकास सूचकांक का निर्माण–किसी देश के HDI का मूल्य निकालने के लिए तीन सूचकों को लिया जाता है–

(1) दीर्घायु जिसे जन्म के समय जीवन की सम्भाव्यता द्वारा मापा जाता है–25 वर्ष तथा 85 वर्ष।

(2) शैक्षिक योग्यताओं की प्राप्ति जिसे व्यस्क शिक्षा (दो-तिहाई भार) तथा प्राथमिक, माध्यमिक व क्षेत्रीय विद्यालयों में उपस्थित अनुपातों (एक-तिहाई भार) के मिश्रण अनुपात–0% से 100%।

(3) जीवन स्तर जिसे डालर की क्रयशक्ति समता (Purchasing Power Parity) पर आधारित वास्तविक प्रति व्यक्ति GDP द्वारा मापा जाता है।

HDI जीवन की सम्भाव्यता सूचक, शैक्षिक प्राप्तियाँ सूचक तथा समायोजित वास्तविक प्रति व्यक्ति GDP सूचक का सरल औसत सूचक है। इसकी गणना इन तीनों संकेतकों के योग को 3 से विभाजित कर निकाली जाती है। इसमें प्रत्येक चर का न्यूनतम तथा अधिकतम मूल्य स्थिर है जिसेघटाकर शून्य (0) तथा एक (1) के बीच पैमाने पर रखा गया है तथा प्रत्येक देश इस पैमाने के किसी न किसी बिन्दु पर आता है। ऐसे देश जिनका HDI मूल्य 0.5 से कम है, उन्हें निम्न स्तर के मानव विकास क्रम में रखा जाता है तथा 0.5 से 0.8 मूल्य वाले देशों को मध्यम तथा 0.8 से ऊपर HDI मूल्य वाले देश उच्च स्तर में गिने जाते हैं। HDI में देशों को उनके प्रति व्यक्ति GDP के आधार पर भी क्रमबद्ध किया जाता है।

(iv) **अन्य निर्देशांक** (Other Index)–विश्व आर्थिक मंच (World Economic Forum) ने भी आर्थिक विकास के मापक निर्देशांक सुझाए हैं जिसमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं–

(अ) **प्रौद्योगिकी निर्देशांक** (Technology Index)–यह निर्देशांक किसी देश में प्रौद्योगिकी के स्तर का मापन करता है। इसके अन्तर्गत विदेश से प्रौद्योगिको का आयात और नवोन्मेष (Innovation) में देशों की भागीदारी को भी सम्मिलित किया जाता है। जिस देश का प्रौद्योगिकी निर्देशांक क्रम निर्धारण में जितना ही कम होता है, उसे उतना ही अधिक विकसित माना जाता है, उदाहरण के लिए, विश्व आर्थिक मंच (World Economic Forum) द्वारा सर्वेक्षित कुल 59 देशों में अमेरिका का प्रौद्योगिकी निर्देशांक 1 था और भारत का 38 था।

(ब) **स्टार्ट-अप निर्देशांक** (Start-up Index)–यह कारोबार को शुरू करने की अनुकूल स्थितियों का मापन करती है। जिस देश का स्टार्ट-अप निर्देशांक जितना ही कम होगा, उस देश में उद्योग शुरू करने की स्थितियाँ उतनी ही अनुकूल होंगी।

(स) **आर्थिक सृजनात्मक निर्देशांक** (Economic Creativity Index)–यह निर्देशांक प्रौद्योगिकी निर्देशांक और स्टार्ट-अप निर्देशांक दोनों की सूचना एक साथ देता है। यह एक साथ देता है। यह निर्देशांक हमें यह बताता है कि किसी देश में प्रौद्योगिकी के स्तर और नवोन्मेष की क्या स्थिति है और देशों में व्यवसाय शुरू

करने की स्थितियाँ कहाँ तक अनुकूल हैं। यह निर्देशांक क्रम निर्धारण में जितना ही कम होगा, वह देश उतना ही अधिक विकसित होगा।

नोट

कुछ चुने हुए देशों के विभिन्न आर्थिक विकास मापक निर्देशांक नीचे सारणी 1.3 में दिये जा रहे हैं–

सारणी 1.3: विभिन्न सामाजिक-आर्थिक सूचकांकों पर आधारित चुनिन्दा देशों का क्रम निर्धारण

सूचकांक	भारत	सिंगापुर	चीन	पाकिस्तान	श्रीलंका	अफ्रीका दक्षिण	मैक्सिको	अमेरिका	जापान	सर्वेक्षित देशों की कुल संख्या
(1) मानव विकास सूचकांक (1998)	128	24	99	135	84	103	55	3	9	174
(अ) जीडीपी (पीपीपी) 0.51	0.51	0.92	0.57	0.47	0.57	0.74	0.73	0.95	0.91	174
सूचकांक										
(ब) शिक्षा सूचकांक	0.55	0.86	0.79	0.44	0.83	0.88	0.84	0.97	0.94	174
(स) जीवन प्रत्याशा	0.63	0.87	0.75	0.66	0.81	0.47	0.75	0.86	0.92	174
सूचकांक										
(2) आर्थिक रचनात्मक सूचकांक (2000)	38	3	48	–	–	26	35	1	21	59
(v) प्रौद्योगिक सूचकांक (2000)	38	3	47	–	–	32	11	1	6	59
(ब) स्टॉर्ट-अप सूचकांक (2000)	38	7	46	–	–	19	51	1	37	59
(3) विकास प्रतिस्पर्द्धात्मकता सूचकांक (2000)	49	2	41	–	–	33	43	1	21	59

(द) **संवृद्धि स्पर्द्धात्मक निर्देशांक** (Growth Competitive Index)–इसका उद्देश्य उनघटकों को मापना होता है जो किसी अर्थव्यवस्था की आर्थिक विकास की गति त्वरित करते हैं। इस निर्देशांक में उन परिवर्तनों को जो (1) उत्पादकता स्तर (Productivity Level), (2) संचय की उच्च दरों व नवोन्मेष (High Rate of Accumulation and Innovation) तथा (3) उत्पादकता में सुधार आदि को ध्यान में रखकर तैयार किया जाता है। जिस देश का यह निर्देशांक जितना कम होगा, वह देश उतना ही अधिक विकसित होगा।

नोट

1.21 आर्थिक विकास का अर्थ एवं परिभाषा

आर्थिक विकास वह प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत मानवीय प्रयत्नों द्वारा कोई देश अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में उत्पादन एवं उत्पादकता में वृद्धि कर अपनी वास्तविक प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि करते हुए देश में गरीबी और आर्थिक विषमता को समाप्त कर जीवन-स्तर में सुधार लाने का प्रयास करता है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गयी आर्थिक विकास की प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं–

1. **मायर एवं बाल्डविन** (Meier and Baldwin) के अनुसार, "आर्थिक विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें दीर्घकाल में किसी अर्थव्यवस्था की वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है।"
2. **प्रो. डब्ल्यू. डब्ल्यू. रोस्टोव** (W. W. Rostow) के अनुसार, "आर्थिक विकास एक ओर पूंजी व कार्यशील शक्ति में वृद्धि की दरों के मध्य और दूसरी तरफ जनसंख्या वृद्धि की दर के मध्य एक ऐसा सम्बन्ध है जिससे कि प्रति व्यक्ति उत्पादन में वृद्धि होती है।"
3. **प्रो. यंगसन** (Youngson) के अनुसार, "आर्थिक प्रगति का तात्पर्य किसी समाज से सम्बन्धित आर्थिक उद्देश्यों को प्राप्त करने की शक्ति में वृद्धि करना है।"
4. **डब्ल्यू. ए. लेविस** (W. A. Lewis) के अनुसार, "आर्थिक विकास प्रति व्यक्ति उत्पादन की मात्रा में वृद्धि को बताता है। प्रति व्यक्ति उत्पादन वृद्धि एक ओर उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों पर एवं दूसरी ओर मानवीय व्यवहार पर निर्भर होता है।"
5. **प्रो. विलियमसन** (Williamson) के अनुसार, "आर्थिक विकास अथवा संवृद्धि से तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसमें किसी देश अथवा क्षेत्र के निवासी उपलब्ध संसाधनों का उपयोग प्रति व्यक्ति वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन में निरन्तर वृद्धि के लिए करते हैं।"
6. **हार्वे लीबिन्सटीन** (Harvey Leibenstein) के अनुसार, "विकास में किसी अर्थव्यवस्था के प्रति व्यक्ति, वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन करने की शक्ति में वृद्धि करना निहित है।"
7. **डी. ब्राइट सिंह** (D. Bright Singh) के अनुसार, "यह (आर्थिक विकास) एक बहु आयामीघटना है जिसके अन्तर्गत केवल मौद्रिक आय में होने वाली वृद्धि ही शामिल नहीं होती बल्कि वास्तविक आदतें, शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, अधिक आराम के साथ-साथ एक पूर्ण एवं सुखी जीवन का निर्माण करने वाले समस्त सामाजिक एवं आर्थिक सुधार भी शामिल रहते हैं।"
8. संयुक्त राष्ट्र संघ की एक रिपोर्ट के अनुसार, "विकास, मानव की केवल भौतिक आवश्यकताओं से ही नहीं; बल्कि उसके जीवन की सामाजिक दशाओं की उन्नति से भी सम्बन्धित होना चाहिए। इस तरह, विकास में सामाजिक, सांस्कृतिक, संस्थागत तथा आर्थिक परिवर्तन भी शामिल होने चाहिए।"

उपरोक्त परिभाषाओं की मूल धारणाओं को मिलाकर आर्थिक विकास की एक उपयुक्त परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है–

"आर्थिक विकास वह सतत प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत देश में उपलब्ध समस्त संसाधनों का कुशलतापूर्वक विदोहन होता है, जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय में निरन्तर एवं दीर्घकालीन वृद्धि होती है, आर्थिक विषमता में कमी आती है, सामान्य जनता के जीवन स्तर एवं कल्याण में बढ़ोतरी होती है।"

नोट

आर्थिक विकास की विभिन्न परिभाषाओं के अध्ययन से इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं–

1. **आर्थिक विकास एक सतत प्रक्रिया है**–आर्थिक विकास एक सतत एवं निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय में क्रमशः वृद्धि होती रहती है। विकास की इस प्रक्रिया में वस्तुओं की मांग एवं संसाधनों की पूर्ति में निरन्तरता बनी रहती है। विकास की प्रक्रिया में जनता की आय में परिवर्तन, वस्तु के वितरण की विधियों में परिवर्तन, जनसंख्या की संरचना में परिवर्तन तथा उपभोक्ताओं की रुचियों में परिवर्तन होता रहता है जिससे वस्तुओं की मांग में परिवर्तन की निरन्तरता बनी रहती है। इसी प्रकार उत्पादन के साधनों की पूर्ति यथा–जनसंख्या, उत्पादन के साधनों, पूंजी, उत्पादन की तकनीक तथा अन्य संस्थागत परिवर्तनों में भी निरन्तरता बनी रहती है। इस तरह, जैसे-जैसे किसी देश के आर्थिक विकास की प्रक्रिया आगे बढ़ती जाती है वैसे-वैसे पूर्ति के साधनों एवं मांग में परिवर्तन होता जाता है।
2. **वास्तविक राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होती है**–आर्थिक विकास के फलस्वरूप वास्तविक राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होती है। वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि से अभिप्राय किसी राष्ट्र द्वारा एक वर्ष में उत्पादित समस्त वस्तुओं एवं सेवाओं के विशुद्ध मूल्य में होने वाली वृद्धि से लगाया जाता है न कि मौद्रिक आय में वृद्धि से। चूंकि आर्थिक विकास मापने का आधार राष्ट्रीय आय को ही माना जाता है, अत : किसी देश का आर्थिक विकास तभी समझा जाएगा जब उस देश में वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन में निरन्तर वृद्धि होती रहे। कुल राष्ट्रीय उत्पादन में से मूल्य ह्रास कोघटाने के उपरान्त जो बचता है, उसे विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन कहा जाता है। जब राष्ट्रीय आय में कुल जनसंख्या से भाग दिया जाता है तब भागफल प्रति व्यक्ति औसत आय कहलाता है। आर्थिक विकास की प्रक्रिया में वास्तविक राष्ट्रीय आय के साथ-साथ प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होती रहती है।
3. **दीर्घकालीन प्रक्रिया**–आर्थिक विकास की यह प्रक्रिया निरंतरता लिए दीर्घकाल तक चलनी चाहिए। यदि किन्हीं विशिष्ट कारणों से कुछ समय के लिए राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो जाती है तो उसे आर्थिक विकास नहीं कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी वर्ष ठीक समय और अच्छी वर्षा हो जाती है तो कृषि उत्पादन बढ़ जाता है जिससे राष्ट्रीय आय भी बढ़ जाती है परन्तु उसे आर्थिक विकास नहीं समझना चाहिए क्योंकि विकास आकस्मिक न होकर एक दीर्घकालीन प्रक्रिया है।
4. **संसाधनों का समुचित विदोहन**–आर्थिक विकास की प्रक्रिया में देश में उपलब्ध संसाधनों का कुशलतापूर्वक विदोहन किया जाता है।
5. **जीवन स्तर तथा सामान्य कल्याण में सुधार**–आर्थिक विकास के फलस्वरूप जन साधारण के जीवन-स्तर में सुधार आता है, आर्थिक विषमता में कमी आती है तथा सरकार द्वारा शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि जन-कल्याण कार्यक्रमों में वृद्धि की जाती है जिससे लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठता है।

1.22 आर्थिक विकास में मानव संसाधन अथवा जनसंख्या का योगदान

किसी देश के आर्थिक विकास में मानव संसाधनों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि आर्थिक विकास के लिए मानव संसाधन प्राकृतिक संसाधनों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित विद्वानों के विचार उल्लेखनीय हैं :

हार्बिन्सन एवं मायर्स के अनुसार, "आधुनिक राष्ट्रों का निर्माण मनुष्यों के विकास एवं मानवीय क्रियाओं के संगठन पर निर्भर करता है। निःसंदेह पूंजी, प्राकृतिक संसाधन, विदेशी सहायता और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आर्थिक विकास में अपनी भूमिका निभाते हैं, परन्तु इनमें से कोई इतना महत्वपूर्ण नहीं जितना मानव शक्ति।"

प्रो. ह्विपल (Whipple) के अनुसार, "एक राष्ट्र की वास्तविक सम्पत्ति उसकी भूमि, जल वनों, खानों, पशु-पक्षियों अथवा डालरों में निहित होती है, बल्कि उस राष्ट्र के समृद्ध तथा प्रसन्नचित पुरुषों, स्त्रियों एवं बच्चों में निहित है।" प्रो. रिचर्ड टी. गिल (R. T. Gill) के अनुसार, "आर्थिक विकास एक यन्त्रीकृत प्रक्रिया नहीं है। यह एक मानव उपक्रम है तथा अन्य समस्त मानवीय उपक्रमों की तरह इसका परिणाम उन व्यक्तियों की योग्यता, गुण एवं दृष्टिकोण पर निर्भर करता है जो इसे अपने हाथों में लेते हैं।"

इस तरह, मानव संसाधन आर्थिक विकास के अन्य संसाधनों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। आज आर्थिक विकास के नए-नए संसाधनों की खोज, गगनचुम्बी इमारतों व विशालकाय फैक्ट्रियों का निर्माण, पर्वतों का वक्ष छेदन, सागर एवं अन्तरिक्ष विजय, वेगवती नदियों के जल को नियन्त्रित करने वाले बांध, पृथ्वी के गर्भ से निकाली गयी विशाल खनिज सम्पदा आदि सब मानवीय प्रयासों एवं संकल्प शक्ति की देन हैं।

स्पष्टतया, जनसंख्या आर्थिक विकास को गतिशील बनाने में सहायक है। जनसंख्या वृद्धि प्रारम्भ में आर्थिक विकास पर अनुकूल प्रभाव डालती है। इससे श्रमशक्ति में वृद्धि होती है जिससे प्राकृतिक संसाधन का उचित विदोहन होने लगता है। देश के कुल उत्पादन एवं प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होती है और देश आर्थिक विकास के पथ पर अग्रसर होता है। जनसंख्या आर्थिक विकास में सहायक है। इस मत को व्यक्त करने वालों में प्रमुख हैं–(प्रो. हेन्सन, आर्थर लुइस, कोलिन क्लार्क तथा ई. एफ. पेनरोज आदि) प्रो. हेन्सन के अनुसार, "जनसंख्या वृद्धि आर्थिक विकास की एक पूर्व शर्त है।" प्रो. हर्ष मेन के अनुसार, "जनंसख्या का दबाव आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करता है।"

किसी देश की समृद्धि में वहां की जनसंख्या सहायक होती है। परन्तु इस तस्वीर का दूसरा रुख भी है। यदि जनसंख्या आर्थिक विकास का एक प्रभावी स्रोत है तो कुछ दशाओं में वह आर्थिक विकास के मार्ग में आने वाली प्रमुख बाधा भी है। जब जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ने लगती है तो अर्थव्यवस्था आर्थिक विकास के आदर्श अनुपात से दूर हट जाती है जिससे देश में नयी समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं तथा पूर्व की छोटी-छोटी समस्याएं बृहद् तथा जटिल हो जाती हैं इस तरह जनसंख्या आर्थिक विकास में सहायक तत्व के रूप में होने के स्थान पर बाधक तत्व बन जाती है। रिचर्ड गिल के अनुसार, "जनसंख्या वृद्धि का राष्ट्रीय उत्पादन तथा प्रति व्यक्ति आय पर अन्तिम प्रभाव धनात्मक, ऋणात्मक अथवा तटस्थ होगा, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि जनसंख्या वृद्धि का स्वरूप क्या है और वह किन दशाओं में हो रही है।" यदि उच्च प्रजनन-दर के कारण जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि हो रही है जिसके कारण देश में आश्रितों की संख्या बढ़ रही है

नोट

तो इससे उत्पादक जनसंख्या की बजाय देश में उपभोक्ताओं की संख्या अधिक होगी और कुल मिलाकर प्रति व्यक्ति उत्पादन पर, ऋणात्मक प्रभाव पड़ेगा। इसके विपरीत, यदि जनसंख्या की आयु संरचना अनुकूल है तो इसका आर्थिक विकास पर धनात्मक प्रभाव पड़ेगा। पुनः जनसंख्या वृद्धि का आर्थिक विकास पर प्रभाव इस बात पर भी निर्भर करता है कि देश में प्रौद्योगिकी स्तर, विकास की अवस्था, पूंजी निर्माण की दर, जनशक्ति का स्वरूप, नवप्रवर्तन के लिए प्रेरणा और बाजार का स्वरूप क्या है। तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या आर्थिक विकास के मार्ग में एक प्रबल बाधा के रूप में खड़ी हो जाती है। प्रो. सिंगर (Singer) के अनुसार, "जनसंख्या वृद्धि आर्थिक विकास पर नकारात्मक प्रभाव डालती है; बचत की दर को कम करती है तथा विनियोजन की उत्पादकता को कम करती है।" प्रो. सिंगर यह मत व्यक्त करते हैं कि आर्थिक विकास तभी हो सकता है जबकि उत्पादन में वृद्धि की दर जनसंख्या विकास की दर से अधिक हो। उन्होंने आर्थिक विकास की दर, बचतों की दर, विनियोग की उत्पादकता और जनसंख्या वृद्धि की दर के बीच के सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए निम्न समीकरण को प्रस्तुत किया है–

$D = S.P - r$

उपरोक्त समीकरण में,

D = आर्थिक विकास की दर

S = शुद्ध बचतों की दर (अथवा बचत-आय अनुपात)

P = नए विनियोग की उत्पादकता

r = जनसंख्या वृद्धि की दर

इस तरह, आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि बचतें बढ़ें विनियोग बढ़े, उत्पादन बढ़े तथा जनसंख्या में वृद्धि की दरघटे।

इसी तरह प्रो. मायर कहते हैं कि, "अल्प विकसित देशों में तीव्र दर से बढ़ती जनसंख्या, पूंजी को बढ़ाने वाले निवेशों और नव प्रवर्तनों को हतोत्साहित करती है, पूंजी संचय की दर को कम करती है, निस्सारक उद्योगों (Extractive Industries) में लागतों को बढ़ाती है, अर्द्ध बेरोजगारी के आकार में वृद्धि करती है और बहुत हद तक पूंजी को शिशुओं के भरण-पोषण की ओर ले जाती है जो उत्पादक आयु तक पहुंचने से पहले ही मर जाते हैं। इसी प्रकार, राष्ट्रीय संसाधन पूंजी निर्माण में न जाकर जनसंख्या निर्माण में स्वाहा हो जाते हैं। इस तरह जनसंख्या वृद्धि आर्थिक विकास में बाधक है।

इस तरह, जनसंख्या की वृद्धि और आर्थिक विकास के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों ने परस्पर विरोधी विचार व्यक्त किए हैं। कुछ अर्थशास्त्री बढ़ती हुई जनसंख्या को आर्थिक विकास में सहायक मानते हैं तो कुछ इसे आर्थिक विकास में बाधक बताते हैं। इस सम्बन्ध में कुछ प्रमुख विद्वानों के विचार निम्नलिखित हैं :

1.23 प्रो. कोल एवं हूवर के विचार

प्रो. कोल एवं हूवर ने जनसंख्या एवं आर्थिक विकास के परस्पर सम्बन्धों का अध्ययन निम्न दो शीर्षकों के अन्तर्गत किया है–

(अ) आर्थिक विकास का जनसंख्या वृद्धि पर प्रभाव (The Effects of Economic Development on Population Growth) आर्थिक विकास के जनसंख्या वृद्धि पर पड़ने

नोट

वाले प्रभावों का अध्ययन जन्म, मृत्यु तथा प्रवास के माध्यम से किया जा सकता है। भारत जैसे विकासशील देशों में आय का स्तर निम्न होता है अत: अन्तर्राष्ट्रीय प्रवास इन देशों में कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं निभा पाता है। माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त (जिसे जनसंख्या का क्लासिकल सिद्धान्त भी कहा जाता है) इस बात का पक्षधर है कि आय में वृद्धि के साथ-साथ जन्म दर में वृद्धि होती है जबकि मृत्य दरघट जाती है।

माल्थस के उपरान्त जन्म दर तथा मृत्यु दर का आर्थिक विकास से सम्बन्ध की व्याख्या जनसंख्या के संक्रमण सिद्धान्त के माध्यम से की गयी। इसके अनुसार परम्परागत कृषि प्रधान देशों में मृत्यु दर ऊंची होती है जो फसलों के उत्पादन में होने वाले उतार-चढ़ावों के साथ ही साथ महामारी आदि के द्वाराघटती-बढ़ती रहती है। जन्म दर प्राय: उच्च स्तर पर ही स्थिर रहती है। धार्मिक विश्वास, सामाजिक मान्यताएं एवं कृषि की आवश्यकता उच्च जन्म दर का कारण होती हैं। ऊंची जन्म दर तथा ऊंची मृत्यु दर के फलस्वरूप जनसंख्या वृद्धि की शुद्ध दर बहुत नीची होती है।

जनसंख्या संक्रमण सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक विकास के साथ-साथ मृत्यु दर में गिरावट आती जाती है। आर्थिक विकास के फलस्वरूप श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण में वृद्धि होती है, मशीनों तथा अन्य उपकरणों का प्रयोग बढ़ता है, यातायात व संचार के माध्यमों तथा नगरीकरण में वृद्धि होती है। स्वास्थ्य, सफाई एवं चिकित्सा सुविधाओं, शिक्षा, आवास, सन्तुलित भोजन, वस्त्र, आदि सुविधाओं का विकास होता है जिससे कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। कोल एवं हूवर के शब्दों में, "संयुक्त राष्ट्र संघ के जनसंख्या विभाग के मतानुसार यूरोपीय संस्कृति वाले क्षेत्रों में अठारहवीं शताब्दी एवं उनीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मृत्यु दर में कमी मुख्य रूप से आर्थिक सुधारों के प्रत्यक्ष प्रभावों के कारण हुई तथा उनीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मृत्यु दर में कमी आयुर्विज्ञान एवं सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधाओं में सुधार के फलस्वरूप हुई।"

रोजगार वैयक्तिक होने लगता है, महिलाओं की गतिशीलता बढ़ जाती है, बच्चे अब सम्पत्ति न होकर दायित्व हो जाते हैं। इन सबके परिणामस्वरूप परिवार का छोटा होना आवश्यक हो जाता है। इस तरह, जन्म दर में धीरे-धीरे कमी होने लगती है।

इस सिद्धान्त की सार्थकता उन सभी देशों के आर्थिक इतिहास से पुष्ट हो जाती है जो प्राचीन से आज के आधुनिक औद्योगिक देशों में परिवर्तित हुए हैं। परन्तु यह सिद्धान्त जन्म एवं मृत्यु दरों में कब और कितनी कमी होगी, इसके बारे में कुछ नहीं कहता। यह सिद्धान्त इस तथ्य को स्पष्ट करने में भी असमर्थ है कि जन्म दर तथा मृत्य दर के बीच समयान्तर (Time lag) कितना होगा? जबकि इस अवधि में जनसंख्या वृद्धि सबसे अधिक होती है।

चूंकि विकासशील देशों को भी पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्था से विकसित अर्थव्यवस्था में पदार्पण करना है, अत: इस दृष्टि से भारत के सन्दर्भ में जनांकिकीय संक्रमण सिद्धान्त की व्यावहारिकता एवं उपादेयता का अध्ययन करना उचित होगा। अनेक विकासशील देशों यथा—भारत, श्रीलंका, मलेशिया तथा कुछ दक्षिण अमेरिकी देशों ने अपनी कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था के स्वरूप को बनाए रखते हुए मृत्यु दर में कमी कर ली है। जबकि जनांकिकीय संक्रमण सिद्धान्त के अनुसार जब समाज कृषि अर्थव्यवस्था की अवस्था से

नोट

औद्योगिक अर्थव्यवस्था की स्थिति में प्रवेश करता है तब मृत्यु दरघटती है। प्रो. कोल एवं हूवर का विचार है कि, "पर्याप्त मात्रा में आर्थिक सुधार मृत्यु दर में कमी के लिए एक महत्वपूर्ण शर्त है। परन्तु आधुनिक जगत में यह एक अनिवार्य शर्त नहीं है।" उनकी धारणा है कि मृत्यु दर में भारी गिरावट के लिए तीन कारक उत्तरदायी हो सकते हैं–

(i) एण्टीबायोटिक एवं कीटनाशक दवाओं का विकास।

(ii) प्रभावशाली जन स्वास्थ्य संगठनों द्वारा पिछड़े देशों में भी कार्य करना।

(iii) सफाई के सस्ते तरीकों का उपलब्ध होना।

विकसित देशों की अपेक्षा विकासशील देशों में मृत्यु दर में गिरावट अधिक तेजी से हुई है। यह गिरावट विकासशील देशों के आर्थिक ढांचे में परिवर्तन के बिना आई है। अत: यह कहा जा सकता है कि मृत्यु दर के सम्बन्ध में हमारा अनुभव विकासशील देशों पर लागू होना आवश्यक नहीं है। अब यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या विकसित देशों की प्रजनन-दर के अनुभवों की पुनरावृत्ति विकासशील देशों में सम्भव है? इस सम्बन्ध में कोल एवं हूवर का कथन है कि, "जनांकिकीय संक्रमण सिद्धान्त का कोई भी प्रकाशित रूपान्तरण ठीक ढंग से यह स्पष्ट नहीं करता है कि जन्म दर की कमी के लिए कौन सी दशाएं आवश्यक हैं, इसके अलावा क्या ये दशाएं सम्बन्धित क्षेत्र में विशेष अन्तराल में उपलब्ध होंगी।"

संभावत: मृत्यु दर में कमी ही जन्म दर में कमी का कारण है। चूंकि अधिकांश मृत्यु, जन्म के प्रारम्भिक वर्षों में होती है अत: जब जन्म के पश्चात मृत्यु की सम्भावना अधिक होती है तो प्रसव भी अधिक होते हैं। इसके विपरीत यदि जन्म के पश्चात शिशु के जीवित रहने की सम्भावना अधिक होती है तो प्रसव भी कम होते हैं। इस तरह, जन्म दर में कमी के लिए न तो नगरीकरण आवश्यक है और न ही प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि ही जन्म दर में कटौती के लिए आवश्यक है।

इस तरह, निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि विकसित देशों के जन्म दर तथा मृत्यु दर सम्बन्धी अनुभवों की पुनरावृत्ति होने की सम्भावना विकासशील देशों में नहीं होती है। अब मृत्यु दर में कमी होने की सम्भावनाएं अधिक हैं क्योंकि स्वास्थ्य सेवाओं को सस्ती दरों पर जनसाधारण को सहजता से उपलब्ध कराया जा सकता है। यदि मृत्यु दर में तो पर्याप्त गिरावट आ जाए तो परन्तु जन्म दर में कमी न आए तो जनसंख्या बीस से पच्चीस वर्षों की अवधि में दुगनी हो जाएगी। यदि मृत्यु दर में कमी के साथ ही साथ आर्थिक विकास नहीं हुआ तब नीची मृत्यु दर को बनाए रखना सम्भव नहीं होगा। अत: मृत्यु दर को नीचा बनाए रखने के लिए आर्थिक विकास की दर को तीव्र करना होगा। इससे जन्म दर स्वत: कम हो जाएगी। कोल एवं हूवर के शब्दों में, "कम लागत पर उपलब्ध आधुनिक सार्वजनिक स्वास्थ्य की विधियों के माध्यम से निम्न मृत्यु दरों को प्राप्त कर सकने के साथ इस प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं की जन्म दर सम्बन्धी विशेषताओं के रहते हुए जनसंख्या बीस से पच्चीस वर्षों में दुगनी हो जाएगी। यदि मृत्यु दर में कमी के पूर्व आर्थिक विकास नहीं हुआ है, तब यदि मृत्यु दर की कमी को बनाए रखना है तो अब आर्थिक विकास को होना आवश्यक है।"

(ब) जनसंख्या वृद्धि का आर्थिक विकास पर प्रभाव (The Effects of Population Growth on Economic Development) आज विकासशील देश तीव्र गति से आर्थिक विकास हेतु प्रयासरत हैं। इन देशों को अपने प्रयास में सफलता भी प्राप्त हो रही है। परन्तु इन देशों को तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या का भी सामना करना पड़ रहा है। तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या इन देशों के आर्थिक विकास के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा बनकर खड़ी हो गयी है। इस द्रुत गति से बढ़ती हुई जनसंख्या के फलस्वरूप इन देशों में आर्थिक विकास के प्रयास आशातीत सफलता नहीं प्राप्त कर पा रहे हैं। जनसंख्या वृद्धि आर्थिक विकास को किस तरह प्रभावित करती है, इसका अध्ययन करना आवश्यक है।

सामान्य रूप से जनसंख्या के तीन पहलू यथा—जनसंख्या का आकार, जनसंख्या की वृद्धि दर तथा जनसंख्या का आयु-वितरण, प्रति व्यक्ति आय को प्रभावित करते हैं। जनसंख्या के आकार एवं प्रति व्यक्ति आय के बीच सम्बन्ध की विवेचना जनसंख्या के अनुकूलतम सिद्धान्त में की गयी है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होती है तो आर्थिक विकास पर अनुकूल प्रभाव पड़ेगा। इसके विपरीत, यदि जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ प्रति व्यक्ति आयघटती जाती है तो आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। यहां यह उल्लेखनीय है कि पैमाने का प्रतिफल (Returns to scale) केवल श्रमपूर्ति की मात्रा पर ही निर्भर नहीं करता है बल्कि अन्य अनेक तत्वों के द्वारा प्रभावित होता है। यथा—पूर्णरूप से निरक्षर जनसंख्या की प्रति व्यक्ति आय कम होगी और इसके विपरीत यदि जनसंख्या साक्षर व शिक्षित हो जाये तो प्रति व्यक्ति आय बढ़ जायगी। इसी तरह, कार्यक्षमता, पूंजी की उपलब्धता, अनुसन्धान, अविष्कार तथा नवप्रवर्तन आदि अनेक ऐसे तत्व हैं जो प्रति व्यक्ति आय को प्रभावित करते हैं।

बढ़ती जनसंख्या के साथ प्रति व्यक्ति आय के स्तर को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि अब पहले से अधिक मात्रा में साधनों का विनियोग किया जाए। परन्तु जनसंख्या बढ़ने के साथ विनियोग के बढ़ने की अपेक्षाघटने की सम्भावना अधिक रहती है क्योंकि अब बचतों का प्रयोग उपयोग में किया जाने लगता है। कीन्स के विश्लेषण के अनुसार जनसंख्या में वृद्धि के फलस्वरूप मांग में वृद्धि होगी जिससे विनियोग प्रोत्साहित होंगे। परन्तु कीन्स का विश्लेषण विकासशील देशों में नहीं लागू होता है। विकासशील देशों में ऐसे अप्रयुक्त बचत कोष नहीं होते हैं जो कि प्रोत्साहन अथवा लाभ की ऊंची दरों की प्रतीक्षा कर रहे हों।

जनसंख्या वृद्धि से अर्थव्यवस्था में आवश्यक विनियोग की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों में जनसंख्या वृद्धि अर्थव्यवस्था में विनियोग की आवश्यकता को उसकी विनियोग करने की क्षमता से अधिक बढ़ाकर विकास की दर पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है। तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या जनांकिकीय विनियोग की आवश्यकता को बढ़ाती है जबकि दूसरी ओर वह लोगों की बचत करने की क्षमता को कम करती है। कोल एवं हूवर के अनुसार, "जनसंख्या की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि जनसंख्या वृद्धि की ऊंची दर एक निश्चित प्रति व्यक्ति उत्पादन को प्राप्त करने

नोट

के लिए आवश्यक विनियोग की मात्रा को बढ़ा देती है। जबकि विनियोग योग्य साधनों की पूर्ति में वृद्धि करने के लिए वह कुछ भी नहीं करती है।"

इस तरह, आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी अर्थव्यवस्थाओं में जनसंख्या वृद्धि के फलस्वरूप विनियोग योग्य कोषघट जाते हैं। वह निवेश जो बढ़ती हुई जनसंख्या के भरण पोषण अथवा उसके वर्तमान स्तर को बनाए रखने के लिए आवश्यक हैं उसे जनांकिकीय विनियोग के नाम से जाना जाता है। विनियोग की यह मात्रा जनसंख्या वृद्धि की दर से निर्धारित होती है। यदि जनसंख्या वृद्धि की दर बहुत ऊंची होती है तो कुल विनियोग का एक बहुत बड़ा भाग, जनांकिकीय विनियोग में लग जाता है तथा आर्थिक विनियोग के लिए बहुत कम बच पाता है जिससे लोगों के रहन-सहन के स्तर में बहुत सुधार होना सम्भव नहीं हो पाता।

अनुमान है कि यदि जनसंख्या में प्रति वर्ष एक प्रतिशत की दर से वृद्धि हो रही है तो प्रति व्यक्ति आय के वर्तमान स्तर को बनाए रखने के लिए 2.5 प्रतिशत पूंजी विनियोग आवश्यक होता है।

अधिक जनसंख्या प्रति व्यक्ति पूंजी की उपलब्धता को कम कर देती है। जनसंख्या का आकार जितना बड़ा होता है, प्रति व्यक्ति पूंजी की उपलब्धता उतनी ही कम हो जाती है। विकासशील देशों के सन्दर्भ में यह बात उचित प्रतीत होती है क्योंकि ऐसे देशों में पूंजी की कमी रहती है तथा उसकी पूर्ति प्राय: बेलोचदार होती है। कोल एवं हूवर के अनुसार, "यदि हम प्रभावपूर्ण मांग की समस्या की तरफ ध्यान न दें तब जनसंख्या की तीव्र वृद्धि श्रमशक्ति की औसत उत्पादकता को बढ़ाने तथा प्रति व्यक्ति औसत आय में वृद्धि करने के लिए उपलब्ध पूंजी की मात्रा को कम करने की प्रवृत्ति रखती है।"

विकासशील देशों की आयु संरचना में बच्चों की संख्या अधिक होती है। इसके परिणामस्वरूप आश्रित अनुपात ऊंचा होता है जो विकास के मार्ग में बाधक होता है। यदि किसी देश में बच्चों की संख्या अधिक है तो वहां कार्यशील जनसंख्या कम होगी। इस प्रकार की जनसंख्या में बचतें कम तथा उपभोग अधिक होगा। इसके कारण पूंजी निर्माण कम होगा जिससे आर्थिक विकास की दर भी कम रहेगी।

इस तरह विकासशील देशों में जनसंख्या का आकार, वृद्धि की दर तथा जनसंख्या की आयु संरचना तीनों ही आर्थिक विकास में बाधक होते हैं।

1.24 एल्विन हैन्सेन के विचार

जनसंख्या एवं आर्थिक विकास के सम्बन्ध में नवकेन्सवादी अर्थशास्त्री एल्विन हैन्सेन ने एडम स्मिथ के इस विचार का समर्थन किया कि बढ़ती हुई जनसंख्या ही विकसित देशों के लिए उपयुक्त है। एडम स्मिथ की धारणा थी कि जनसंख्या वृद्धि आर्थिक विकास को प्रभावित करती है तथा स्वयं आर्थिक विकास से प्रभावित भी होती है। उनके अनुसार बढ़ती जनसंख्या से श्रम विभाजन में वृद्धि होती है, उत्पादन व उत्पादकता बढ़ती है। आविष्कार करने की योग्यता बढ़ती है। देश में मजदूरी कोष में वृद्धि होती है तथा बाजार का विस्तार होता है। इस तरह एडम स्मिथ के विचार पूर्ण आशावादी थे। एल्विन हैन्सेन ने एडम स्मिथ की विचारधारा का समर्थन करते हुए माल्थस एवं रिकार्डो द्वारा जनसंख्या एवं आर्थिक विकास के सम्बन्ध में व्यक्त की गई निराशावादी धारणा ही आलोचना की

तथा इनकी विचारधारा को आधारहीन बताया। हैन्सन का कथन है कि बढ़ती हुई जनसंख्या से मांग में वृद्धि होती है, श्रमपूर्ति में कमी नहीं आ पाती, विशिष्टता एवं कार्यक्षमता बढ़ती तथा विनियोजन एवं रोजगार के अवसरों में वृद्धि होती है। हैन्सेन ने अपने विचार को केन्द्रीय विचारधारा के आधार पर आगे बढ़ाया। कीन्स का तर्क था कि जनसंख्या केघट जाने से प्रभावपूर्ण मांग कम हो जाती है। इससे विनियोजकों को विनियोजन के अवसर कम मिलते हैं। विनियोजन में कमी आने से निराशा का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। बेरोजगारी बढ़ती है जिससे लोगों की आय कम हो जाती है। आय कम होने से मांगघट जाती है तथा मन्दी का चक्र प्रारम्भ हो जाता है। यही विचार व्यक्त करते हुए हैन्सेन कहते हैं, "यह मेरा बढ़ता हुआ विश्वास है कि जनसंख्या केघटने का तथा साथ ही साथ नव प्रवर्तन न होने का सम्मिलित प्रभाव यह होता है कि मन्दी की स्थिति पूर्णतया समाप्त होकर, पूर्ण रोजगार की स्थिति तक नहीं पहुंच पाती है.........आज विकसित देशों मेंघटती हुई विनियोजन की सम्भावनाओं का मुख्य कारणघटती हुई जनसंख्या व बसने के लिए नए क्षेत्रों का पता लगाने की सम्भावनाओं की समाप्ति है।" हैन्सेन की धारणा है कि 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका में 60 प्रतिशत पूंजी निर्माण जनसंख्या वृद्धि के ही कारण हुआ। इसी तरह यूरोप में भी 40 प्रतिशत पूंजी निर्माण जनसंख्या वृद्धि के कारण हुआ। इस आधार पर हैन्सेन इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि विकास के लिए जनसंख्या में वृद्धि होना आवश्यक है।

हैन्सेन ने बताया कि अमेरिका में 1930 की महान आर्थिक मन्दीघटती हुई जनसंख्या के फलस्वरूप ही आई थी।घटती हुई जनंसख्या से ही मन्दी की तीव्रता बढ़ गयी थी तथा तेजी आने में देर हुई थी।

हैन्सेन का विचार था किघटती हुई जनसंख्या से नए-नए आविष्कार करने तथा विनियोजन करने की प्रेरणा कम हो जाती है। इसके फलस्वरूप रोजगार के अवसर तथा आय कम हो जाती है अथवा धीमी गति से बढ़ती है। इस तरह, बेरोजगारी स्थायी रूप से बनी रहती है। आय कम होने से मांग पुन: कम हो जाती है। इस तरह का चक्र चल पड़ता है जिसके कारण आर्थिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। इसे "Acceleration-decelaration Principle" कहा जाता है। हैन्सेन तथा उनके अन्य समर्थकों का तर्क है कि नए मकानों का निर्माण भी प्रत्यक्षत: जनसंख्या वृद्धि पर निर्भर करता है। इसके विपरीत, जनसंख्या केघटने से इस कार्य में विनियोजन कम हो जाता है। जनसंख्या के कम होने पर न केवल मकानों का निर्माण अवरुद्ध हो जाता है बल्कि अन्य सार्वजनिक निर्माण के कार्यों पर भी विनियोजन कम होने लगता है। जनसंख्या कम होने पर आवश्यक उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन भीघट जाता है। इसके अतिरिक्त, स्कूलों, कारखानों, अस्पतालों, आदि पर भी विनियोजन कम होने लगता है। सबसे गम्भीर बात यह होती है किघटती जनसंख्या से मांग में कमी हो जाने के कारण लोगों में निराशा तथा अवसाद की भावना उत्पन्न हो जाती है। जनसंख्याघटने से अथवा जनसंख्या पर नियन्त्रण लगाने से समाज में जवानों की संख्या कम तथा बूढ़े लोगों की संख्या बढ़ने लगती है। इस तरह, बूढ़े आश्रितों की संख्या बढ़ने से देश की कार्यक्षमताघट जाती है जिससे पूंजी निर्माण की प्रक्रिया बाधित होती है।

हैन्सेन का विचार है कि यह बात बहुत ही सहज है कि जिस देश में जनसंख्या वृद्धि हो रही होती है उस देश में आवास, यातायात, संदेशवाहन, जीवन-यापन की आधुनिक सुख-सुविधाओं तथा सार्वजनिक सेवाओं एवं अन्य वस्तुओं की सुविध ाओं में वृद्धि के लिए बहुत अधिक मात्रा में पूंजी की आवश्यकता होती है। 19वीं शताब्दी में इतनी अधिक पूंजी का निर्माण केवल तकनीकी प्रगति

नोट

के कारण ही नहीं हुआ बल्कि इसके लिए जनसंख्या में होने वाली वृद्धि ही अधिक उत्तरदायी थी। जनसंख्या के आकार एवं वृद्धि से ही देश में उत्पादित वस्तुओं की मात्रा व प्रकृति निर्भर करती है। स्थिर जनसंख्या अथवा धीमी गति से बढ़ती जनसंख्या की तुलना में बढ़ती हुई तीव्र गति से जनसंख्या अधिक उत्पादन के लिए प्रेरणा प्रदान करती है। इस तरह, बढ़ती हुई जनसंख्या सदैव आर्थिक विकास को गति प्रदान करती है।

बेन्जामिन हिगिन्स (B. Higgins) भी हैन्सेन के विचारों का समर्थन करते हैं। उनका कथन है कि औद्योगिक क्रान्ति के दौरान जनसंख्या में होने वाली प्रत्येक वृद्धि से प्रति व्यक्ति आय में बढ़ोतरी हुई क्योंकि उस दौरान तकनीकी प्रगति तथा नवीन साधनों की खोज के फलस्वरूप जनसंख्या अनुकूलतम स्तर से कम ही रही। जनसंख्या वृद्धि के साथ विनियोजन, रोजगार एवं आय में वृद्धि हुई। जनसंख्या वृद्धि से बाजार का विस्तार होता है, यातायात सेवाओं एवं उच्च स्तर की वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि होती है। इसी तरह अपना मत व्यक्त करते हुए डी. एच. हैण्डरसन (D. H. Handerson) कहते हैं किघटती हुई जनसंख्या आने वाले समय में गम्भीर सामाजिक एवं आर्थिक कठिनाइयां उत्पन्न करेगी। इससे विशिष्टता प्राप्त श्रमिकों की पूर्ति में कमी आएगी जिससे प्रगति तथा विकास की प्रक्रिया धीमी पड़ जाएगी तथा बाधित होगी।घटती हुई जनसंख्या के प्रति चिन्ता व्यक्त करते हुए जी. मिर्डल (G. Myrdal) कहते हैं कि, "विकासशील पूंजीवादी प्रणाली में प्रगतिशील जनसंख्या विकास की प्रथम आवश्यकता है।घटती हुई जनसंख्या से सभी तरफ विनियोगन का जोखिम बढ़ जाता है।"

इसी तरह, Jones, Dalay, Ardart, Barbar Mathews, Kurihara, Gorbett आदि अर्थशास्त्रियों का भी स्पष्ट मत था कि बढ़ती हुई जनसंख्या आर्थिक विकास के लिए आवश्यक प्रावैगिक शक्ति तथा उत्प्रेरकघटक है।घटती हुई जनसंख्या के फलस्वरूप तकनीकी प्रगति, विनियोजन, रोजगार, राष्ट्रीय आय तथा राष्ट्र की कार्यक्षमता सबघट जाती है। इस तरह हैन्सेन के अनुसार जनसंख्या वृद्धि तथा आर्थिक विकास के मध्य धनात्मक सह-सम्बन्ध पाया जाता है।

1.25 अगस्ट लोश के विचार

जर्मन अर्थशास्त्री अगस्ट लोश ने अपनीघटती जनसंख्या पर अपने विचार व्यक्त करते हुए स्पष्ट किया कि घटती जन्म दर मन्दी का सबसे बड़ा कारण है। उन्होंने मत व्यक्त किया कि जनसंख्या के बढ़ने से आर्थिक विकास में तेजी आती है। एक बार तेजी की दशा उत्पन्न हो जाने पर यदि जनसंख्या बढ़ती रहती है तो तेजी की स्थिति बनी रहती है। यदि जनसंख्या में वृद्धि होती रहती है तो तकनीक प्रगति एवं नव प्रवर्तन के अभाव में भी विकास की प्रक्रिया चलती रह सकती है। बढ़ती जनसंख्या तो स्वयं में ही बाजार के विस्तार की गारण्टी है। जनसंख्या बढ़ने से बाजार में संकुचन का भय नहीं रहता है। ऐसी दशा में अकुशल साहसी भी उत्पादन कार्य में डटे रहते हैं क्योंकि उन्हें भी विस्तृत बाजार के कारण कुछ न कुछ लाभ अवश्य प्राप्त हो जाने की उम्मीद रहती है। लोश (स्वेबी) के शब्दों में, "मैं इस बात का पक्षधर हूँ कि जर्मनी में अधिकांश व्यापार चक्रों के समय तथा आकार का निर्धारण मुख्य रूप से श्रम की पूर्ति में आए उच्चावचनों से हुआ है। किसी देश के आर्थिक जीवन में सर्वाधिक निर्णयात्मक कारक उसकी जनसंख्या का आकार, उसके लोग तथा उसकी संख्या है।"

आर्थिक विकास की जनसंख्या पर भले ही कुछ कम प्रभाव पड़े परन्तु जनसंख्या का आर्थिक विकास पर सकारात्मक प्रभाव अवश्य ही पड़ता है। लोश का विचार है कि जन्म-दर के बढ़ने से भौतिक वस्तुओं के निर्माण की क्रियाएं बढ़ जाती हैं जिससे रोजगार की सम्भावनाएं भी बढ़ जाती

हैं। जनसंख्या जब बढ़ेगी भवन निर्माण, मशीनों एवं वस्तुओं के निर्माण में वृद्धि होगी। इन क्रियाओं से समाज में आशावादी विचारधारा उत्पन्न होती है। इसके विपरीत, यदि जन्म दर में कमी आ जाती तो उक्त लाभों की सम्भावना समाप्त हो जाएगी तथा समाज में निराशा की भावना व्याप्त हो जाएगी और इस तरह सर्वप्रथम पूंजीगत वस्तुओं–मशीनों आदि के निर्माता और इसके उपरान्त उपभोग्य वस्तुओं के निर्माता मन्दी का शिकार हो जाते हैं।

विकसित देशों मेंघटती हुई जनसंख्या से न केवल चक्रीय बेरोजगारी फैलती है वरन् संरचनात्मक बेरोजगारी भी फैलती है।घटती ज़नसंख्या से कुछ उद्योगों में अति उत्पादन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिससे उनमें संरचना सम्बन्धी असाम्य (Structural disequilibrium) के कारण बेरोजगारी फैल जाती है।

1.26 साइमन कुजनेट्स के विचार

जनसंख्या और आर्थिक विकास के सम्बन्ध में अपने मत व्यक्त करते हुए साइमन कुजनेट्स स्पष्ट करते हैं कि 18वीं शताब्दी के अन्त तक जनसंख्या के सम्बन्ध में जो भी जानकारी प्राप्त हुई है, उससे यह पता नहीं चल पाता है कि जनसंख्या में वृद्धि के साथ-साथ प्रति व्यक्ति आय अथवा राष्ट्रीय आय में कमी आयी है। विकसित देशों में राष्ट्रीय आय में कमी अथवा वृद्धि का प्रमुख कारण कीमतों में उतार-चढ़ाव अथवा निराशावाद या आशावाद या व्यापार चक्र का प्रभाव है तथा पिछड़े देशों में राष्ट्रीय आय अथवा प्रति व्यक्ति आय में कमी का प्रमुख कारण सूखा, बाढ़, आदि प्राकृतिक आपदाएं हैं। प्रो. कुजनेट्स के शब्दों में, "सबूतों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आधुनिक काल में जनसंख्या वृद्धि के साथ ही अनेक देशों में समग्र उत्पादन में भी वृद्धि हुई है। इस वृद्धि के फलस्वरूप प्रति व्यक्ति आय में भी चक्रीय वृद्धि हुई है।" साइमन कुजनेट्स का विचार है कि बढ़ती हुई जनसंख्या प्राकृतिक संसाधनों एवं मानवकृत पूंजी पर दबाव बढ़ाती है। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न जनसंख्याघनत्व वाले देशों में आर्थिक विकास की दर भी भिन्न-भिन्न है परन्तु आंकड़े इस बात की पुष्टि नहीं कर पाते कि जहां जनसंख्या का दबाव अधिक है वहां विकास की दर कम है तथा जहां दबाव कम है वहां विकास की दर अधिक है यद्यपि जनसंख्या वृद्धि के कुप्रभावों की चर्चा बहुत की जा रही है परन्तु जनसंख्या वृद्धि के आर्थिक विकास पर पड़ने वाले सकारात्मक प्रभाव, कुप्रभावों की अपेक्षा अधिक प्रभावकारी होते हैं। जनसंख्या वृद्धि के कुछ महत्वपूर्ण धनात्मक प्रभाव निम्नवत हैं–

1. **जनसंख्या का उत्पादन में योगदान**–जनसंख्या में वृद्धि से श्रम-शक्ति बढ़ती है, श्रम-विभाजन बढ़ता है तथा श्रमिकों की गतिशीलता बढ़ जाती है। इससे कुल उत्पादन तथा प्रति श्रमिक उत्पादन में वृद्धि होती है। परन्तु यह सब तभी सम्भव है जबकि श्रमिकों के लिए रोजगार के अवसर उपलब्ध हों, अशोषित पूंजी पड़ी हो तथा पूंजी-उत्पाद अनुपात स्थिर रहे। जनसंख्या बढ़ने से उन प्राकृतिक संसाधनों का भी विदोहन होने लगता है जो अब तक अछूते पड़े थे। नए-नए क्षेत्रों के शोषण के लिए श्रमिकों को पहले की अपेक्षा अधिक क्षमतावान तथा कार्यकुशल होना पड़ेगा।

   घाटे में चलने वाली आर्थिक इकाइयों को लाभ की स्थिति में लाने के लिए अधिक कार्यकुशल तथा दक्ष श्रमिकों की आवश्यकता होती है। जनसंख्या में वृद्धि होने से शिक्षण एवं प्रशिक्षण सुविधाओं में वृद्धि होगी, तकनीकी क्षेत्र में प्रगति होगी समाज में वैज्ञानिकों,

नोट

इंजीनियरों प्रबन्धकों तथा अन्य बुद्धिजीवियों की संख्या में वृद्धि हो जाएगी। साइमन कुजनेट्स का विचार है कि जिस अनुपात में जनसंख्या बढ़ती है उसी अनुपात में बुद्धिमान व्यक्तियों की संख्या भी बढ़ती है, नए-नए आविष्कार होते हैं। अनुसन्धान एवं ज्ञान किसी कारखाने या राष्ट्र सीमाओं से बंधा नहीं रह सकता। अतः एक प्रतिभा द्वारा किए गए आविष्कार से जो लागतघटती है उसे विश्व के कुछ श्रमिकों से गुणा करके हम कुल लागत में कमी मालूम कर सकते हैं। अतः जनसंख्या को किसी देश के उत्पादन को बढ़ाने, लागत को कम करने तथा प्रति व्यक्ति आय को बढ़ाने के साधन के रूप में देखना चाहिए, बाधक के रूप में नहीं।

2. **जनसंख्या वृद्धि एवं पूंजी निर्माण**—कुजनेट्स की धारणा है कि जनसंख्या वृद्धि के फलस्वरूप नवीन आविष्कार, प्रतिभा तथा ज्ञान में वृद्धि तभी हो सकती है जबकि उस बढ़ी हुई जनसंख्या के लिए शिक्षा की व्यवस्था किया जाना सम्भव हो सके। साधारणतया एक 10 बच्चों वाला पिता अपने सभी बच्चों को उचित शिक्षा नहीं दे पाएगा। वह अपनी आय में से बचत नहीं कर पाएगा। अतः वह उतना विनियोग नहीं कर पाएगा जितना कि एक कम बच्चे वाला पिता कर सकता है। यह तर्क एक विकासशील अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में तो सही जान पड़ता है परन्तु विकसित देश में इस तरह की कमी को राजकोषीय नीति द्वारा पूरा किया जा सकता है। जहां तक पूंजी निमार्ण का प्रश्न है, बढ़ती हुई जनसंख्या बचत व विनियोग कोघटा देती है परन्तु विकसित देशों में आय एवं व्यय सम्बन्धी आंकड़ों का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि जब परिवार का खर्च बढ़ जाता है तो लोग आराम को कम करके खाली समय का सदुपयोग करते हैं, बचतों का अपव्यय नहीं करते हैं, विलासिताओं पर व्यय न करके बच्चों की आवश्यकताओं पर होने वाले व्यय को प्राथमिकता देते हैं। इस तरह, बच्चों की संख्या में वृद्धि, कार्य करने, बचत तथा विनियोग करने की इच्छा में वृद्धि करती है। कुछ बचतें ऐसी होती हैं जिन्हें अनिवार्य रूप से करना पड़ता है, जैसे भविष्य निधि, अनिवार्य बचत, भविष्य की अनिश्चितता तथा वृद्धावस्था के लिए जमा आदि, ये बचतें रोजगार की मात्रा में वृद्ध के साथ बढ़ती जाएंगी। प्रो. कुजनेट्स का मत है कि जनसंख्या बढ़ने से प्रारम्भ में पूंजी की पूर्तिघटती है। पूंजी दुर्लभ तथा महंगी हो जाने से ऐसे नवीन आविष्कार होने लगते हैं जिससे कम पूंजी पर ही अधिक उत्पादन होने लगता है। इस तरह, पूंजी का प्रतिफल बढ़ने पर, पूंजी निर्माण में स्वतः वृद्धि होने लगती है। अतः यह कहना उचित नहीं है कि जनसंख्या वृद्धि का पूंजी निर्माण पर सदैव प्रतिकूल प्रभाव ही पड़ता है।

3. **जनसंख्या वृद्धि का उपभोग पर प्रभाव**—कुजनेट्स का विचार है कि जब जनसंख्या बढ़ती है तब पूंजी निर्माण में कमी नहीं आती है तथा प्रति व्यक्ति उत्पादन भी नहींघटता है। इससे श्रमिकों की मांग में वृद्धि होती है। जब अधि क लोग उत्पादन कार्य में भाग लेंगे तो स्वभावतः वे अपनी अर्जित आय को उपभोग पर व्यय करेंगे। इस तरह उपभोक्ता वस्तुओं का मांग में वृद्धि होगी। इस दशा में उपभोक्ता वस्तुओं की मांग उस स्थिति से अधिक होगी जब जनसंख्या स्थिर रहती है अथवाघटने लगती है। साइमन कुजनेट्स के शब्दों में, "तेज़ी से बढ़ती हुई जनसंख्या की उपभोक्ता वस्तुओं की मांग, स्थिर जनसंख्या अथवा धीमी गति से बढ़ती हुई जनसंख्या की अपेक्षा अधिक होती है।"

बढ़ती हुई जनसंख्या से नवयुवक उपभोग के बाजार में सम्मिलित हो जाते हैं। उनकी व्यय प्रवृत्ति अधिक होती है। वे नवीन वस्तुओं तथा फैशन के प्रति सहजता से आकर्षित हो जाते हैं तथा बचत के प्रति वे अधिक ध्यान नहीं देते हैं। इसके परिणामस्वरूप, उपभोग में भारी वृद्धि होती है। जिस समाज में जनसंख्या तेजी से बढ़ती है वहां बच्चों का अनुपात अधिक होने से उपभोग्य वस्तुओं की मांग में तेजी से वृद्धि होती है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि बढ़ती हुई जनसंख्या के फलस्वरूप उत्पादन, बचत तथा उपभोग में वृद्धि होती है। इस प्रकार, मांग एवं पूर्ति दोनों में वृद्धि होती है तथा आर्थिक सन्तुलन आगे बढ़ता जाता है। इसे आर्थिक विकास होना कहा जा सकता है। प्रो. लेविस आदि विचारकों को मानना है कि ऐसी अर्थव्यवस्था में जिसमें एक तरफ पूंजीवादी क्षेत्र तथा दूसरी और जीवन निर्वाह क्षेत्र अर्थात ग्रामीण क्षेत्र है तब, प्रथम क्षेत्र के विकसित होने पर सम्पूर्ण क्षेत्र का विकास स्वतः ही होता है। पूंजीवादी क्षेत्र में होने वाला विकास सदैव ऊंची मजदूरी तथा ऊंचा प्रतिफल देता रहेगा तथा जीवन निर्वाह क्षेत्र (ग्रामीण कृषि क्षेत्र) उन्हीं मूल्यों को धीरे-धीरे अपनाता रहेगा। इस तरह जनसंख्या में होने वाली वृद्धि से ग्रामीण क्षेत्रों में मजदूरी की दरें नीची रहती हैं जिसके परिणामस्वरूप नगरों में विकास की दर ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में कुछ अधिक होती है।

1.27 प्रो. जे. के. गैलब्रेथ के विचार

प्रो. जे. के. गैलब्रेथ ने आर्थिक विकास की समस्याओं तथा आर्थिक विकास में जनसंख्या की भूमिका की विवेचना की तथा मत व्यक्त किया कि किसी देश की निर्धनता के लिए निम्न आठ प्रमुख कारक उत्तरदायी हैं–

(1) किसी देश के नागरिकों की निर्धनता का प्रथम कारण यह है कि वे प्रायः अपने को गरीब व्यक्ति के रूप में ही प्रदर्शित करते हैं और अपनी तुलना सदैव अपने से धनी व्यक्ति से ही करते हैं। वे अपनी प्रगति के लिए निरन्तर प्रयास करते रहते हैं, इस तरह के प्रयास महत्वाकांक्षी व्यक्ति ही कर सकते हैं। स्वय को निर्धन मानना तथा धनी बनने की इच्छा रखना ही लोगों को महत्वाकांक्षी बनाता है।

(2) किसी देश के निर्धन होने का दूसरा कारण उस देश में प्राकृतिक संसाधनों को अभाव है। प्राकृतिक संसाधनों का अभाव समृद्ध बनने का अवसर कम कर देता है। परन्तु स्विटजरलैण्ड तथा इजरायल ऐसे देश हैं जिनकी कर्तव्यपरायण एवं परिश्रमी जनता ने इस बात को झुठला दिया है कि वे ही देश सम्पन्न हो सकते हैं जिन देशों में प्राकृतिक संसाधनों की प्रचुरता है। वास्तव में किसी देश को समृद्धशाली बनाने में दोघटक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं–प्रथम प्राकृतिक संसाधन तथा द्वितीय मानव संसाधन। इनमें मानव संसाधनघटक अधिक महत्वपूर्ण होता है। यदि किसी देश के नागरिक आर्थिक विकास के लिए कृत संकल्प हैं तथा त्याग एवं परिश्रम के लिए सदैव तत्पर हैं तो उसका विकास अवश्यम्भावी है।

(3) औपनिवेशिक शोषण भी किसी देश की निधर्नता का एक प्रमुख कारण होता है। विश्व के अनेक राष्ट्र जो आज आर्थिक दृष्टि से पिछड़े तथा गरीब हैं, उनकी निर्धनता का सबसे प्रमुख कारण उनकी सैकड़ों वर्षों की विदेशी दासता रही है। विदेशी शासन काल में उन देशों के नागरिकों की निरन्तर उपेक्षा, तिरस्कार तथा शोषण होता रहा जिससे वहां की जनसंख्या का नैतिक एवं आत्मबल समाप्त हो गया।

नोट

(4) इन देशों में गरीबी, वर्ग-शोषण का परिणाम भी हो सकती है। कुछ व्यक्तियों की सम्पन्नता अन्य व्यक्तियों की निर्धनता का कारण हो सकती है।

(5) इन देशों की निर्धनता का एक प्रमुख कारण पूंजी की अपर्याप्तता भी है। यदि किसी देश में प्रति व्यक्ति आय कम है तो बचत भी कम होगी, बचत कम होने से विनियोग कम होगा जिसके परिणामस्वरूप विकास भी कम होगा। परन्तु ईरान, इराक, सऊदी अरब तथा वैनेजुएला, आदि देशों में खनिज तेलों की अधिकता से वहां पूंजी की कमी नहीं है फिर भी इन देशों के अधिकांश निवासी निर्धन हैं।

(6) निर्धन देशों की निर्धनता का छठा प्रमुख कारण इन देशों में उपयुक्त आर्थिक नीति का अभाव होना है। निर्धन देशों में उपयुक्त आर्थिक नीति के अभाव में इन देशों में कीमतों में तो तेजी से वृद्धि हो जाती है परन्तु उसी अनुपात में उत्पादन में वृद्धि नहीं हो पाती है। इन देशों में परिश्रमी व्यक्तियों को कार्य करने के लिए किसी तरह का प्रोत्साहन नहीं मिलता है तथा आय का एक बड़ा भाग उन लोगों द्वारा हड़प लिया जाता है तो उत्पादन में किसी तरह का योगदान नहीं करते।

(7) निर्धनता का सातवां कारण इन देशों में व्याप्त अज्ञानता है। सामान्यतया विश्व के निर्धन देशों में साक्षरता का प्रतिशत बहुत नीचा रहता है जबकि विकसित देशों में साक्षरता का प्रतिशत बहुत ऊंचा रहता है। प्रो. गैलब्रेथ के शब्दों में, "यह तथ्यपूर्ण एवं स्वयं सिद्ध है कि विश्व में कहीं भी साक्षर जनसंख्या वास्तव में गरीब नहीं है तथा निरक्षर जनसंख्या कहीं भी सम्पन्न नहीं है।"

(8) अति जनसंख्या भी गरीबी का कारण है। भारत तथा एशिया के अधिकांश देशों में, गांवों में, रोजगार के उपयुक्त अवसरों का अभाव है। जिस कार्य को पूरा करने में परिवार के सभी सदस्य लगे रहते हैं, उसे वास्तव में केवल दो लोग ही पूरा कर सकते हैं। अन्य शब्दों में, यदि व्यक्ति कम होते तो प्रति व्यक्ति उत्पादन अधिक होता। इसके विपरीत, पश्चिम के विकसित देशों में प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुरूप उत्पादन करता है तथा जब वह व्यक्ति उत्पादन कार्य से विरत हो जाता है तब उत्पादन भी उतनी मात्रा में कम हो जाता है। भारत जैसे देशों में यदि व्यक्ति गांव छोड़कर शहर चले जाते हैं तो गांव के उत्पादन में कोई कमी नहीं आती है। इस तरह, गांवों में ऐसे लोगों के श्रम की सीमान्त उत्पादकता शून्य है।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि किसी देश के आर्थिक पिछड़ेपन के लिए कोई एक कारण जिम्मेदार न होकर सम्मिलित रूप से अनेक कारण जिम्मेदार हैं। अत: किसी एक कारक को हल करने से समस्या का समाधान नहीं हो सकता। यदि किसी देश में अज्ञानता व्याप्त हो, तकनीकी ज्ञान का अभाव हो तो पूंजी की कमी न होने पर भी वहां आर्थिक पिछड़ेपन को दूर करना सहज नहीं होगा। इसी तरह, यदि भूमि व्यवस्था में जमींदारी, पूंजी व्यवस्था में महाजनी तथा श्रम व्यवस्था में ठेकेदारी प्रथा लागू है तो क्रमश: कृषकों, व्यापारियों तथा श्रमिकों में अधिक परिश्रम करने की प्रेरणा नहीं विकसित हो पाएगी। इसका कारण यह है कि कृषि सुधारों के प्रतिफल कृषकों, व्यापारियों तथा श्रमिकों को न प्राप्त होकर क्रमश: जमींदारों, महाजनों तथा ठेकेदारों को प्राप्त होंगे।

अत: यदि हमें यह जानना है कि किसी देश के तीव्र आर्थिक विकास हेतु किन-किनघटकों एवं तत्वों में परिवर्तन लाया जाना है तो इसके लिए यह पता लगाना महत्वपूर्ण होगा कि उस देश

के पिछड़ेपन के लिए कौन-कौन से कारक जिम्मेदार हैं। इन कारकों को जान लेने के उपरान्त ही उन्हें दूर करने के उपाय किए जा सकते हैं। सामान्यतया भौतिक साधनों (यथा–खाद, बीज, सिंचाई के साधन, बांध बनाना, उद्योगों हेतु मशीनों का प्रबन्ध करना) की व्यवस्था करना सहज होता है। परन्तु मानवीय मूल्यों में परिवर्तन लाकर उसे विकास के अनुकूल बनाना अपेक्षाकृत कठिन कार्य है। मानवीय मूल्यों के अन्तगर्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण, महत्वाकांक्षी, परिश्रमी, संघर्षशील एवं ईमानदार श्रम शक्ति तथा कुशल प्रशासन आदि का समावेश किया जाता है।

इस तरह, आर्थिक विकास के लिए मानवीय मूल्यों का विकास किया जाना आवश्यक होता है। प्रो. गैलब्रेथ के अनुसार, "न केवल जनसंख्या की योग्यता में सुधार (स्वास्थ्य, शिक्षा आदि) वरन् उसकी संख्यात्मक वृद्धि को रोकना भी उतना ही महत्वपूर्ण है। सन् 1963 में भारत को चीन से आक्रमण का बड़ा खतरा था। यद्यपि यह खतरा साधारण नहीं था, परन्तु इससे भी बड़ा खतरा भारत को आन्तरिक था, जिसका कारण बढ़ती हुई जनसंख्या थी"

भारतीय अर्थव्यवस्था अपने कठोर प्रयत्न से वर्ष में जितनी आय में वृद्धि कर पाती है वह सब नए आगन्तुकों में समाप्त हो जाती है। अतः देश के व्यक्तियों के औसत जीवन स्तर में कोई वृद्धि नहीं हो पाती है। प्रो. गैलब्रेथ पुनः लिखते हैं कि, "प्रगति के लिए लोगों का होना आवश्यक है। अतः संक्षेप में, जनसंख्या में सुधार के बिना किसी भी तरह की उन्नति सम्भव नहीं है तथा मुक्त एवं शिक्षित व्यक्ति अवश्य प्रगति करेंगे।"

1.28 जनसंख्या वृद्धि : आर्थिक विकास में सहायक

जनसंख्या वृद्धि आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करती है। इस सम्बन्ध में निम्न तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं–

(1) **श्रमशक्ति आपूर्ति का स्रोत**–आर्थिक विकास प्राकृतिक संसाधनों, पूंजी की मात्रा, तकनीकी ज्ञान तथा श्रमशक्ति पर निर्भर करता है। आर्थिक विकास के निर्धारकघटकों में श्रमशक्ति सबसे महत्वपूर्ण एवं सक्रियघटक है। इस सम्बन्ध में साइमन कुजनेट्स का कथन है कि, "अन्य बातों के यथावत रहने पर जनसंख्या की प्रत्येक वृद्धि श्रमशक्ति को बढ़ाती है। हां, इसका श्रमशक्ति के लिए निश्चित योगदान इस बात पर निर्भर करेगा कि क्या जनसंख्या वृद्धि मृत्यु दर गिरने के कारण अथवा शुद्ध देशान्तरण के कारण या जन्म दर में वृद्धि के फलस्वरूप हुई है।" इस तरह, कार्यकारी श्रमशक्ति की पूर्ति के स्रोत के रूप में जनसंख्या वृद्धि आर्थिक विकास की उत्प्रेरक है और अन्ततः इसका प्रभाव उत्पादन की मात्रा को बढ़ावा देने वाला होता है।

(2) **विस्तृत बाजार**–जनसंख्या वृद्धि उपभोक्ताओं के रूप में वस्तुओं के लिए मांग पैदा करती है जिससे बाजारों का विस्तार होता है। इससे उत्पादन के स्वरूप में विविधता आती है। उत्पादन बढ़ने से रोजगार के अवसर एवं आय में वृद्धि होती है। इस तरह, जनसंख्या वृद्धि बाजार का विस्तार कर आर्थिक विकास को बढ़ावा देती है।

(3) **उत्पादन में वृद्धि**–जनसंख्या बढ़ने से श्रम शक्ति एवं विशिष्टीकरण को बढ़ावा मिलता है जिससे श्रम की उत्पादकता में वृद्धि होती है जो अन्ततः उत्पादन को बढ़ाती है। डा. ब्राइट सिंह का मत है कि, "जनसंख्या वृद्धि, गहन श्रम विभाजन तथा व्यापक विशिष्टीकरण को जन्म देती,

नोट

है, पैमाने की बचतों को सम्भव बनाती है, जिससे तकनीकी प्रगति तथा संगठनात्मक सुधारों को बढ़ावा मिलता है।" परन्तु जनसंख्या वृद्धि से उत्पादन मात्रा में तभी वृद्धि सम्भव है जब जनसंख्या को आकार देश में उपलब्ध पूंजी और भूमि की तुलना में छोटा रहता है।

(4) **मानव पूंजी निर्माण में सहायक**–जनसंख्या वृद्धि के फलस्वरूप उपलब्ध अतिरिक्त श्रमशक्ति पूंजी निर्माण का एक सुलभ साधन माना जाता है। रैगनर नर्क्स का मत है कि अतिरिक्त श्रम शक्ति एक तरह की अदृश्य बचत है और अर्द्ध-बेरोजगारी के रूप में इन अदृश्य सम्भाव्य बचतों के पूंजी-निर्माण के लिए प्रयोग की जा सकती है।

जब देश में उपलब्ध जनशक्ति के ज्ञान में वृद्धि करके उसकी कार्यकुशलता एवं योग्यता में सुधार किया जाता है जब मानव पूंजी का निर्माण होता है जिसका अन्तिम प्रभाव यह होता है कि देश में प्रति व्यक्ति उत्पादन बढ़ता है और देश का आर्थिक विकास होता है। डॉ. कैन्ड्रिक का कथन है कि, "श्रम उत्पादकता में वृद्धि, औद्योगिक अर्थव्यवस्थाओं के आर्थिक विकास की एक पूर्व शर्त रही है जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण अमेरिका तथा जापान का द्रुतगामी विकास है जो पूरी तरह से श्रम की उत्पादकता में वृद्धि के कारण ही हो सका है।"

(5) **दक्षता एवं निपुणता को बढ़ावा**–नए ज्ञान की खोज व उसका विकास कर दक्षता एवं निपुणता को बढ़ावा देना मानव का स्वभाव है, जो स्वयं जनसंख्या का परिणाम है। इस तरह, वृद्धिशील जनसंख्या सृजनात्मक मस्तिष्कों का सृजन करती है जिससे कौशल को बढ़ावा मिलता है, नए ज्ञान का भण्डार बढ़ता है, फलस्वरूप राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि होने लगती है।

1.29 आर्थिक विकास का जनसंख्या वृद्धि पर प्रभाव

किसी देश के आर्थिक विकास का उस देश की जनसंख्या वृद्धि पर जो प्रभाव पड़ता है उसे जनांकिकीय संक्रमण सिद्धान्त द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। जनसंख्या संक्रमण सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक विकास के दौरान किसी देश की जनसंख्या को निम्नलिखित पांच अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ता है–

(1) **प्रथम अवस्था** (First Stage)–इस अवस्था में लोगों का सामाजिक व आर्थिक दृष्टिकोण संकुचित होता है। सन्तुलित भोजन, स्वास्थ्य व चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं का अभाव होता है, फलतः मृत्यु दर, विशेषकर शिशु मृत्यु दर ऊँची रहती है। व्यापक निरक्षरता, परिवार नियोजन के ज्ञान का अभाव, छोटी आयु में विवाह, बच्चों के प्रति लगाव, आदि के कारण जन्म दर ऊंची होती है। इस अवस्था में आय का प्रमुख स्रोत कृषि क्षेत्र होता है बच्चों के पालन-पोषण पर व्यय बहुत कम होता है। वे बहुत कम आयु में ही परिवार की आय का स्रोत हो जाते हैं जिससे बच्चे दायित्व न होकर सम्पत्ति समझे जाते हैं। ऐसे आदिमकालीन समाज में जनसंख्या वृद्धि दर, वास्तव में ऊंची नहीं होती क्योंकि उच्च जन्म दर को उच्च मृत्यु दर सन्तुलित कर देती है। यह अवस्था 'ऊंची जन-वृद्धि की सम्भाव्य अवस्था' (high Population Growth Potential Stage) है अर्थात, इसमें वास्तविक वृद्धि तो कम होती है किन्तु जन-वृद्धि की पर्याप्त क्षमता पाई जाती है।

(2) **द्वितीय अवस्था** (Second Stage)–इस अवस्था में आर्थिक क्रियाओं का विस्तार होता है। आय में वृद्धि होने लगती है। बैंक, बीमा, परिवहन, शिक्षा, स्वास्थ्य व चिकित्सा सुविधाओं का क्षेत्र व्यापक हो जाता है। फलस्वरूप मृत्यु दर में गिरावट आ जाती है और जन्म दर या

तो स्थिर रहती है अथवा उसमें मामूली गिरावट आ पाती है। जन्म दर को प्रभावित करने वाली धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों में परिवर्तन नहीं होता। इस तरह, द्वितीय अवस्था में जन्म दर ऊंची तथा मृत्यु दर नीची रहती है जिससे जनसंख्या वृद्धि दर अधिक होती है। इसे जनसंख्या विस्फोट की अवस्था भी कहा जाता है। अर्थव्यवस्था के विकास की दृष्टि से यह स्थितिघातक होती है। मृत्यु दर में कमी और जन्म दर में वृद्धि के कारण देश में जनाधिक्य की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसके फलस्वरूप जीवन स्तर की उन्नत बनाने के सभी प्रयास निरर्थक सिद्ध होने लगते हैं और आर्थिक विकास के बावजूद, आर्थिक स्थिरता की दशा उत्पन्न हो जाती है।

(3) **तृतीय अवस्था** (Third Stage)–इस अवस्था में आर्थिक विकास की गति और अधिक तीव्र हो जाती है। शिक्षा तथा स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सुविधाओं में और अधिक सुधार होता है जिसके परिणामस्वरूप मृत्यु दर में और अधिक गिरावट आती है। शिक्षा के प्रसार एवं आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप सामाजिक दृष्टिकोण बदलते हैं, छोटे परिवार को वरीयता दी जाने लगती है, परिवार नियोजन ऐच्छिक रूप ले लेता है जिसके कारण जन्म दर गिरने लगती है। परन्तु इस अवस्था में भी जन्म दर एवं मृत्यु दर में अन्तर बहुत अधिक होता है जिससे जनसंख्या की शुद्ध वृद्धि दर अधि क होती है। यह अवस्था भी जनसंख्या विस्फोट की ही अवस्था है।

(4) **चतुर्थ अवस्था** (Fourth Stage)–इस अवस्था में आर्थिक विकास बहुत तेजी से होता है। अर्थव्यवस्थाओं का स्वरूप कृषि प्रधान न होकर प्रधान हो जाता है। प्रति व्यक्ति आय व जीवन–स्तर में आशातीत वृद्धि होती है। सामाजिक वृद्धि होती है। सामाजिक दृष्टिकोण बदलते हैं। रीति-रिवाजों के बन्धन और रूढ़ियों की कड़ियाँ कमजोर होने लगती हैं। विवाह की आयु में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है जिससे सन्तानोत्पादन अवधिघट जाती है। सुविधाओं एवं विलासताओं में वृद्धि होती है जिससे सन्तानोत्पादन की इच्छा कम हो जाती है। इन सबका परिणाम यह होता है कि जन्म तथा मृत्यु दरें दोनों ही कम होकर एक निम्न स्तर पर स्थिर हो जाती हैं जिसमें जनसंख्या में शुद्ध वृद्धि नहीं होती है अथवा नगण्य होती है।

(5) **पंचम अवस्था** (Fifth Stage)–आर्थिक विकास की यह उच्चतम अवस्था है। इस अवस्था में सन्तानोत्पादन पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है। लोगों को मनोरंजन के आधुनिक साधन सहजता से उपलब्ध हो जाते हैं। अपने शारीरिक सौन्दर्य को बनाए रखने के लिए स्त्रियां सन्तानोत्पादन के प्रति बहुत इच्छा नहीं रखती हैं। वे अपनी स्वतन्त्रता को बनाए रखने के लिए शिशुओं के पालन–पोषण के झंझट में नहीं पड़ना चाहती हैं। सामाजिक सुरक्षा की सुविधाओं का पर्याप्त विस्तार होता है जिससे बुढ़ापे के सहारे के रूप में बच्चों का महत्वघट जाता है। पारिवारिक सम्बन्धों में शिथिलता आने लगती है। मां-बाप का बच्चों के प्रति लगाव कम होने लगता है। इन सबका प्रभाव यह होता है कि जन्म दर में पर्याप्त गिरावट आ जाती हैं। जन्म दर, मृत्यु दर से भी कम रहती है जिससे जनसंख्या का आकारघटने लगता है। समाज में वृद्ध व्यक्तियों की संख्या अधिक हो जाती है। आज फ्रांस इस अवस्था में पहुंच चुका है।

उपरोक्त बातों के आधार पर निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि जनसंख्या तथा आर्थिक विकास उक–दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। दोनों ही उक–दूसरे के साध्य, कारण तथा पर्याय कहे जा सकते हैं।

1.30 संस्थाएँ एवं आर्थिक विकास

नोट

प्रतियोगी बाजार कुशलतापूर्वक प्रोन्नति करते हैं तथा ऐसी स्थितियाँ भी हो सकती है जहाँ प्रतियोगी बाजार अच्छे से नहीं चलते। 1776 में प्रकाशित एडम स्मिथ की कृति में यह तर्क दिया गया था कि प्रतिस्पर्द्धा द्वारा अपने निजी प्रयोजनों को पूरा करने के लिए लोग लोकहित तक के लिए आगे बढ़ जाते हैं।

कल्याण अर्थशास्त्र के मूलभूत प्रमेय–इस मूलभूत प्रमेय में कुशलता का अर्थ है–पैरेटो-कुशल आबंटन तथा पैरेटो-दृष्टमता की स्थिति है। पेरेटो-दृष्टतमता का अर्थ है कि किसी को गरीब बनाए बिना किसी को धनी बनाना असंभव होता है। दूसरे प्रमेय का कथन है कि उपयोगिता संभाव्यता वक्र को किसी भी बिंदु पर प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु बिन्दु से नीचे नहीं।

बाजार जो प्रतियोगी नहीं हैं (बाजार एकाधिकारी हैं)–केवल पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में ही पैरेटो-दृष्टतमता को प्राप्त किया जा सकता है। सभी फर्में प्रतियोगी ढंग से व्यवहार कर सकती हैं यदि बाजार में प्रवेश लागत रहित और आसान हो। एकाधिकार के अन्दर निष्फल हानि वह होता है जिसमें क्रेता तथा विक्रेता दोनों को ही संतुलित उत्पादन का भाग प्राप्त नहीं होता। कुछ ऐसे ही कारण हैं जिनकी वजह से एकाधिकार के अंतर्गत बाजार पैरेटो-दृष्टमता प्राप्त नहीं करते तथा बाजार असफल हो जाते हैं।

सार्वजनिक वस्तुएँ–वह दो विशिष्ट विशेषताओं वाली वस्तुएँ जिनका उपभोग करने से किसी को रोका नहीं जा सकता तथा उपभोग करने से किसी को रोका नहीं जा सकता तथा जिसके उपभोग में कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं होती, सार्वजनिक वस्तुएँ कहलाती हैं।

बाह्यताएं–ऐसी स्थितियाँ जिनमें व्यक्ति या फर्म की क्रियाएं दूसरी फर्मों या व्यक्तियों को प्रभावित करती हैं, बाह्यता कहलाती है।

अपूर्ण बाजार–ऐसी स्थिति जब किसी वस्तु या सेवा को बाजार प्रदान करने में असफल हो जाते हैं, जबकि उपभोक्ता उसका भुगतान उपभोक्ता लागत से अधिक करने को तैयार होता है, अपूर्ण बाजार कहलाती है।

सूचना असफलता

कभी-कभी बाजारों में अपूर्ण जानकारी उपस्थित होती है तथा सरकारी हस्तक्षेप भी अनुपस्थित होता है जिससे बाजार की जानकारी कम मिलेगी जिससे जानकारी का एकत्रीकरण तथा प्राप्तिं महँगी भी हो सकती है। बाजार में सरकारी हस्तक्षेप के दो क्षेत्र हैं–पहला आय वितरण सुधारना तथा दूसरा लोगों को वस्तुओं का उपभोग करने के लिए बाध्य करना।

सरकार की असफलता

सरकार बहुत से कार्यों में जनता को सेवा प्रदान करती है, परंतु कुछ परिस्थितियों में सरकार अपने प्रयोजनों को कार्यों में परिणत नहीं कर पाती हैं, जिसका कारण कुछ राजनैतिक कारक होते हैं। सरकार की यह असफलता सरकारी असफलता कहलाती है। सरकार की असफलता के कई कारण हैं–

1. सरकार के पास सूचना सीमित होती है।
2. सरकार का एजेंटों पर सीमित नियंत्रण होता है।

3. सरकार का नौकरशाही पर भी सीमित नियंत्रण होता है।
4. राजनैतिक प्रक्रिया द्वारा आरोपित प्रतिबंध भी सरकार की असफलता के कारण होते हैं।

सरकार द्वारा अपने अभिकथित नीति उद्देश्यों को भी पूरा न कर पाने के कई कारण हो सकते हैं–

नोट

1. सरकारी कार्यकर्ता कई स्थितियों में स्वहित की पूर्ति करते हैं।
2. सरकार अल्प-कालिक परिप्रेक्ष्य के साथ कार्य करती है।
3. कई बार सरकार की विशिष्ट नीति उद्देश्यों के भी दृष्टतम समाधान नहीं निकलते।
4. समन्वय की समस्या के समाधान के लिए सरकार के पास सूचना का अभाव होता है।
5. कुछ दबाव समूह निर्णय लेने की प्रक्रिया को बलपूर्वक हथिया लेते हैं तथा स्वहित में निर्णय लेते हैं।

संस्थाएँ और प्रशासन

बाजार कभी-कभी दक्षता से प्रयास करने पर असफल हो जाते हैं तथा जब सरकार उन्हें सुधारने के प्रयत्न में और भी ख़राब बना देती है। अत: संस्थानिक ढाँचे जिनके अंतर्गत बाजार कार्य करते हैं हमें उन पर विचार अवश्य करना चाहिए। भिन्न देशों में भिन्न संस्था ढाँचों के कारण आर्थिक संवृद्धि भी भिन्न है। डंगलस नॉर्थ के अनुसार "सामाजिक या औपचारिक मानवीय रूप अभिकल्पित रुकावटें जो मानवीय अंत:क्रियाओं को गढ़ती हैं, संस्थाएँ कहलाती हैं।"

संस्थाएँ महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ अंतर्जात भी होती हैं। आर्थिक विश्लेषण की दो धाराएँ हैं–

1. भू-संपत्ति अधिकारों तथा लेन-देन की लागतों में परिवर्तन जिनका आर्थिक विकास पर बृहत प्रभाव होता है।
2. सूचना अर्थशास्त्र में दूसरी धारा हाल कीघटनाओं को उपयोग करने की चेष्टा करती हैं।

आर्थिक विकास में सामाजिक मानदंडों और समुदाय की भूमिका

व्यष्टि आर्थिक सिद्धांत में बाधा होने पर आर्थिक चयनकर्ता, निर्णय फलन को अधिकतम कर देते हैं। मानदंड या प्रथाएँ बाधा उत्पन्न कर सकते हैं या विकास को प्रौन्नत कर सकते हैं। सरकारी या बाजारी असफलता को सही करना आसान नहीं होता। श्रम विभाजन की समस्याओं को हमेशा समुदाय नहीं हल कर सकता परंतु ऐच्छिक रूप से सहयोग करने में मार्गदर्शन करता है। संसाधन समुदाय की सामूहिक संपत्ति होते हैं।

अंत:क्षेत्रीय पूरकताएँ, समन्वय की असफलताएँ और ऐतिहासिक जकड़न

विकास प्रक्रिया पथ आश्रित होता है। इस प्रक्रिया के संपूर्ण इतिहास को देखने की आवश्यकता होती है। पथ आश्रित सिद्धांत विभिन्न स्थितियों को संबोधित करता है। जैसे–संतुलन सामान्यत: आर्थिक एजेंटों का परिणाम होता है जो क्रियाएँ चुनते हैं तथा निर्णय लेते हैं। नेटवर्क बाह्यताओं का अर्थ है कि प्रौद्योगिकी को अपनाने का लाभ इस पर निर्भर करता है कि कितने लोगों ने उसी प्रौद्योगिकी को पहले ही अपना लिया है। उप दृष्टतम विकल्प लेने में पूरकताएँ तथा नेटवर्क/नेटवर्क बाह्यताएँ स्थिति उत्पन्न करती हैं। पूरकताओं तथा नेटवर्क/नेटवर्क बाह्यताओं की वजह से अनेक संतुलन हो सकते हैं, परंतु चुने गये संतुलन की कोटि निम्य या उच्च चुने गए पथ पर निर्भर करती है।

1.31 विकास के आयाम

नोट

अल्पविकसित देशों मे जिन प्रमुख विशिष्टताओं की चर्चा की गई है, उन्हें आर्थिक विकास में बाधाएँ भी माना जा सकता है। यद्यपि अल्पविकसित देशों की समान्य विशिष्टताएँ सब अल्पविकसित देशों में समान रूप से नहीं मिलती फिर भी इन विशिष्टताओं में इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर विद्यमान है कि कोई देश दरिद्र क्यों है? इन विशिष्टताओं में से अनेक दरिद्रता का कारण और परिणाम दोनों हैं। वास्तव में, चक्रीय संबंध होते हैं। जिन्हें दरिद्रता के दुष्चक्र कहा जाता है, जो ऐसे देशों में विकास के निम्न स्तर को चिरस्थायी बनाने का प्रयत्न करते हैं।

विकसित देशों के आर्थिक वृद्धि के सैद्धान्तिक मॉडलों के साथ-साथ उनकी अत्यधिक आर्थिक वृद्धि के अनेक अनुभविक अध्ययन भी किए गए हैं। इन अध्ययनों में प्रयत्न किया गया है कि विभिन्न वृद्धि कारकों के अवलोकित अन्त: संबंध सुलझाकर आर्थिक वृद्धि के स्रोतों का पता लगाया जाए। वे वृद्धि कारक इस तरह के हैं, जैसे कि उत्पादन की वृद्धि-दर, श्रम शक्ति की मात्रा एवं गुणवत्ता में वृद्धि की दर पूँजी का स्टॉक तथा तकनीकी प्रगति की दर जो इन साधनों की उत्पादकता को निर्धारित करती है।

1.32 निर्धनता का दुष्चक्र

निर्धनता का दुश्चक्र विभिन्न तत्वों के वृत्तीय सम्बन्ध का द्योतक है जो एक-दूसरें से मिलकर इस प्रकार क्रिया तथा प्रतिक्रिया करते हैं कि देश गरीबी की स्थिति में जकड़ा रहता है।

पूर्ति पक्ष की ओर निर्धनता के दुश्चक्र के उत्पन्न होने का प्रमुख कारण बचत की अपर्याप्तता है तथा माँग पक्ष की ओर निर्धनता के दुश्चक्र के उत्पन्न होने का प्रमुख कारण माँग की कमी या बाजार का सीमित आकार है।

(1) **प्रौद्योगिकीय-द्वैतवाद** (Technology Dualism)–इसका अर्थ है–एक अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्था में उत्पादन की उन्नति और पिछड़ी हुई तकनीकों का साथ-साथ प्रयोग किया जाना।

(2) **व्यापार की शर्तें** (Terms of Trade)–व्यापार की शर्तें उस दर से सम्बन्धित है जिस पर किसी देश के निर्यात और आयात में विनिमय होता है।

(3) **प्रदर्शन प्रभाव** (Demonstration Effect)–समाज में रहने वाले अन्य व्यक्तियों के श्रेष्ठ उपभोग व्यवहार की नकल करने को प्रदर्शन प्रभाव कहते हैं। इसे एक सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय जेम्स एस. ड्यूजनबरी (James S. Dussenberry) को है।

(4) **संकुचन प्रभाव व विस्तारक प्रभाव** (Backwash Effect and Spread Effect)–संकुचन प्रभाव आर्थिक विकास के प्रतिकूल होते हैं, जबकि विस्तार प्रभाव आर्थिक विकास के अनुकूल होता है। मिर्डल के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय असमानताओं का मुख्य कारण प्रबल संकुचन प्रभाव व दुर्बल विस्तारक प्रभाव है।

प्रश्न यह उठता है कि अर्द्ध-विकसित देश किन कारणों से आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। इनके विकास के रास्ते में क्या मुख्य बाधाएँ हैं जिनके कारण इनका विकास नहीं हो पा रहा है।

यद्यपि अर्द्ध-विकसित देशों की सामान्य विशेषताएँ ही उनके पिछड़े हुए आर्थिक विकास की कहानी कहती हैं, फिर भी इन देशों के आर्थिक पिछड़ेपन के विभिन्न कारणों का कोई ऐसा सामान्य तत्वों का समूह नहीं है जिसे सभी अर्द्ध-विकसित देशों के पिछड़ेपन के लिए उत्तरदायी कहा जा सके।

नोट

आर्थिक विकास में बाधाएँ या अल्पविकास के कारण

- (I) राष्ट्रीय बाधाएँ
  - (A) आर्थिक बाधाएँ
    - (1) पूँजी निर्माण की समस्या
    - (2) बाजार की अपूर्णताएँ
    - (3) आर्थिक संरचना का अभाव
    - (4) जनसंख्या सम्बन्धी बाधाएँ
    - (5) योग्य साहसी का अभाव
    - (6) औद्योगिकीय या तकनीकी पिछड़ापन
  - (B) गैर आर्थिक बाधाएँ
    - (1) सामाजिक बाधाएँ
    - (2) धार्मिक बाधाएँ
    - (3) राजनीतिक बाधाएँ
    - (4) प्रशासनिक बाधाएँ
- (II) अन्तर्राष्ट्रीय बाधाएँ
  1. द्वैत अर्थव्यवस्था
  2. व्यापार की शर्तों में दीर्घकालीन प्रतिकूलता
  3. मिर्डल का चक्रीय कार्यकारण दृष्टिकोण

1.33 निर्धनता के दुष्चक्र का अर्थ

निर्धनता के दुश्चक्र से आशय यह है कि निर्धनता स्वयं ही निर्धनता को जन्म देती है। दूसरे शब्दों में, निर्धनता का दुश्चक्र ऐसी वृत्ताकार (Circular) क्रिया है जिसका प्रारम्भ भी निर्धनता है तथा अन्त भी निर्धनता है। संक्षेप में, निर्धनता का दुश्चक्र से अभिप्राय उस चक्रीय या वृत्ताकार सम्बन्ध से है जिसका कारण और परिणाम की अलग-अलग व्याख्या करना सम्भव नहीं है। प्रो. हिंगिस इसी बात को 'पहले मुर्गी या अण्डा' के प्रश्न के रूप में उठाते हुए कहते हैं, "आर्थिक विकास का पथ अनेक दुश्चक्रों से भरा है।"

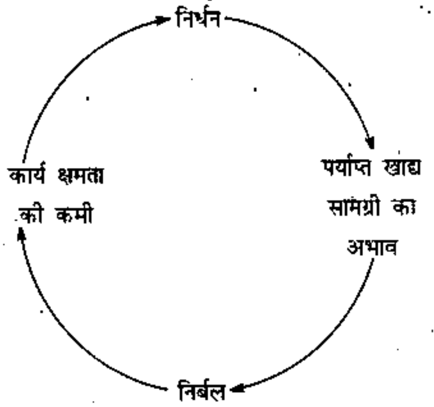

चित्र 1.3 (अ)

दुश्चक्र की व्याख्या (Explanation of the Vicious Circle)--निर्धनता के दुश्चक्र की कार्यविधि को स्पष्ट करने के लिए हम एक सामान्य व्यक्ति का उदाहरण लेते हैं। उदाहरण के लिए, एक निर्धन व्यक्ति को पर्याप्त खाद्य नहीं मिल पाता। कम खाद्य मिलने के कारण वह निर्बल हो जाता है। निर्बल हो जाने के कारण उसकी कार्यक्षमता कम हो जाती है जिसका अर्थ यह है कि वह निर्धन है अर्थात् उसकी आय कम है जिसका फिर अर्थ यह है कि उसे पर्याप्त खाद्य सामग्री नहीं मिलती और इस प्रकार यह क्रम आगे भी चलता रहता है जैसा कि चित्र 1.3 (अ) में दर्शाया गया है। चित्र 1.3 (अ) में प्रदर्शित स्थिति को हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं कि "व्यक्ति इसलिए निर्धन है कि वह निर्धन है।"

नोट

अर्थात् उसकी आय कम है जिसका फिर अर्थ यह है कि उसे पर्याप्त खाद्य सामग्री नहीं मिलती और इस प्रकार यह क्रम आगे भी चलता रहता है जैसा कि चित्र 17.1 में दर्शाया गया है। चित्र 1.3 में प्रदर्शित स्थिति को हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं कि "व्यक्ति इसलिए निर्धन है कि वह निर्धन है।"

जो बात एक व्यक्ति पर लागू होती है, वह सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर लागू होती है। इसलिए कहा जाता है कि एक देश इसलिए निर्धन है कि वह निर्धन है।

प्रो. नर्क्स ने भी लिखा है कि निर्धनता के दुश्चक्र का अर्थ नक्षत्र-मण्डल के समान शक्तियों का इस प्रकार सेघूमना है कि वे परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करती हुई निर्धन देश को निर्धनता की अवस्था में ही रखें।

निर्धनता के दुश्चक्र की विशेषताएँ (Characteristics of Vicious Circle of Poverty) –उपर्युक्त विश्लेषण से हमें निर्धनता के दुश्चक्र की निम्नलिखित विशेषताओं का अभास होता है–

(1) निर्धनता का कारण व परिणाम स्वयं निर्धनता है।

(2) निर्धनता अपने प्रारम्भिक बिन्दु से अन्तिम बिन्दु तक चक्रीय या वृत्ताकार ढंग से क्रिया व प्रतिक्रिया करती हुई बढ़ती है।

(3) इसका प्रभाव संचयी होता है अर्थात् एक स्तर पर पायी जाने वाली निर्धनता अगले स्तर पर और भी अधिकघातक होने लगती है।

(4) यह एक ऐसी अनवरत प्रक्रिया है जो सम्बन्धितघटकों को सदैव नीचे की ओर धकेलती है।

(5) निर्धनता के दुश्चक्र का प्रारम्भ एक ऋणात्मकघटक की उपस्थिति से होता है और यहघटक अगले ऋणात्मकघटक का कारण व परिणाम दोनों होता है।

1.34 निर्धनता के दुष्चक्र के प्रमुख पक्ष

निर्धनता के दुश्चक्र का मुख्य कारण अर्द्ध-विकसित देशों में पूँजी की पूर्ति व माँग का अभाव है। किसी देश में पूँजी की पूर्ति बचत करने की इच्छा व शक्ति पर निर्भर करती है, जबकि पूँजी की माँग विनियोग की प्रेरणाओं पर निर्भर करती है। विश्व के अधिकांश निर्धन देशों में जनता के इस कुचक्र में माँग और पूर्ति दोनों ही पक्ष हैं। इस प्रकार निर्धनता के दुश्चक्र के मुख्य पक्ष निम्नलिखित दो हैं–

(1) **दुश्चक्र का पूर्ति पक्ष अथवा कम बचत का दुश्चक्र** (Supply side of Vicious Circle or Vicious Circle of Low Saving)–निर्धनता के दुश्चक्र के पूर्ति पक्ष से यह मालूम होता है कि अर्द्ध-विकसित देशों में लोगों की आय इतनी कम होती है कि वे बचत करके पूँजी निर्माण करने में असमर्थ रहते हैं। इस प्रक्रिया को एक चित्र की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है। चित्र 1.4 में दर्शाया गया है कि आर्थिक पिछड़ापन और पूँजी की कमी के कारण उत्पादकता का स्तर नीचा बना रहता है जिसके फलस्वरूप आय का स्तर नीचा हो जाता है। नीची आय के स्तर पर लोगों की बचत करने की क्षमता और इच्छा कम हो जाती है। बचत में कमी विनियोग के स्तर को भी कम बना देती है जिसके कारण पूँजी निर्माण की दर कम होती है और अर्थव्यवस्था आर्थिक पिछड़ेपन में फँसी रहती है क्योंकि इस विवरण में हम कम विनियोग का कारण पूँजी को न्यूनतम बताते हैं, इसलिए इसे निर्धनता का चक्र का पूर्ति पक्ष का नाम देते हैं। दुश्चक्र के पूर्ति पक्ष को नीचे चार्ट में दर्शाया गया है–

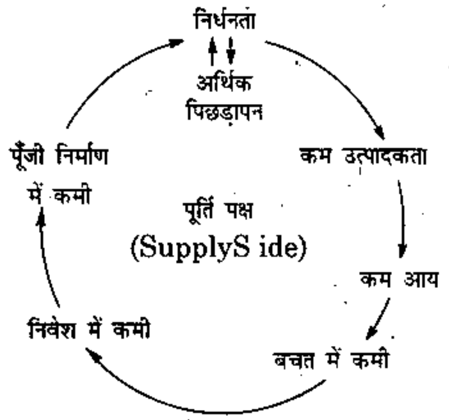

चित्र 1.4

दुश्चक्र का पूर्ति पक्ष

कम आय → कम बचत → कम विनियोग → कम पूँजी निर्माण → कम उत्पादकता → कम आय →

निर्धनता दुश्चक्र का माँग पक्ष अथवा कम माँग का दुश्चक्र (Demand Side of Vicious Circle or Vicious Circle of Low Demand)–निर्धनता के दुश्चक्र का माँग पक्ष यह है कि अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में पूँजी की माँग सीमित होती है। अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्थाएँ पर्याप्त मात्रा में निवेश को प्रोत्साहित करने में असमर्थ रहती हैं जिसके कारण गरीबी का दुश्चक्र क्रियाशील रहता है। इस चक्र को हम चित्र 1.5 की सहायता से स्पष्ट कर सकते हैं।

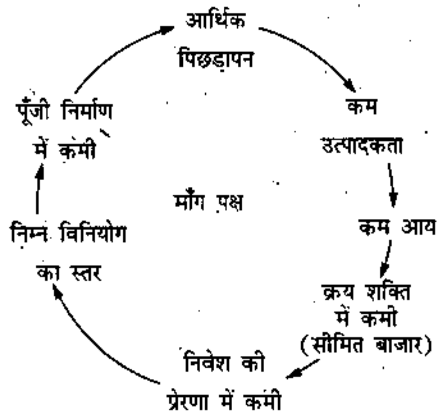

चित्र 1.5

चित्र में बताया गया है कि आर्थिक पिछड़ेपन के कारण लोगों की उत्पादकता कम होती है तथा आय का स्तर भी नीचा रहता है। इसलिए लोगों की क्रय-शक्ति भी कम होती है जिसके कारण बाजार का आकार सीमित हो जाता है। सीमित बाजार के कारण विनियोग की प्रेरणा नहीं मिल पाती। विनियोग का स्तर कम होने के कारण पूँजी निर्माण की मात्रा कम हो जाती है जो आर्थिक पिछड़ेपन को जन्म देती है।

निर्धनता के दुश्चक्र का माँग पक्ष

कम आय → कम माँग या कम क्रय शक्ति → कम निवेश → कम पूँजी निर्माण → कम उत्पादकता → कम आय

नोट

निर्धनता के दुश्चक्र के समीकरण (Equations of Vicious Circle of Poverty)–निर्धनता के दुश्चक्र को निम्न समीकरणों की सहायता से व्यक्त किया जा सकता है–

(1) आय निर्भर करती है विनियोग (पूँजी निर्माण) पर अर्थात् आय विनियोग का फलन है–

$y = f(i)$ ...(i)

(2) विनियोग बचत पर निर्भर करती है अर्थात् विनियोग बचत का फलन है–

$I = f(S)$ ...(ii)

(3) बचत आय पर निर्भर करती है अर्थात् बचत आय का फलन है–

$S = f(Y)$ ...(iii)

इस प्रकार (i) आय में होने वाली वृद्धि पूँजी (विनियोग) पर निर्भर करती है। (ii) पूँजी में होने वाली वृद्धि बचत पर निर्भर करती है और (iii) बचत में होने वाली वृद्धि स्वयं आय पर निर्भर करती है। फलत: निर्धनता का दुश्चक्र चलता है और अर्द्ध-विकसित देशों में आर्थिक विकास की दर लगभग शून्य (Zero) होती है।

दुश्चक्र को तोड़ने की आवश्यकता (Need to Break the Vicious Circle)–"निर्धनता एक शाप है किन्तु इससे भी बड़ा अभिशाप यह है कि यह स्वयं को चिरस्थायी बनाये रखती है।" यह राष्ट्र को निर्धनता एवं अल्पविकास में जकड़ लेती है। निर्धन देशों के अनुभव ने यह प्रमाणित कर दिया है कि यह "निर्धनता का दूषित चक्र स्वत: सुधारक न होकर स्वत: स्थायी है" (Poverty is not self-correcting but self-perpetuating) इसीलिए इसे दूषित (Vicious) कहा जाता है किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि निर्धन राष्ट्र सदैव निर्धन बने रहेंगे। आज विकसित कहलाने वाले देश, जैसे–रूस, अमेरिका, इंग्लैण्ड आदि भी कुछेक दशाब्दियों पूर्व निर्धन और अर्द्ध-विकसित देश थे।

एशिया महाद्वीप के ही दो बड़े देश जापान और चीन आर्थिक प्रगति के ज्वलन्त उदाहरण हैं। इसी प्रकार अन्य विकासशील देश भी निर्धनता के अभिशाप से मुक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं। इन विकासशील देशों के निवासी यह स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं हैं कि गरीबी और पिछड़ापन सदा के लिए उनके भाग्य में लिखा है। अत: निर्धनता के दलदल से बाहर निकलने के लिए यह आवश्यक है कि विकासशील देश निर्धनता के दुष्चक्र को प्रभावशाली ढंग से तोड़ें।

1.35 दुष्चक्र को तोड़ने के तरीके

प्रो. नर्क्स का कथन है, "हम जानते हैं कि विश्व के कुछ भागों में आर्थिक विकास हुआ है। अत: स्पष्ट है कि इन देशों ने किसी न किसी प्रकार इस दुष्चक्र को तोड़ा होगा। इसलिए गतिहीनता के सिद्धान्त के बाद अब विकास-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाना चाहिए जिसमें यह विवेचन किया जाना चाहिए कि अर्थव्यवस्था के इस स्थिर पिछड़ेपन से मुक्ति पाने में कौन-सी शक्तियाँ सहायक रही हैं या हैं।"

संक्षेप में, आर्थिक विकास को प्राप्त करने के लिए इस दुष्चक्र को तोड़ना अर्द्ध-विकसित देशों का प्राथमिक कार्य होता है परन्तु इस दरिद्रता के दुश्चक्र को समाप्त करना सहज कार्य नहीं है। इसके समाधान के लिए एक प्रभावशाली आन्दोलन की आवश्यकता है।

सर्वप्रथम पूँजी के पूर्ति पक्ष में दूषित चक्र को तोड़ना होगा, ताकि पूँजी के अभाव की समस्या से मुक्ति पायी जा सके। इसके लिए हमें–(अ) बचत तथा विनियोग के प्रत्येक सम्भव उपाय का

प्रयत्न करना होगा; (ब) समारोहों, उत्सवों, वैभवपूर्ण उपभोग, आभूषणों आदि अनुत्पादक कार्यों पर किये जाने वाले व्यय को कम कर, इसे उत्पादक कार्यों में लगाना होगा; (स) जनता के आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में उपभोग में कटौती करनी होगी; (द) अर्द्ध-विकसित देशों में व्याप्त अदृश्य बेरोजगारी के रूप में छिपी हुई बचत सम्भावनाओं का प्रयोग किया जा सकता है; (य) अन्त में, पूँजी की आवश्यकता का कुछ भाग विदेशी सहायता से भी पूरा किया जा सकता है। इन सभी आन्तरिक तथा बाह्य उपायों के द्वारा पूँजी के पूर्ति पक्ष के दूषित चक्र को तोड़कर बचत एवं विनियोग को प्रोत्साहन दिया जा सकता है।

इसी प्रकार माँगपक्षीय दूषित चक्र को भी तोड़ा जा सकता है। इसके लिए पूँजी की माँग-वृद्धि तथा बाजार के आकार में वृद्धि करनी होगी। बाजार के विस्तार के लिए सन्तुलित तथा असन्तुलित विकास के मार्ग अपनाये जा सकते हैं। सन्तुलित विकास की स्थिति में एक साथ कई प्रकार के विभिन्न उद्योगों में पूँजी का विनियोग किया जाता है जिनके कारण माँग में वृद्धि होती है और बाजार का विस्तार होता है। असन्तुलित विकास की स्थिति में उद्योगों की स्थापना का भार निजी उद्योगपतियों को सौंपा जाता है।

1.36 निर्धनता के दुश्चक्र की आलोचनाएँ

प्रो. गुन्नार मिर्डल ने निर्धनता के दुश्चक्र की संचयी प्रक्रिया व एकतरफा नकारात्मक स्वरूप की आलोचना करते हुए कहा है कि यह आवश्यक नहीं है कि निर्धनता का यह दुश्चक्र सदैव एक ही दिशा अर्थात् नीचे की ओर अग्रसर होता रहे अर्थात् एक निर्धन देश उत्तरोत्तर निर्धन ही होता जायेगा। तृतीय विश्व के देशों के अनुभविक तथ्य भी इस बात की पुष्टि नहीं करते।

पी. टी. बौर का विचार है कि 'निर्धनता के दुश्चक्र' का सिद्धान्त सत्य नहीं है। कारण यह है कि यदि यह सत्य होता तो धनी व गरीब देशों में बहुत-से व्यक्ति व समुदाय गरीबी से अमीरी की ओर नहीं जा सकते थे। आज के विकसित राष्ट्रों ने अवश्य ही निर्धनता व निम्न प्रति व्यक्ति आय व अल्प पूँजी से ही प्रारम्भ किया था। इन्हें बाह्य पूँजी व अनुदान भी अधिक प्राप्त नहीं हुए लेकिन इसके बाद भी इन्होंने अपना विकास किया। तात्पर्य यह है कि 'निर्धनता के दुश्चक्र' की बात सत्य नहीं मानी जा सकती। अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में स्वत: बहुत तीव्रता से प्रगति हुई।

संक्षेप में, निर्धनता के दुश्चक्र का सिद्धान्त तर्क, अनुभव एवं विश्लेषण की दृष्टि से अल्पविकास की उचित व्याख्या नहीं मानी जा सकती। इस सिद्धान्त का केवल यह योगदान है कि इसने आर्थिक विकास के लिए बचत व पूँजी निर्माण के महत्त्व की व्याख्या की है।

1.37 सारांश

भारत क्षेत्रफल की दृष्टि से विश्व में सातवे स्थान पर और जनसंख्या की दृष्टि से दूसरे स्थान पर है। भारत की अर्थव्यवस्था विकासशील अर्थव्यवस्था है। यह कृषि प्रधान देश है। औद्योगिक विकास की दृष्टि से अभी इसे आगे बढ़ना है। जनसंख्या अधिक होने के कारण बेरोजगारी एवं गरीबी अधिक है, प्रति व्यक्ति आय एवं राष्ट्रीय आय का स्तर निम्न है। यातायात एवं संचार व्यवस्था की कमी, आधुनिक तकनीकी ज्ञान की कमी के कारण विकास में बाधाएं आती रहती है।

अर्थशास्त्र में आर्थिक विकास को यदिआर्थिक प्रगति के अर्थ में प्रयोग किया जाये तो यह सही नहीं है। दोनों ही भिन्न-भिन्न संकल्पनाएँ है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों के वाराआर्थिक विकास वआर्थिक प्रगति की भिन्न-

भिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई।आर्थिक विकास एक प्रक्रिया है, जिससे निर्धनता दूर करना, वास्तविक आय में दीर्घकालीन वृद्धि, आर्थिक असमानता में कमी आदि लक्ष्य पूरे किये जाते है। वृद्धि, आर्थिक असमानता में कमी आदि लक्ष्य पूरे किये जाते है। आर्थिक विकास की माप सामान्यतया राष्ट्रीय आय में वृद्धि, प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि और आर्थिक कल्याण में वृद्धि जैसे माप का प्रयोग किया जाता है। आर्थिक विकास केआर्थिक कारकों मे प्राकृतिक संसाधन पूँजीगत निर्माण एवं पूँजी संचय, जनसंख्या वृद्धि, श्रम विभाजन, कृषि, विदेशी व्यापार,आर्थिक प्रणाली आदि प्रमुख है। परन्तु इनआर्थिक कारकों के अलावा कुछ अनार्थिक कारक भी है। जैसे - राजनैतिक स्वतन्त्रता न्यायपूर्ण सामाजिक संगठन, तकनीकी ज्ञान आदि। आर्थिक विकास के प्रमुख लाभों में वातावरण पर नियन्त्रण, पुरुषों की तुलना में स्त्रियों में सामाजिक न्याय व समानता आदि है।

भारत जैसे मिश्रित पूँजी अर्थव्यवस्था वाले देश में आर्थिक विकास के लिए भारी उद्योगों का विकास, कृषि संसाधनों का विकास, अर्थव्यवस्था के विभिन्नआर्थिक क्षेत्रों में निवेश के बीच सामंजस्य स्थापित करना आदि कार्य आवश्यक है।

डंगलस नॉर्थ के अनुसार "सामाजिक या औपचारिक मानवीय रूप अभिकल्पित रुकावटें जो मानवीय अंतःक्रियाओं को गढ़ती हैं, संस्थाएँ कहलाती हैं।" व्यष्टि आर्थिक सिद्धांत में बाधा होने पर आर्थिक चयनकर्ता, निर्णय फलन को अधिकतम कर देते हैं। मानदंड प्रथाएँ बाधा उत्पन्न कर सकते हैं या विकास को प्रौन्नत कर सकते हैं। पूरकताओं तथा नेटवर्क/नेटवर्क बाह्यताओं की वजह से अनेक संतुलन हो सकते हैं, परंतु चुने गये संतुलन की कोटि निम्य या उच्च चुने गए पथ पर निर्भर करती है।

अल्प विकास एक सापेक्ष विचार है इसका अभिप्राय आर्थिक विकास की कमी से है। अर्थव्यवस्था में उत्पादित हो सकने वाली वस्तुओं का दो श्रेणियों में वर्गीकरण किया जाता है–विलासिता की वस्तुएँ तथा आवश्यक वस्तुएँ। निर्धनता एक प्रकार का रोग है जिसका असर विश्व से अधिकांश भागों पर है। इसका अर्थ है मानव का रहन-सहन की आवश्यक वस्तुओं से दूर होना।

रोस्टोव द्वारा प्रतिपादित विकास के इस एक रेखीय वृद्धि की अवस्थाओं के पथ को नर्क्स के कम बचतों, छोटी मार्किटों तथा जनसंख्या दबावों के कुचक्रों (vicious circles) ने और शक्ति प्रदान की। फाई, रैनिस तथा स्टुअर्ट इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आर्थिक विकास और मूलभूत आवश्यकताओं की कूटनीति के बीच कोई विवाद नहीं है अर्थात् विकासशील देशों की आर्थिक विकास की दर मूलभूत आवश्यकताओं की कूटनीति द्वारा बढ़ी है। मूलभूत आवश्यकताओं की कूटनीति या मापदण्ड कुल राष्ट्रीय आय या प्रति व्यक्ति आय व आर्थिक कल्याण की आर्थिक विकास की कूटनीति से श्रेष्ठ है। आर्थिक विकास के मापदण्ड के रूप में क्रयशक्ति समंता सूचकांक का भी उपयोग किया जाता है। इस सूचकांक का सर्वप्रथम उपयोग अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने किया था।

औपनिवेशिक शोषण भी किसी देश की निधर्नता का एक प्रमुख कारण होता है। विश्व के अनेक राष्ट्र जो आज आर्थिक दृष्टि से पिछड़े तथा गरीब हैं, उनकी निर्धनता का सबसे प्रमुख कारण उनकी सैकड़ों वर्षों की विदेशी दासता रही है। विदेशी शासन काल में उन देशों के नागरिकों की निरन्तर उपेक्षा, तिरस्कार तथा शोषण होता रहा जिससे वहां की जनसंख्या का नैतिक एवं आत्मबल समाप्त हो गया। निर्धन देशों की निर्धनता का छठा प्रमुख कारण इन देशों में उपयुक्त आर्थिक नीति का अभाव होना है। निर्धन देशों में उपयुक्त आर्थिक नीति के अभाव में इन देशों में कीमतों में तो तेजी से वृद्धि हो जाती है परन्तु उसी अनुपात में उत्पादन में वृद्धि नहीं हो पाती है। अति जनसंख्या भी गरीबी का कारण है। भारत तथा एशिया के अधिकांश देशों में, गांवों में, रोजगार के उपयुक्त

अवसरों का अभाव है। जिस कार्य को पूरा करने में परिवार के सभी सदस्य लगे रहते हैं उसे वास्तव में केवल दो लोग ही पूरा कर सकते हैं।

डंगलस नॉर्थ के अनुसार "सामाजिक या औपचारिक मानवीय रूप अभिकल्पित, रुकावटें जो मानवीय अंतःक्रियाओं को गढ़ती हैं, संस्थाएँ कहलाती हैं।" व्यष्टि आर्थिक सिद्धांत में बाधा होने पर आर्थिक चयनकर्ता, निर्णय फलन को अधिकतम कर देते हैं। मानदंड प्रथाएँ बाधा उत्पन्न कर सकते हैं या विकास को प्रौन्नत कर सकते हैं। पूरकताओं तथा नेटवर्क/नेटवर्क बाह्यताओं की वजह से अनेक संतुलन हो सकते हैं, परंतु चुने गये संतुलन की कोटि निम्य या उच्च चुने गए पथ पर निर्भर करती है।

निर्धनता के दुश्चक्र का मुख्य कारण अर्द्ध-विकसित देशों में पूँजी की पूर्ति व माँग का अभाव है। निर्धनता के दुश्चक्र के पूर्ति पक्ष से यह मालूम होता है कि अर्द्ध-विकसित देशों में लोगों की आय इतनी कम होती है कि वे बचत करके पूँजी निर्माण करने में असमर्थ रहते हैं। आर्थिक पिछड़ेपन के कारण लोगों की उत्पादकता कम होती है तथा आय का स्तर भी नीचा रहता है। इसलिए लोगों की क्रय-शक्ति भी कम होती है। आर्थिक विकास को प्राप्त करने के लिए इस दुष्चक्र को तोड़ना अर्द्ध-विकसित देशों का प्राथमिक कार्य होता है परन्तु इस दरिद्रता के दुश्चक्र को समाप्त करना सहज कार्य नहीं है। इसके समाधान के लिए एक प्रभावशाली आन्दोलन की आवश्यकता है। सन्तुलित विकास की स्थिति में एक साथ कई प्रकार के विभिन्न उद्योगों में पूँजी का विनियोग किया जाता है जिनके कारण माँग में वृद्धि होती है और बाजार का विस्तार होता है।

1.38 शब्दकोश

- **जहाजरानी** : जहाज चालान, जहाज चलाने का काम।
- **प्रावैगिक** : प्रवेग संबंधी, तीव्र गति से संबंधी।
- **द्रुत** : तीव्र गति से, तेज।
- **द्योतक** : प्रकट करने वाला, व्यक्त करने वाला।
- **निर्देशांक** : किसी बिन्दु की स्थिति को निर्धारित करने वाले अंक, समूह का कोई अंक।
- **विदोहन** : प्रयोग
- **असाम्य** : असमानता, अंतर
- **दक्षता** : निपुणता
- **परिणत** : चारों ओर से झुका हुआ, झुकाया हुआ
- **संकुचन** : सिकुड़ना, संकोचना।
- **दुश्चक्र** : साज़िश, षड्यंत्र।
- **कटौती** : काटना, काटा हुआ धन।

1.39 अभ्यास प्रश्न

1. भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए कौन-सा कथन अधिक सही माना जाएगा—
   (i) यह पिछड़ी हुई व परम्परागत है।
   (ii) यह निर्धन अर्थव्यवस्था है।
   (iii) यह अल्पविकसित है।

(iv) यह विकासशील है।

(v) यह अल्पविकसित होते हुए भी विकासशील है।

2. अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के रूप में भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए कौन-सा लक्षण सही है—

नोट

(i) नीची आमदनी

(ii) जनाधिक्य

(iii) श्रम शक्ति की कृषि पर आश्रितता

(iv) सामाजिक पिछड़ापन

(v) बेरोजगारी

(vi) गरीबी

(vii) सभी

3. भारत विकासशील अर्थव्यवस्था के रूप में किस लक्षण से पहचाना जा सकता है—

(i) यहाँ पँचवर्षीय योजनाएं कार्यान्वित की जा रही है।

(ii) प्रति व्यक्ति खाद्यान्नों का उपभोग बढ़ रहा है।

(iii) देश काआर्थिक पिछड़ापन कम हो रहा है।

(iv) प्रति व्यक्ति वास्तविक आय बढ़ रही है।

4. जनसंख्या की दृष्टि से भारत का विश्व में स्थान है—

(i) पहला

(ii) दूसरा

(iii) सातवा

(iv) तीसरा

5. भारतीय अर्थव्यवस्था के मुख्य लक्षण है—

(i) निम्न प्रति व्यक्ति आय

(ii) कृषि प्रधान देश

(iii) पूंजी का अभाव

(iv) सभी

5. भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं का संक्षेप में वर्णन कीजिये और इसके पिछड़े होने के कारण भी लिखये।

6. विकासशील अर्थव्यवस्था के रूप में भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिये। हाल के वर्षा में इसमें क्या परिवर्तन हुए है?

7. भारतीय अर्थव्यवस्था की मूलभूत विशेषताओं की विवेचना कीजिये। हाल के वर्षों में इसमें क्या मुख्य परिवर्तन हुए है?

8. विकासशील अर्थव्यवस्था के रूप में भारतीय अर्थव्यवस्था के लक्षण स्पष्ट कीजिये।

9. भारत अल्पविकसित होते हुए भी एक विकासशील राष्ट्र है। क्या आप इस कथन से सहमत है?विकासशील देश के रूप में भारतीय अर्थव्यवस्था की आधारभूत विशेषताएँ समझाइये।

10. अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के रूप में भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिये।

नोट

11. भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषताएं क्या है?
12. भारतीय अर्थव्यवस्था के पिछड़ेपन के क्या कारण है?
13. अल्पविकसित अर्थव्यवस्था का क्या आशय है?
14. भारत में अल्पविकास केआर्थिक कारण बताइये।
15. भारत में अल्पविकास के सामाजिक कारण बताइये।
16. भारत के अल्प विकास के राजनैतिक कारण बताइये।
17. आर्थिक विकास की मुख्य धारणाएँ क्या है, स्पष्ट कीजिए।
18. आर्थिक विकास की आवश्यकता क्यों होती है, स्पष्ट कीजिए।
19. आर्थिक विकास का माप किस प्रकार किया जाता है, समझाइये।
20. आर्थिक विकास को प्रभावित करने वाले कारकों की विवेचना कीजिए।
21. आर्थिक विकास के अनार्थिक कारकों को समझाइये।
22. आर्थिक विकास के कारकों में "प्राकृतिक संसाधन" को समझाइये।
23. आर्थिक विकास की कि न्ही तीन मुख्य धारणाओं को समझाइये।
24. आर्थिक विकास को माप वाले विभिन्न धारणाओं के केवल नाम लिखए एवं किसी एक को समझाइये।
25. आर्थिक विकास के अनार्थिक कारण से आप क्या समझते है' किन्हीं दो कारण को संक्षेप में समझाइये।
26. अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्था से आप क्या समझते हैं? क्या भारत एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में है?
27. एक अर्द्ध-विकसित देश से आप क्या समझते हैं? ऐसे देश की प्रमुख विशेषताओं को बताइए।
28. "एक अर्द्ध-विकसित देश जिराफ की भाँति है जिसका वर्णन करना कठिन है लेकिन जब हम उसे देखते हैं तो समझ जाते हैं।" क्या यह कथन भारत पर लागू होता है? तर्क दीजिए।
29. निर्धनता की प्रकृति समझाइए। निर्धनता और असमानता से आ क्या समझते हैं तथा निर्धनता का मापन किस प्रकार किया जा सकता है?
30. अल्प-विकास के सिद्धांत का क्या अभिप्राय है? विकासशील देश की विशेषताएँ बताइए।
31. विकसित तथा अर्द्ध-विकसित देशों में अंतर स्पष्ट कीजिए।
32. क्या भारत एक अल्पविकसित देश है?
33. प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में वृद्धि कहाँ तक आर्थिक विकास का सन्तोषजनक माप प्रस्तुत करती है?
34. क्या राष्ट्रीय आय विकास का संतोषजनक माप प्रस्तुत करती है?
35. आर्थिक विकास के अभिसूचकों को स्पष्ट कीजिए?
36. आर्थिक विकास से आप क्या समझते हैं? आर्थिक विकास के अर्थ एवं परिभाषा को समझाइए।
37. आर्थिक विकास में जनसंख्या अथवा मानव संसाधन का क्या योगदान है? विश्लेषणात्मक विवेचन कीजिए।

नोट

38. जनसंख्या वृद्धि आर्थिक विकास में किस प्रकार सहायक है? विवेचन कीजिए।
39. आर्थिक विकास का जनसंख्या वृद्धि पर क्या प्रभाव पड़ता है? विश्लेषण कीजिए।
40. जनसंख्या और आर्थिक विकास के पारस्परिक संबंधों के बारे में प्रो. कोल एवं हूवर के विचारों का वर्णन कीजिए।
41. आर्थिक विकास एवं जनसंख्या के संबंध में नवकेन्सवादी अर्थशास्त्री एल्विन हैन्सने के विचारों का विवेचन कीजिए।
42. जर्मन अर्थशास्त्री अगस्ट लोश के द्वाराघटती जनसंख्या पर दिए गए विचारों का विश्लेषण कीजिए।
43. साइमन कुजनेट्स और प्रो. जे.के. गैलब्रेथ के जनसंख्या एवं आर्थिक विकास से संबंधित विचारों का वर्णन करें।
44. आर्थिक विकास एवं संस्थाएं किस प्रकार उक-दूसरे से संबंधित हैं?
45. अर्द्ध-विकसित देशों के आर्थिक पिछड़ेपन का प्रमुख कारण क्या है? स्पष्ट कीजिए।
46. निर्धनता के दुश्चक्र की अवधारणाओं को स्पष्ट कीजिए।
47. निर्धनता के दुश्चक्र को किस प्रकार तोड़ा जा सकता है?
48. कोई देश इसलिए गरीब है क्योंकि वह गरीब है। टिप्पणी लिखिए।
49. निर्धनता के दुष्वक्रों से आप क्या समझते हैं? एक अर्थव्यवस्था को इन चक्रों से निकालने के लिए आप किन उपायों का सुझाव देंगे?

1.40 संदर्भ पुस्तकें

- भारतीय अर्थव्यवस्था– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
- विकास नियोजन एवं नीतियाँ– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
- भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।

अध्याय-2

कृषि

संरचना (Structure)

2.1 उद्देश्य
2.2 प्रस्तावना
2.3 क्षेत्रीय प्रदर्शन: कृषि, वृद्धि एवं उत्पादिता
2.4 भारत में फसल-प्रतिरूप एवं प्रवृत्तियाँ
2.5 भारतीय हरित क्रांति
2.6 नयी कृषि विकास रणनीति की कमजोरियाँ
2.7 कृषि वित्त
2.8 कृषि विपणन से आशय
2.9 भारतीय कृषि में तत्कालीन मुद्दे
2.10 सारांश
2.11 शब्दकोश
2.12 अभ्यास-प्रश्न
2.13 संदर्भ ग्रंथ

2.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी योग्य होंगे-

- क्षेत्रीय प्रर्दशन: कृषि, वृद्धि एवं उत्पादिता का विवेचन करने में;
- भारत में फसल के प्रतिरूप एवं प्रवृत्तियों को जानने में;
- हरित क्रांति की व्यवस्था करने में;
- कृषि वित्त एवं विपणन की व्याख्या करने में;
- भारतीय कृषि के तत्कालीन मुद्दों की व्याख्या करने में।

2.2 प्रस्तावना

कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ है। पिछले दो दशकों से अधिक अवधि में औद्योगीकरण के संगठित प्रयास के बावजूद कृषि का गौरवपूर्ण स्थान बना हुआ है। देश का सबसे बड़ा उद्योग होने के कारण, कृषि देश की 65 प्रतिशत जनता की जीविका का स्रोत है। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में कृषि महत्त्वपूर्ण स्थान है।

नोट

हरित क्रान्ति कृषि उत्पादन में होने वाली वह भारी वृद्धि है क्रान्ति का अभिप्राय यह है कि (1) कृषि उत्पादन में काफी अधिक वृद्धि तथा (2) दीर्घकालीन में कृषि उत्पादन के ऊँचे स्तर को स्थिर रखना। 1967-1968 में कृषि के उत्पादन में जो परिवर्तन हुए, वे योजना काल के 16 वर्षों में होने वाले परिवर्तनों की अपेक्षा अधिक आश्चर्यजनक तथा तीव्र गति से हुए इसलिए इसे हरित क्रान्ति का नाम दिया गया। भारत में हरित क्रान्ति का आरंभ 1965-66 में हुआ।

कृषि की वह साख जिसकी उसे कृषि कार्यों को पूर्ण करने में आवश्यकता होती है कृषि वित्त या साख के अंतर्गत आती है। जबकि कृषि विपणन वह क्रिया है जिसमें माल की प्राप्ति, उसका एकत्रीकरण, विपणन, प्रक्रियाकरण, परिबंधन, परिवहन श्रेणीकरण और माल का वितरण शामिल है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले किसानों के खाद्यानों के विपणन की कोई व्यवस्था नहीं थी बीच के मध्यस्थ किसानों के माल की माप तौल मूल्य एवं अन्य प्रचलित प्रथाओं से उनका शोषण करते थे। इन परिस्थितियों में आजादी के बाद सरकार का इस क्षेत्र में सुधार करना आवश्यक था। इस समय सुधार के कई उपाय सरकार द्वारा किये जा रहे हैं।

कृषि क्षेत्र कई मंचों पर चुनौतियों का समाना कर रहा है। आपूर्ति के सन्दर्भ में, अधिकांश फसलों की उपज में कोई महत्वपूर्ण सुधार नहीं दिखाई दिया और कुछ मामलों में उपजघटी है। निवल बुवाई क्षेत्र में वृद्धि की गुजांइश सीमित है और खेतों का आकार सिकुड़ता जा रहा है। गन्ने जैसी कतिपय फसलों के मामले में, पिछले वर्षों में प्रति एकड़ और उत्पादन में भारी मात्रा में घट-बढ़ चिन्ता का विषय है। दूसरी ओर, दालों के मामले में, उत्पादन आवश्यकता के अनुरूप नहीं हुआ जिसके फलस्वरूप मूल्यों में बढ़ोतरी हुई। साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में इसकी उपलब्धता सीमित है।

इसीलिए उत्पादकता में सुधार करने के लिए स्पष्ट तौर पर नए सिरे से विचार करने की आवश्यकता है, इसके साथ ही सम्बद्ध गतिविधियों और गैर-कृषि गतिविधियों को बढ़ाने की आवश्यकता है जो मूल्य वर्धन में सुधार करने में सहायक हो सकती हैं। ग्रामीण आधारभूत संरचना विशेष रूप से ग्रामीण सड़कों के विकास पर मौजूदा फोकस को बनाए रखने की आवश्यकता है, चूँकि इससे अन्ततः कनेक्टविटी में सुधार होगा और जो कृषि उत्पादों की आवश्यकता हेतु आवश्यक है। सिंचाई क्षेत्र में निवेश तथा आधुनिक प्रबन्धन दोनों की संदर्भ में नए सिरे से ध्यान देने की जरूरत है। लघु सिंचाई-प्रणालियों और जल संभरण के विकास की पर्याप्त सम्भावना है और इसे प्राप्त करने हेतु सहयोगीपूर्ण दृष्टिकोण का उपयोग करने की जरूरत है।

उपर्युक्त विपणन समर्थन के जरिए उत्पादक मूल्यों तथा उपभोक्ता मूल्यों के बीच के अन्तर को कम करने की जरूरत है। आधुनिक प्रौद्योगिकी से संचालित विपणन आधारभूत संरचना और भण्डारण तथा भाण्डागार तथा कोल्ड चेन और हाजिर बाजार के विकास से इस आवश्यकता के समाधान में सहायता मिलेगी।

2.3 क्षेत्रीय प्रदर्शन: कृषि, वृद्धि एवं उत्पादिता

कृषि की इतनी अधिक प्रधानता है कि भारतीय कार्यकारी जनसंख्या (Working population) का बहुत बड़ा भाग रोजगार के लिए इस पर आश्रित है। जनगणना द्वारा उपलब्ध कराये गये आँकड़ों से पता चलता है कि जहा 1951 में कुल मुख्य श्रमिकों (Main workers) का लगभग 70 प्रतिशत कृषि तथा सम्बद्ध क्रियाओं में कार्यरत था, वहां 2001 में कृषि के भाग में गिरावट हुई और यह 59 प्रतिशत हो गया। कुल रूप में, कृषि द्वारा 23.5 करोड़ व्यक्तिया को रोज़गार उपलब्ध कराया गया। यह बात बहुत निराशाजनक है कि 1951-2001 के दौरान, कृषि श्रमिकों के अनुपात में वृद्धि

हुई है और यह 20 प्रतिशत से बढ़कर 27 प्रतिशत हो गया। इसके विरुद्ध, कृषकों की मात्रा 50 प्रतिशत से कम होकर 32 प्रतिशत हो गयी।

तालिका 2.1: कृषि में मुख्य श्रमिकों को रोज़गार

करोड़ों में

		1951		2001		
कुल जनसंख्या	36.1		102.7			
ग्राम जनसंख्या	29.9		(83)	74.2		(72)
कृज़क	7.0		(50)	12.8		(32)
कृषि-श्रमिक	2.7		(20)	10.7		(27)
अन्य श्रमिक	4.3		(30)	16.7		(41)
कुल कार्यकारी जनसंख्या	14.0		(100)	40.2		(100)

नोट : ब्रैकिट में दिए गए आँकड़ों कुल कार्यकारी जनसंख्या का प्रतिशत हैं।

परन्तु संयुक्त राज्य और संयुक्त राज्य अमेरिका में केवल 2-3 प्रतिशत कार्यकारी जनसंख्या कृषि में लगी हुई थी, फ्रांस में यह अनुपात 7 प्रतिशत और आस्ट्रेलिया में 6 प्रतिशत था। केवल पिछड़े हुए और अल्पविकसित देशों में कृषि में कार्यकारी जनसंख्या का अनुपात काफी ऊँचा होता है। उदाहरणार्थ, यह मिस्र में 42 प्रतिशत, बंगलादेश में 50 प्रतिशत, इन्डोनेशिया में 52 प्रतिशत और चीन में 68 प्रतिशत है।

औद्योगिक विकास के लिए कृषि का महत्त्व

भारत में कृषि के महत्त्व का कारण यह है कि इससे हमारे प्रमुख उद्योगों को कच्चा माल मिलता है। सूती और पटसन वस्त्र-उद्योग, चीनी, वनस्पति तथा बगान उद्योग (Plantation), ये सब सीधे कृषि पर निर्भर हैं और भी ऐसे अनेक उद्योग हैं जो कृषि पर अप्रत्यक्ष रूप में निर्भर हैं। हाथ करघा बुनाई, तेल निकालना, चावल कूटना आदि बहुत से लघु और कुटीर उद्योगों को भी कृषि से कच्चा माल मिलता है। विनिर्माण-क्षेत्र में उत्पन्न आय का 50 प्रतिशत इस क्षेत्र से प्राप्त होता है।

किन्तु इधर कुछ वर्षों से उद्योगों के लिए कृषि का महत्त्व कम होता जा रहा है क्योंकि अनेक ऐसे उद्योग विकसित हो गए हैं जो कृषि पर निर्भर नहीं हैं। पंचवर्षीय योजना के आधीन लौह और इस्पात उद्योग, रसायन उद्योग, मशीनी-औजार और अन्य इंजीनियरी उद्योग तथा विमान-निर्माण एवं सूचना टेक्नोलॉजी आदि आरम्भ किए गए हैं जो कृषि पर निर्भर पारम्परिक उद्योगों (Traditional industries) के मुकाबले अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाने लगे हैं। इसके बावजूद कृषि द्वारा बहुत से उद्योगों अर्थात् चीन, चाय, सूती वस्त्र और पटसन, वनस्पति तेल, खाद्य-पदार्थों, साबुन और अन्य कृषि पर आधारित उद्योगों के लिए कच्चा माल उपलब्ध कराया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में कृषि का महत्त्व—भारतीय कृषि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण है। भारत से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में मुख्य कृषि वस्तुएँ ही हैं—चाय, तम्बाकू, तेल निकालने के बीज, गर्म मसाले, आदि। पिछले कुछ वर्षों में भारत के निर्यात की मात्रा और मूल्य दोनों में ही वृद्धि हुई है। यह वृद्धि विकास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इससे मशीनों और कच्चे माल के आयात की अदायगी में सहायता मिलती है।

आर्थिक आयोजन में कृषि क्षेत्र का कार्यभाग—राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में कृषि के महत्त्व के और भी अनेक कारण हैं। कृषि भारत की परिवहन-व्यवस्था का मुख्य अवलम्ब है क्योंकि रेलवे

नोट

और सड़क मार्ग का अधिकांश व्यापार कृषि-वस्तुओं को लाना-ले जाना है। अन्तर्देशीय व्यापार की वस्तुएँ भी मुख्यत: कृषि वस्तुएँ ही हैं। इसके अतिरिक्त, अच्छी फसल के कारण किसानों की क्रय शक्ति बढ़ जाती है जिससे उद्योग-निर्मित वस्तुओं की मांग और कीमतें बढ़ जाती हैं। परिणामत: उद्योगों की प्रगति होने लगती है। इस प्रकार यदि फसल बुरी हुई तो व्यापार में मन्दी आ जाती है। अन्त में सरकार के, विशेषतया राजकीय सरकारों के वित्त साधन बहुत कुछ कृषि की सम्पन्नता पर निर्भर करते हैं।

इसके साथ यह भी सत्य है कि कृषि में प्रति व्यक्ति उत्पादिता उद्योग की तुलना में कम है। परिणामत: अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं के अनेक विद्वानों का मत है कि भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि की प्रधानता ही भारत की प्रति व्यक्ति आय के बहुत कम होने का कारण है। उनके मतानुसार जब तक भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि की प्रधानता बनी रहेगी, तब तक प्रति व्यक्ति आय वांछनीय स्तर तक नहीं उठ पाएगी।

पंचवर्षीय योजनाओं के आधीन कृषि की प्रगति

प्रथम योजना (1951-56) के आरम्भ के समय कृषि की दशा निराशाजनक और ख़राब थी। हमारे किसान महाजनों के ऋण-जाल में बुरी तरह ग्रस्त थे। उनकी जोतों (Holdings) का आकार बहुत छोटा था और वे बिखरी हुई थीं। उनके पास न तो पैसा ही था और न ही ज्ञान जिसके आधार पर वे उचित उपकरण, अच्छे बीज और रासायनिक खाद खरीद सकें। कुछ क्षेत्रों को छोड़, अधिकतर क्षेत्रों के किसान वर्षा पर निर्भर थे और उन्हें मानसून की अनिश्चितता सहन करनी पड़ती थी। भूमि तथा श्रम की उत्पादिता (Productivity) लगातार कम होती जा रही थी और यह विश्व में सबसे कम थी। बावजूद इसके कि हमारी जनसंख्या का लगभग 70 प्रतिशत कृषि में कार्य करता था, देश खाद्यान्नों के उत्पादन में स्वावलम्बी नहीं था और इसे खाद्यान्नों के आयात पर निर्भर करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त, 1947 में देश के विभाजन ने कृषि की स्थिति और बिगाड़ दी क्योंकि हमारे हिस्से में जनसंख्या का अधिक भाग और इसकी अपेक्षा भूमि का कम भाग प्राप्त हुआ।

कृषि क्षेत्र के लिए आयोजन के लक्ष्य

कृषि क्षेत्र के विकास का आयोजन करते हुए योजना आयोग ने चार मुख्य उद्देश्य रखे–

1. **कृषि उत्पादन** में वृद्धि का लक्ष्य सदैव रखा गया है और इसके लिए
   (क) कृषि आधीन क्षेत्र में लगातार वृद्धि करना;
   (ख) प्रति हैक्टेयर उत्पाद (अर्थात् कृषि उत्पादिता) में वृद्धि के लिए, कृषि-आदानों (Agricultural inputs) जैसे सिंचाई, उन्नत बीजों, उर्वरकों आदि का अधिकाधिक प्रयोग करना;
   (ग) कृषि उत्पादन में वृद्धि करना।
2. **रोज़गार के अवसर बढ़ाना**–कृषि उत्पादन में वृद्धि के साथ, कृषि क्षेत्र को रोज़गार के अतिरिक्त अवसर कायम करने होंगे और इस प्रकार हमारे गांवों में गरीब वर्गों की आय बढ़ानी होगी।
3. **भूमि पर जनसंख्या के दबाव को कम करना**–चूंकि जनसंख्या का भारी भाग भूमि पर निर्भर है, इसलिए कम करना है। अतिरिक्त श्रमिकों को द्वितीयक एवं तृतीयक क्षेत्रों (Secondary and tertiary sectors) की ओर हस्तांतरित करना होगा।

4. **ग्रामीण क्षेत्र** में आय की असमानताओं को कम करना—सरकार को मुज़ारों (Tenants) के शोषण को समाप्त कर देना चाहिए और अतिरिक्त भूमि को छोटे तथा सीमान्त किसानों (Marginal farmers) में इस प्रकार वितरित करना चाहिए कि इससे ग्राम क्षेत्र में कुछ हद तक समानता एवं न्याय कायम हो सके।

ये चार उद्देश्य सामान्यतया सभी योजनाओं में अपनाए गए हैं, परन्तु व्यवहार में भारत में कृषि-आयोजन (Agricultural planning) का अर्थ केवल कृषि-उत्पादन में वृद्धि ही समझा जाता है अर्थात् केवल पहले लक्ष्य की प्राप्ति और अन्य सभी उद्देश्यों की या तो उपेक्षा की गयी या उन्हें निम्न प्राथमिकता दी गयी।

कृषि में प्रयुक्त रणनीति

कृषि उत्पादन में वृद्धि एवं रोजगार में वृद्धि प्राप्त करने के लिए, पंचवर्षीय योजनाओं में विभिन्न कार्यक्रमों का उपयोग किया गया जैसे सामुदायिक विकास प्रोग्राम और कृषि-विस्तार सेवाओं (Agricultrual Extension Services) को देशभर में फैलाना, सिंचाई सुविधाओं, उर्वरकों, कीटनाशकों, कृषि-मशीनरी, अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों का विस्तार। इनके साथ-साथ परिवहन, पावर, विपणन (Marketing) और संस्थानात्मक उधार (Institutional credit) का विस्तार भी किया गया।

भूमि पर जनसंख्या के दबाव को कम करने के लिए योजना आयोग ने ग्राम-विकास (Rural Development) की रणनीति अपनायी। इसके लिए ग्राम-क्षेत्रों में कृषि-आधारित उद्योग (Agro-based industries) और हस्तशिल्प स्थापित किए गए। इसके साथ-साथ ग्रामीण परिवहन एवं संचार प्रोन्नत किया गया और लोगों को कृषि से उद्योगों और सेवा क्षेत्र की ओर जाने के लिए प्रोत्साहित किया गया।

अन्तिम, ग्रामों में समानता एवं न्याय कायम करने के लिए योजना आयोग ने भू-सुधारों (Land reforms) की रणनीति अपनायी जिसके अन्तर्गत ज़मीदारों जैसे बिचौलियों को समाप्त किया गया, काश्तकारों की सुरक्षा के लिए काश्तकारी कानून (Tenancy legislation) बनाया गया और जोत की अधिकतम सीमा को लागू करने से प्राप्त अतिरिक्त भूमि भूमिहीन श्रमिकों, छोटे तथा सीमान्त किसानों में बांटी गयी।

कृषि-क्षेत्र में निवेश का ढांचा

कृषि क्षेत्र में निवेश का ढांचा तालिका में दिया गया है।

तालिका 2.2: कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्रों में सरकारी परिव्यय का ढांचा

करोड़ रुपये

योजना	अवधि	कुल योजना परिव्यय	कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र	कृषि तथा सम्बद्ध क्षेत्रों का कुल परिव्यय में प्रतिशत
प्रथम योजना	1951-56	2,380	350	14.9
दूसरी योजना	1956-61	4,500	500	11.3
तीसरी योजना	1961-66	8,580	1,090	12.7
चौथी योजना।	1969-74	15,800	2,320	14.7
पांचवी योजना	1974-79	39,430	4,870	12.3
छठी योजना	1980-85	97,500	5,700	5.8

नोट

आरम्भ में "कृषि क्षेत्र" के अर्थ की व्याख्या करना आवश्यक है। पहली तीन योजनाओं में, "कृषि क्षेत्र" में शामिल थे कृषि और सम्बद्ध क्षेत्र (उद्यान-कृषि (Horticulture), पशुपालन और मत्स्य) एवं सिंचाई तथा बाढ़-नियंत्रण। उत्तरोत्तर योजनाओं में, "ग्रामीण विकास" और "विशेष क्षेत्र कार्यक्रम" जोड़े गए और सिंचाई एवं बाढ़-नियंत्रण को छोड़ दिया गया।

(क) पांचवी योजना तक कृषि पर परिव्यय में कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र, विशेष क्षेत्र कार्यक्रम और ग्रामीण विकास शामिल किए गए, और

(ख) पांचवी योजना के पश्चात्, कृषि तथा सम्बद्ध क्षेत्रों में केवल अनुसंधान और शिक्षा को शामिल कि गया और ग्रामीण विकास को छोड़ दिया गया।

यह बात साफ़ हो जाती है कि प्रत्येक योजना में परिव्यय में वृद्धि हुई और इसके तदनुरूप कृषि तथा सम्बद्ध क्षेत्रों पर परिव्यय में भी वृद्धि हुई परन्तु कुल योजना परिव्यय के प्रतिशत के रूप में कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्रों का प्रतिशत प्रथम योजना और पांचवी योजना के दौरान 11.3 प्रतिशत के बीच रहा। इस क्षेत्र में कृषि के अतिरिक्त पशुपालन, विशेष क्षेत्र कार्यक्रम, ग्रामीण विकास और वन शामिल हैं। छठी योजना और इसके बाद कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्रों पर व्यय का भाग 4.9 प्रतिशत से 5.9 प्रतिशत के बीच रहा। परन्तु यहां कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्रों में केवल पशुपालन और अनुसंधान एवं शिक्षा ही शामिल हैं।

भारतीय योजना आयोग ने वे विभिन्न प्रोग्राम निश्चित कर दिए जो कृषि उत्पादन को बढ़ाएगें। इनमें शामिल किए गए: सिंचाई, भू-सरंक्षण (Soil conservation), शुष्क खेती (Dry farming) और भू-उद्धरण (Land reclama- tion), उर्वरकों एवं खादों का संभरण, और देश भर में कृषि-विस्तार सेवाए, भू-सुधारों का प्रयोग, परिवहन, पावर, विपणन और अन्य बुनियादी। तीसरी योजना के पश्चात् सबसे अधिक बल सिंचाई-उर्वरक-बीज तकनालाजी (Irrigation, fertilizer and seed technology) पर दिया गया जिसके कारण हरी-क्रान्ति (Green Revolution) संभव हुई।

यदि हम सिंचाई एवं बाढ़ नियंत्रण और ग्रामीण विकास को शामिल कर लें, तो कृषि पर व्यय कुल योजना परिव्यय के 20 से 24 प्रतिशत के बीच रहा। इसका अपवाद केवल पहली योजना थी, जिसमें यह 1 प्रतिशत के उच्च स्तर पर था।

तालिका 2.3: विभिन्न योजनाओं में कृषि क्षेत्र की उपलब्धियाँ

योजना	खाद्यान्न लक्ष्य वास्तविक		तिलहन		गन्ना		रुई		पटसन	
			लक्ष्य	वास्तविक	लक्ष्य	वास्तविक	लक्ष्य	वास्तविक	लक्ष्य	वास्तविक
पहली योजना	620	670	55	56	630	600	42	40	54	42
दूसरी योजना	810	800	76	65	780	1,040	65	54	65	40
तीसरी योजना	1,000	720	98	64	1,000	1,270	70	46	62	45
चौथी योजना	1,290	1,040	105	87	1,500	1,400	80	58	74	62
पांचवी योजना	1,250	1,320	120	89	1,650	1,650	80	71	77	71
छठी योजना	1,540	1,460	111	130	2,150	1,700	92	85	91	78
सातवीं योजना	1,800	1,710	180	170	2,170	2,100	95	105	95	79
आठवीं योजना	2,100	1,990	230	250	2,750	2,770	140	143	95	110
नौवीं योजना	2,340	2,110	300	207	3,360	3,000	157	101	--	116

स्रोत—योजना प्रलेख एवं आर्थिक समीक्षाएँ

नोट–

1. खाद्यन्नों, तिलहनों एवं गन्ने का उत्पादन लाख टन
2. रुई का उत्पादन 180 किलोग्राम के लाख गट्ठे
3. पटसन का उत्पादन 170 किलोग्राम के लाख गट्ठे

नोट

2.4 भारत में फसल-प्रतिरूप एवं प्रवृत्तियाँ

फसल प्रतिरूप (Cropping pattern) से हमारा अभिप्राय किसी समय-विशेष पर विभिन्न फसलों के आधीन क्षेत्रफल के अनुपात से है। फसल-प्रतिरूप में परिवर्तन का अर्थ विभिन्न फसलों के आधीन क्षेत्रफल में फेर-बदल से है। फसलों को मोटे तौर पर दो भागों में बांट लिया जाता है–खाद्य फसलें और खाद्येतर फसलें (Non-food crops)।

बीसवीं शताब्दी में इन दोनों प्रकार की फसलों के आधीन क्षेत्रफल का वितरण तालिका में दिया गया है।

तालिका 2.4: फसल-वितरण का स्वरूप

प्रतिशत वितरण

फसल	1950-51	1970-71		1980-81		2003-04
()	सभी फसलें	100	100	100	100	
()	खाद्य फसलें	74	78	80	76	
()	खाद्येतर फसलें	26	22	20	24	

इस शताब्दी के आरम्भ में खाद्य एवं खाद्येतर फसलों के अधीन क्षेत्रफल का वितरण क्रमशः 83 प्रतिशत और 17 प्रतिशत था जोकि 1950-51 तक परिवर्तित होकर 74 प्रतिशत और 26 प्रतिशत हो गया परन्तु 1960-61 के बाद के आँकड़े इस प्रवृत्ति के पलटाव को व्यक्त करते हैं और यह परिवर्तन निश्चय ही खाद्येतर फसलों से खाद्य-फसलों की ओर हुआ। 1980-81 तक, खाद्य एवं खाद्येतर फसलों का अनुपात 80 : 28 हो गया। इसके दो मुख्य कारण थे, खाद्यान्नों की कीमतों में तीव्र वृद्धि के कारण किसान अनाज का उत्पादन ठीक उसी प्रकार मण्डी के लिए करने लगे हैं जैसे वे तिलहनों, रुई या अन्य वाणिज्य फसलों का करते थे। दूसरे शब्दों में, वाणिज्य फसलों और खाद्य-फसलों में पारम्परिक भेद अब अपना महत्त्व खोता चला आ रहा है। दूसरे, खाद्यान्न फसलों की खेती अब बहुत लाभदायक बन गई है और नयी तकनीक के प्रभावाधीन अधिक उत्पादक भी हो गई है।

खाद्यान्नों के सम्बन्ध में, क्षेत्र में सबसे अधिक वृद्धि गेहूं में रिकार्ड की गई अर्थात् 150 प्रतिशत। जबकि चावल के आधीन क्षेत्रफल में मर्यादित वृद्धि हुई (अर्थात् 36 प्रतिशत), मोटे अनाजों में नाममात्र वृद्धि हुई। जाहिर है कि फसल-प्रतिरूप छोटी फसलों की तुलना में मुख्य फसलों की ओर परिवर्तित हुआ है। पारम्परिक वाणिज्यिक फसलों अर्थात् तिलहनों, रुई, पटसन, गन्ना आदि के क्षेत्र में प्रभावशाली वृद्धि हुई जो कि खाद्य फसलों (केवल गेहूं को छोड़कर) में वृद्धि से अधिक थी। इनमें से सबसे आश्चर्यजनक वृद्धि आलू के आधीन क्षेत्रफल में हुई है अर्थात् 1951 और 2004 के बीच 300 प्रतिशत। 2003-04 तक, खाद्यान्नों और गैर-खाद्यान्न-फसलों के आधीन क्षेत्रफल और गैर-खाद्यान्न फसलों के आधीन क्षेत्रफल परिवर्तित होकर 76 : 24 हो गया है।

नोट

भारत में फसल-प्रतिरूप (Cropping pattern) को प्रभावित करने वाले कारणतत्व किसी देश अथवा प्रदेश के फसलों के प्रतिरूप (Cropping pattern) में परिवर्तन की संभावना के विषय में दो मत हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि फसलों के प्रतिरूप में परिवर्तन नहीं किया जा सकता जबकि दूसरे विद्वान यह मानते हैं कि सुविचारित नीति के सहारे इसे बदला जा सकता है। श्री एस.एन. सिन्हा ने पहले प्रकार का विचार प्रकट किया है–"परम्पराबद्ध तथा ज्ञान के अत्यन्त निम्न स्तर वाले देश के किसान प्रयोग करने को उद्यत नहीं होते। वे प्रत्येक बात को विरक्ति और भाग्यवाद की भावना से स्वीकार करते हैं। उनके लिए कृषि वाणिज्य-व्यापार की वस्तु न होकर जीवन की एक प्रणाली है–एक ऐसे कृषि-प्रधान समाज में जिसके सदस्य परम्पराबद्ध और अशिक्षित हैं, फसल में परिवर्तन की अधिक सम्भावना नहीं रहती।" अब इस बात को सही नहीं समझा जाता जैसा कि पंजाब में फसल-प्रतिरूप में परिवर्तन से स्पष्ट हो गया है। अब यह बात अधिकतर विद्वानों द्वारा स्वीकार कर ली गई हैं कि भारत जैसे देश में भी फसल-प्रतिरूप बदला जा सकता है और इसे बदलना चाहिए।

फ़सलों के प्रतिरूप को निर्धारित करने वाले बहुत से कारण हैं–भौतिक, तकनीकी, आर्थिक, समाजशास्त्री, प्रशासनिक और यहां तक कि राजनीतिक भी। इनमें आर्थिक तत्वों का महत्त्व सबसे अधिक है।

भौतिक एवं तकनीकी तत्व–किसी प्रदेश की फसल-प्रतिरूप उसकी भौतिक विशिष्टताओं अर्थात् मिट्टी, जलवायु, मौसम, वर्षा आदि पर निर्भर करती है। उदाहरणतया, एक ऐसे शुष्क क्षेत्र में, जिसमें थोड़ी वर्षा होती है तथा मानसून बहुत अनिश्चित होता है, ज्वार और बाजरा पर ही अधिक निर्भर रहना पड़ता है, क्योंकि यह खेती कम वर्षा में भी हो सकती है। देश के अधिकांश भागों में यही काम किया जा सकता है। फसल चक्र (Crop rotation) का निर्धारण भी भौतिक कारणों से होता है। किन्तु तकनीकी उपायों से फसल-चक्र बदला जा सकता है। तो भी कुछ परिस्थितियों में भौतिक बाधाएँ निर्णायक होती हैं। उदारहरणतयां, पंजाब के संगरूर और लुधियाना जिलों के कुछ भागों में जलरोध (Water-logging) के कारण चावल के उत्पादन क्षेत्र में वृद्धि हो गई है क्योंकि अन्य फ़सलों के मुक़ाबले चावल की अतिरिक्त पानी को भली-भांति सह सकती है। मध्य प्रदेश में जिस भूमि का हाल ही में पुनरुद्धार (Reclamation) किया गया है, उसमें चावल उगाने से पहले कुछ वर्षों तक मोटा अनाज बोया जा रहा था।

मिट्टी एवं जलवायु की परिस्थितियों के अतिरिक्त, किसी क्षेत्र की फसलों के प्रतिरूप पर सिंचाई सुविधाओं के प्रकार और उनकी उपलब्धता का भी प्रभाव पड़ता है। जहाँ पानी उपलब्ध हो जाता है, वहाँ न केवल विभिन्न प्रकार की फसल बोई जा सकेंगी; बल्कि दोहरी या तिहरी फसल संभव हो सकेगी। जब नयी सिंचाई सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाती हैं, तो खेती का पूरा ढंग ही बदल जाता है। एक बढ़िया फसल उगाई जा सकती है, एक नया फसल-चक्र संभव हो सकता है। गन्ने और तम्बाकू आदि की खेती में वृद्धि का एक महत्त्वपूर्ण कारण

सिंचाई सुविधाओं का विस्तार किया जाना है। यह सम्भव है कि पूंजी का अभाव, अच्छे औजारों, उन्नत बीजों और उर्वरकों के लिए वित्त न मिलने के कारण; उचित प्रकार की फसल कराई जाती हैं, फसलों के ढांचें में परिवर्तन हो जाता है।

आर्थिक कारणतत्व (Economic factors)–देश की फसलों के प्रतिरूप का निर्धारण करने में आर्थिक कारणों का महत्त्व सबसे अधिक है। अतीत भारत में स्थिति चाहे जो रही हो, अब यह स्पष्ट होता जा रहा है कि भारतीय किसान अब आर्थिक कारणतत्वों से प्रभावित हो रहा है। इनमें महत्त्वपूर्ण तत्व निम्न हैं–

(1) **कीमत और आय को अधिकतम करना**—अनेक व्यावहारिक अध्ययनों से कीमत में परिवर्तनों और फसलों के ढांचे में परस्पर सम्बन्ध स्थापित होता है। डॉ. एन.ए. मजूमदार ने कीमत-समता अनुपात (Price parity ratio) की गतियों और गन्ने के अखिल भारतीय क्षेत्रफल में परिवर्तन के बीच तथा पटसन एवं चावल के आधीन क्षेत्रफल और इन वस्तुओं की सापेक्ष कीमतों (Relative prices) के बीचघनिष्ठ सम्बन्ध को प्रमाणित किया है। खाद्य और कृषि मंत्रालय के अध्ययन से पता चलता है कि कीमतों में परिवर्तन का क्षेत्रफल के परिवर्तन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। "ऐसा प्रतीत होता है कि कीमतों का फसलों के आधीन क्षेत्रफल पर दो रूपों में प्रभाव पड़ता एक और तो अन्तःकीमत समता (Inter-price parity) फसल-फसल के बीच, और दूसरी और ऊंची कीमतों की अपेक्षा कीमत-स्तर (Price level) को स्थिर रखने से उत्पादकों को उत्पादन बढ़ाने की कहीं अधिक प्रेरणा मिलती है बशर्ते कि इस स्तर को अनेक वर्षों तक कायम रखने में अनिश्चितता न हो।"

कुछ विद्वानों के अनुसार अधिकतम आय की प्रेरणा भी फसलों का ढाँचा (Pattern of crops) बदलने पर और भी अधिक प्रभाव डालती है क्योंकि किसान उसी फसल को उगाना पसन्द करेगा जिससे उसे अधिकतम आय प्राप्त होगी। किन्तु डॉ. राजकृष्ण का मत है कि फसलों के प्रतिरूप को प्रभावित करने वाला मुख्य कारण प्रति-एकड़ सापेक्ष लाभ (Relative profit) होता है। किसी भी परिस्थिति में, फसल का चुनाव करने में किसान पर जिन बातों का प्रभाव पड़ता है, वे हैं—विभिन्न वस्तुओं के बीच कीमत-समता (Price parity), आय का अधिकतम होना और प्रति-एकड़ सापेक्ष लाभ।

(2) **खेत का आकार** (Size of Farms)—खेत के आकार और फसलों के ढांचे के बीच भी सम्बन्ध रहता है। छोटे किसान बड़े किसानों के मुकाबले व्यापारिक फसलों के लिए सापेक्षतः कम भाग का प्रयोग करते हैं। इसका कारण यह है कि छोटे किसान सबसे पहले अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए खाद्यान्न उत्पन्न करना चाहते हैं। अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण कर चुकने पर ही वे व्यापारिक फसलें उगाते हैं। परन्तु हाल ही में उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले के अध्ययन से स्पष्ट हुआ है कि लगभग सभी किसान, बड़े तथा छोटे, कुछ नकद फसलें (Case crops) उगाने का प्रयत्न करते हैं। वास्तव में हाल ही के वर्षों में बड़े किसानों की अपेक्षा छोटे किसान गन्ने के आधीन क्षेत्रफल को बढ़ाते रहते हैं।

यह सत्य है कि निर्वाह की आवश्यकता के कारण छोटे किसानों का फसलों का ढाँचा परम्परा से प्रभावित होता आया है किन्तु उनकी मौद्रिक आय की सीमान्त आवश्यकता किसी भी प्रकार बड़ें किसान से अधिक नहीं हो सकती। अर्थव्यवस्था की प्रगति के साथ-साथ छोटे किसानों द्वारा अपनी आय अधिकतम करने के उद्देश्य से अपने शस्य प्रतिरूप (Cropping pattern) में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सीमान्त परिवर्तन होने की सम्भावना है।

(3) **जोखिम के विरुद्ध बीमा**—फसल विफलता का जोखिम कम-से-कम करने की आवश्यकता का भी फसलों के ढांचे पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरणतया, अनेक क्षेत्रों में ज्वार-बजारे आदि मोटे अनाज की खेती के लगातार होने का कारण मुख्यतः वर्षा की अनिश्चितता से बचने का प्रयत्न है।

(4) **आदानों की उपलब्धता** (Availability of inputs)—शस्य प्रतिरूप बीज, उर्वरक, पानी-संग्रह, विपणन (Marketing) और परिवहन आदि आदानों पर भी निर्भर रहता है। मूँगफली के

बीच की उपलब्धता के कारण मध्य प्रदेश में अनेक कृषकों को मूंगफली की खेती अधिक विस्तृत क्षेत्र में करने की प्रेरणा मिली। किसानों द्वारा रूई के मुकाबले मूँगफली को श्रेष्ठ समझने का एक कारण यह भी है कि रूई की फसल विलम्ब से तैयार होती है जबकि मूँगफली की फसल शीघ्र तैयार हो जाती है।

नोट

(5) **भू-धारण** (Tenure)—**फसल बटाई प्रणाली** (Crop sharing system) के अन्तर्गत भू-स्वामी को फसलों के चुनाव का प्रमुख अधिकार प्राप्त होता है जिसके परिणामस्वरूप, आय को अधिक करने वाला फसलों को ढाँचा अपनाया जाता है।

सरकारी कार्यवाही और फसलों का ढाँचा

सरकार वैधानिक और प्रशासनिक अपायों से फसलों के ढांचे के निर्धारण पर प्रभाव डाल सकती है। किसानों को कृषिगत आदान (Agricultrual inputs) और ज्ञान उपलब्ध कराने में साहाय्य (Subsidies) प्रदान कर सकती है। सरकार कुछ प्रकार की फसलों के लिए कुछ सुविधाएँ उपलब्ध करा सकती है। सिंचाई सुविधाएँ, उर्वरक और बीज आदि उपलब्ध कराने की व्यवस्था को विशेष शस्य-प्रतिरूप (Crop pattern) से सम्बन्धित किया जा सकता है।

यद्यपि खाद्य-शस्य अधिनियम (Food Crops Acts), भू उपयोग अधिनियम (Land Use Acts), धान, कपास, तिलहन आदि की सघन खेती (Intensive cultivation) की योजनाएँ, उत्पाद-शुल्क (Excise duties) तथा निर्यातशुल्क (Export duties) आदि के प्रयोग से या इन विभिन्न उपायों के एक साथ प्रयोग से कल्पित दिशा में फसलों क ढांचें को प्रभावित किया जा सकता है, तथापि सम्भव है कि उक्त समस्त उपायों का सम्पूर्ण फसलों के ढांचे पर कुल प्रभाव ऐसा न पड़े जो राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप हों।

निष्कर्ष

शस्य-प्रतिरूप (Cropping pattern) को प्रभावित करने वाले कारणों में आर्थिक कारण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। भारत जैसे देश में जहाँ किसान दरिद्र व रूढ़िग्रस्त हैं तथा जिनके पास भूमि के बहुत छोटे खण्ड ही हैं, आर्थिक अभिप्रेरणाओं (Economic incentives) द्वारा फसलों के ढांचे को बदला जा सकता है। हाल ही के वर्षों का अनुभव इस बात की पुष्टि करता है कि जब कभी किसान को शस्य-प्रतिरूप को बदलना युक्तिसंगत लगता है; तो वह इस युक्ति को अवश्य स्वीकार करता है।

उद्यान खेती : नई पहल

भारतीय किसान अब उद्यान-खेती (Horticulture) के महत्त्व को समझने लगे हैं। इस क्षेत्र में शामिल हैं—फल और सब्जियाँ, मसाले, पुष्प-खेती (Floricultrue) और नरियल। इस खेती से भूमि की उत्पादिता (Productivity) को उन्नत करने, रोज़गार कायम करने, पोषण-सम्बन्धी सुरक्षा (Nutritional security) प्राप्त करने और किसानों की आर्थिक स्थिति सुधारने में मदद मिलेगी। 2003-04 में उद्यान-खेती के आधीन 170 लाख हैक्टेयर भूमि लायी गयी जो देश के कुल काश्त-आधीन क्षेत्रफल का 8.5 प्रतिशत थी, जबकि यह खेती 1991-92 में 123 लाख हैक्टेयर भूमि में की जाती थी। 1992 और 2004 के दौरान, मुख्य उद्यान-खेती सम्बन्धी फसलों का उत्पादन 970 लाख टन से बढ़कर 1,560 लाख टन हो गया। भारत में उद्यान खेती सम्बन्धी उत्पादों को बढ़ाने के लिए अत्यधिक क्षेत्र विद्यमान है। भारत विश्व में फल उगाने का दूसरा सबसे बड़ा उत्पादक है (480 लाख टन और विश्व-उत्पादन

का 10 प्रतिशत) और सब्जियों का सबसे बड़ा उत्पादक है (900 लाख टन)। भारतीय किसान बड़े उत्साह से नयी फसलों और बदलते हुए उत्पादन के ढांचे को अपना रहे हैं।

नोट

2.5 भारतीय हरित क्रांति

1960-70 के दशक के मध्य के पश्चात् भारत में पारम्परिक कृषि व्यवहारों (Agricultural practices) का प्रतिस्थापन आधुनिक टेक्नोलॉजी एवं फार्म-व्यवहारों से किया जा रहा है। इसके परिणामस्वरूप भारत में एक कृषि क्रान्ति व्यक्त हुई। आरम्भ में, नयी टेक्नोलॉजी का प्रयोग 1960-61 में सात आई. ए. डी. पी. जिलों में मार्गदर्शी परियोजना (Pilot project) के रूप में किया गया। इसके बाद, अधिक उपजाऊ किस्म के बीज (High yielding varieties) के प्रोग्राम को आई. ए. डी. पी. के साथ जोड़ दिया गया और इस विकास-रणनीति का पूरे देशभर में विस्तार करने का लक्ष्य तय किया गया। इसे हरित क्रान्ति (Green revolution) कहने की बजाए यह कहीं बेहतर होगा कि इसे भारतीय कृषि का आधुनिकीकरण (Modernisation) कहा जाए।

पारम्परिक कृषि अधिकतर देशीय आदानों (Indigenous inputs) पर निर्भर करती है। इसमें कार्बनिक खादों, साधारण हलों एवं अन्य आदिकालीन कृषि औजारों, बैलों आदि का प्रयोग होता है। इसके विरुद्ध, आधुनिक तकनालाजी में रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशकों, बीजों की उन्नत किस्मों (जिनमें संकर बीज भी शामिल हैं), कृषि मशीनरी, विस्तृत सिंचाई, डीज़ल और विद्युत शक्ति आदि का प्रयोग सम्मिलित हैं। 1966 के पश्चात् आधुनिक कृषि आदानों (Modern agricultural inputs) के प्रयोग में 10 प्रतिशत की वार्षिक चक्रवृद्धि दर से उन्नति हुई है और इसकी तुलना में इसी काल के दौरान पारम्परिक आदानों का प्रयोग केवल 1 प्रतिशत प्रतिवर्ष बढ़ा है।

नयी कृषि-तकनालाजी ऐसे संसाधनों अर्थात् उर्वरकों, कीटनाशकों, कृषि-मशीनरी आदि पर आधारित है जो कृषि क्षेत्र के बाहर उत्पन्न किए जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप आधुनिक फार्म-आदानों (Farms inputs) के उत्पादन करने वाले उद्योगों का तीव्र गति से विकास हुआ है। फार्म-यन्त्रीकरण (Farm mechanization) और सिंचाई के महान प्रोग्रामों के फलस्वरूप ग्राम-क्षेत्रों में बिजली और डीज़ल के उपभोग में वृद्धि हुई।

आधुनिक तकनालाजी के गुह्यार्थ

नयी तकनालाजी अपनाने के फ़लस्वरूप फसल के कुल उत्पादन और उत्पादिता एवं रोजगार में लगातार वृद्धि हुई है। गेहूँ, चावल, मक्का, आलू आदि के सम्बन्ध में प्रभावशाली परिणाम प्राप्त हुए हैं। नयी तकनालाजी के अपनाने से रोजगार में भी वृद्धि हुई है क्योंकि बहु-विधि फसलों और भाड़ा-मजदूरों के प्रयोग से रोजगार के अवसरों का विविध दिशाओं में विस्तार हुआ है। इसके साथ ही कृषि-मशीनरी के अत्याधिक प्रयोग से श्रम का विस्थापन (Displacement of labour) भी हुआ है।

नयी तकनालाजी और कृषि के आधुनिकीरण से कृषि और उद्योग के परस्पर सम्बन्ध को और मजबूत बना दिया है। पारम्परिक कृषि से भी कृषि एवं उद्योग का अग्रगामी-सम्बन्ध (Forward linkage) बहुत प्रबल था क्योंकि कृषि उद्योग के लिए बहुत से आदान मुहैया कराती है परन्तु इनमें प्रतिगामी सम्बन्ध (Backward linkage) बहुत कमजोर था क्योंकि कृषि द्वारा उद्योग से उत्पन्न बहुत कम निर्मित वस्तुओं का प्रयोग होता था। परन्तु कृषि के आधुनिकरण के कारण कृषि द्वारा उद्योग के माध्यम से उत्पन्न आदानों (inputs) की माँग में भारी वृद्धि हुई है और परिणामतः कृषि का प्रतिगामी सम्बन्ध और मजबूत हो गया है। इस प्रकार कृषि एवं उद्योग में सम्बन्ध प्रबल हो गया है।

नोट

आधुनिक टेक्नोलॉजी से ऐसे क्षेत्रों को सबसे अधिक लाभ हुआ है जो साधन-सम्पन्न हैं और इसके परिणामस्वरूप अन्त:क्षेत्रीय असमानताओं (Inter-regional disparities) में वृद्धि हुई है। भारत के 70 प्रतिशत क्षेत्रफल में अब भी कृषि वर्षों की अनिश्चितता पर निर्भर है और नयी टेक्नोलॉजी इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कर पायी। इससे देश के बहुत से भागों में उत्पादन एवं उत्पादिता के निम्न स्तर की व्याख्या होती है। इससे कुछ वर्षों में खाद्यान्नों एवं नकद फसलों के उत्पादन के निम्न स्तरों की भी व्याख्या होती है।

छोटे किसान जिनके वित्तीय स्रोत बहुत क्षीण हैं और जिनकी ऋणपात्रता बहुत कमजोर है, नयी तकनालाजी को बड़े पैमाने पर अपना नहीं सके हैं। ग्राम-परिवारों का बहुसंख्यक भाग जिसके पास बहुत थोड़ी भूमि है या भूमि है ही नहीं, नई तकनालाजी में अन्तर्निहित अधिक जोखिम, संसाधनों पर सीमित नियन्त्रण और संस्थानात्मक सुविधाओं का अभाव कृषि की आधुनिक तकनीक के विकास में मुख्य अड़चनें है।

नयी टेक्नोलॉजी ने किसान को बाजार-प्रेरित (Market-oriented) बना दिया है। किसान आदानों के सम्भरण के लिए और अपने उत्पाद की माँग के लिए बाजार पर अधिक निर्भर हो गए हैं। इसके साथ-साथ जैसे-जैसे नयी तकनालाजी के प्रयोग से किसानों की नकद आवश्यकताओं में वृद्धि हुई है, उनकी कृषि-उधार की माँग भी बढ़ गई है।

अन्तिम, आधुनिक टेक्नोलॉजी ने पारम्परिक टेक्नोलॉजी पर अपनी श्रेष्ठता केवल उन्हीं क्षेत्रों में स्थापित की है जिनमें "उचित परिस्थितियाँ" विद्यमान हैं परन्तु जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, ये परिस्थितियाँ तो कुछ चुने हुए क्षेत्रों में ही पायी जाती हैं और देश का शेष भाग उन्नत तकनालाजी के लिए उचित नहीं है। अत: आवश्यकता इस बात की है कि ऐसी कम-लागत वाली तकनालाजी (Low cost technology) का विकास किया जाए जो छोटे किसानों द्वारा अपनायी जा सके और जिसके द्वारा स्थानीय संसाधनों का प्रयोग एवं विदोहन हो सके।

नयी कृषि विकास रणनीति

नयी कृषि विकास-रणनीति की मुख्य उपलब्धि अनाजों अर्थात् गेहूँ और चावल के उत्पादन को बढ़ावा देना है।

तालिका 1 में पिछले कुछ वर्षों के दौरान मुख्य खाद्य फसलों का उत्पादन दिया गया है। तालिका पर ध्यानपूर्वक विचार करने से पता चलता है कि चावल का उत्पादन जो 1970-71 में 350 लाख टन था बढ़ कर 2005-06 में 910 लाख टन हो गया। जाहिर है भारत की इस मुख्य फसल में उत्पादन तेजी से बढ़ा है। प्रति हेक्टेयर उत्पादन में भी वृद्धि हुई है और यह 1960-61 में 1,123 किलोग्राम से बढ़कर 2004-05 में 2,026 किलोग्राम हो गया। गेहूँ का उत्पादन जो 1970-71 में 238 लाख टन था यह बढ़कर 1999-00 में 750 लाख टन हो गया परन्तु 2004-05 में कम होकर 695 लाख टन हो गया। इस वृद्धि का कुछ भाग तो क्षेत्रफल में विस्तार के कारण था,

परन्तु इसी अवधि के दौरान प्रति हेक्टेयर उत्पादन 1,307 किलोग्राम से 2004-05 में बढ़कर 2,720 किलोग्राम हो गया अर्थात् 34 वर्षों के दौरान इसमें 108 प्रतिशत की वृद्धि हुई। जबकि मक्का ने भी प्रभावशाली प्रगति दिखायी है, अन्य मोटे अनाजों और दालों में कोई वृद्धि नहीं हुई, बल्कि इस अवधि के दौरान इनमें गिरावट आयी है।

तालिका 2.5: खाद्यान्नों के उत्पादन की प्रगति लाख टन

	1970–1971	1990–1991	2003–2004	2005–2006
चावल	422	750	870	910
गेहूँ	238	550	720	695
मोटे अनाज	300	320	380	347
(क) कुल अनाज	960	1,620	1,970	1,952
(ख) कुल दालें	118	140	150	131
कुल खाद्यान्न (क + ख)	**1,084**	**1,760**	**2,120**	**2,083**

हरी क्रांति की आरम्भिक सफलता के पश्चात् यह आशा की जाती थी कि खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि की प्रवृत्ति बनी रहेगी। इसी कारण 1970–71 में खाद्यान्न उत्पादन बढ़कर 1,084 लाख टन हो गया। यह बात बड़े गर्व सेघोषित की गयी कि हरित क्रान्ति के परिणामस्वरूप खाद्य-आयात बन्द कर दिए गए है और काफी अच्छी मात्रा में बफर-स्टॉक एकत्र कर लिए गए हैं। परन्तु 1972–73 में सूखा पड़ने के कारण यह स्थिति कायम न रह सकी। पाँचवी योजना के दौरान भी खाद्यान्न के उत्पादन में तेज उच्चावचन हुए हैं। 1974-75 के 1,000 लाख टन के निम्न स्तर से उत्पादन बढ कर 1975-76 में 1,210 लाख टन हो गया। फिर 1976-77 यह गिर कर 1,110 लाख टन हो गया। 1985-86 में 1,520 लाख टन का रिकार्ड खाद्यान्न उत्पादन हुआ किन्तु बुरे मौसम के कारण यह गिरकर 1987-88 में 1,380 लाख टन रह गया। 1990-91 में खाद्यान्न का उत्पादन एकदम तेजी से बढ़कर 1,760 लाख टन हो गया, परन्तु 1991-92 के दौरान गिरकर 1,670 लाख टन रह गया। 2005-06 में खाद्यान्न उत्पादन पुन: बढ़कर 2,083 लाख टन हो गया।

नयी कृषि विकास रणनीति के आरम्भ के पश्चात कृषि उत्पादन में उच्चावचन सम्बन्धी दो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं:

(क) अनाज का उत्पादन पहले की भाँति मौसम पर बहुत हद तक निर्भर है; और

(ख) अब गत वर्षों की अपेक्षा अधिकतम एवं न्यूनतम उत्पादन कहीं अधिक है।

चूँकि हरित क्रान्ति का मुख्य बल खाद्यान्नों के उत्पादन को बढ़ाना था, इसलिए वाणिज्य फसलों (Commercial crops) के उत्पादन में वृद्धि की आशा करना उचित नहीं होगा। तालिका से स्पष्ट है कि 1969-70 और 1974-75 के दौरान गन्ने, रुई पटसन और तिलहनों के उत्पादन में कोई उल्लेखनीय उन्नति व्यक्त नहीं हुई। डॉ. धर्म नारायण ने इस परिस्थिति को रोप-फसलों के उत्पादन में लगभग पक्षाघात (Paralysis) की संज्ञा दी है।

1974-75 के पश्चात् गन्ने के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। परन्तु इस वृद्धि को क्रान्ति कहना उचित नहीं होगा। परन्तु 1980-81 के पश्चात् वाणिज्य फसलों के उत्पादन में भी महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई।

तालिका 2.6: भारत में वाणिज्य फसलों का उत्पादन

वस्तु	इकाई	1960-61	1990-91	2003-04	2005-06
गन्ना (गुड़)	लाख टन	1,100	2,540	2,450	2,784
रुई	लाख गट्ठे	60	100	140	196
पटसन	लाख गट्ठे	40	80	110	101
तिलहन	लाख टन	70	190	250	277

स्रोत: भारत सरकार, आर्थिक समीक्षा, 2005-06.

कुल रूप में, हरित क्रान्ति ने दालों के उत्पादन पर कोई प्रभाव नहीं डाला जबकि 1970-71 में खाद्यान्नों में इनका उत्पादन 118 लाख टन था, यह 1990-91 में बढ़कर 140 लाख टन हो गया परन्तु 2005-06 में फिर 101 लाख टन हो गया।

नोट

अतः दालों का उत्पादन पिछले 35 वर्षों में अवरुद्ध ही रहा या इसमें नाममात्र वृद्धि हुई। अतः हरित क्रान्ति केवल अनाजों जिनमें मुख्यतः गेहूँ, मक्का और बाजरा गिने जा सकते हैं।, तक ही सीमित रही। जबकि चावल का उत्पादन 1968-69 से 1978-79 के दौरान बड़ी मन्द गति से बढ़ा परन्तु इसके बाद चावल के उत्पादन में भी महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई।

हरित क्रान्ति की आरम्भिक सफलता के पश्चात् यह आशा की जाती थी कि खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि की प्रवृत्ति बनी रहेगी।

2.6 नयी कृषि विकास रणनीति की कमजोरियाँ

(1) **भारतीय कृषि में पूँजीवादी खेती का विकास**—अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए उर्वरकों और सिंचाई पर भारी विनियोग करना पड़ता है। भारी विनियोग करना छोटे और मध्यम श्रेणी के किसानों की क्षमता से बाहर है। भारत में लगभग 810 लाख जोतें हैं परन्तु केवल 6 प्रतिशत बड़े किसानों के पास कुल भूमि का 40 प्रतिशत है और केवल वही नलकूप, पम्पिंग सेट, उर्वरक और भारी मशीनरी के रूप में भारी विनियोग कर रहे हैं। परिणामतः नई कृषि-उत्पादन रणनीति के कारण भारत में पूँजीवादी खेती का विकास हुआ है। अतः कृषि-क्रान्ति में प्रसार-प्रभाव का अभाव और इस कारण भारतीय खेती में विकास कुछ आर्थिकघेरों में सीमित हो गया है। परिणामतः निर्धन किसानों को लाभ नहीं हुआ बल्कि इसके कारण ग्रामीण जनसंख्या के उच्चतम 10 प्रतिशत भाग के हाथ में सम्पत्ति का संकेन्द्रण हुआ है। अतः भारत में भद्र किसानों (Gentlemen farmers) की संख्या में वृद्धि का काफी प्रमाण उपलब्ध है। इनमें मिलिटरी की नौकरी से रिटायर हुए अफसर, रिटायर्ड सिविल अफसर, शहरी व्यापारी शमिल हैं जो अपनी आय उद्योग या व्यापार से प्राप्त करते हैं और जिन्होंने हाल ही में कृषि को एक उद्योग के रूप में चलाना आरम्भ किया है। यह वर्ग कृषि में विनियोग को लाभदायक समझता है। पंजाब में इनकी संख्या कुल किसानों की संख्या का 3 प्रतिशत है। पूँजीवादी किसानों, जिनमें भद्र किसानों के अतिरिक्त प्रगतिशील किसान भी शामिल हैं, के आधीन कुल फार्मों का 8.5 प्रतिशत फार्म हैं जो कि कुल कृषि योग्य क्षेत्रफल के 27 प्रतिशत क्षेत्र पर फैले हुए हैं। इस वर्ग के किसान ही ट्रैक्टरों, नलकूपों, पम्पिंग सेटों और अन्य उपकरणों पर विनियोग कर सकते हैं। इसी प्रकार ये किसान अपनी जोतों पर बिल्डिंग, भू-सुधार और अन्य मरम्मत आदि के लिए पूँजी-व्यय करने की सामर्थ्य रखते हैं। सर्वेक्षण के आधार पर यह परिणाम निकला है कि बड़े फार्मों पर प्रति एकड़ अधिक पूँजी-व्यय किया जाता है जो कि इनमें यन्त्रीकरण (Mechanisation) का सूचक है।

फ्राँसीन फ्रकन्ड, USAID विशेषज्ञ ने भारत के किसानों पर नयी कृषि विकास-रणनीति के समाजार्थिक सम्बन्धों (Socio-economic relations) पर प्रभाव का अध्ययन किया।

(2) **भारतीय कृषि में संस्थानात्मक सुधारों** (Institutional reforms) की आवश्यकता पर बल न देना--नई उत्पादन रणनीति कृषि में संस्थानात्मक सुधारों की आवश्यकता को

स्वीकार नहीं करती। किसानों के अधिकतर भाग को भू-अधिकार उपलब्ध कराने की तो बात ही क्या, हम भू-धारण की निश्चितता भी उपलब्ध नहीं करा पाए हैं। परिणामत: किसानों की बेदखलियाँ बड़े पैमाने पर की गई हैं। इसके नतीजे के तौर पर काश्तकारों को विवश होकर फसल सहभाजकों (Share croppers) की स्थिति स्वीकार करनी पड़ रही है। मिन्हास और श्रीनिवास ने उर्वरक प्रयोग के सम्बन्ध में फसल-सहभाज (Crop sharing) के प्रभाव का अध्ययन किया है। उनकी मूल कल्पना यह है कि उर्वरकों पर व्यय कृषकों द्वारा उधार प्राप्त करके किया जाता है और इस उधार के लिए 10 प्रतिशत ब्याज देना पड़ता है। चूँकि एक फसल अवधि लगभग 6 मास होती है, इसलिए ब्याज को कुल खर्च का लगभग 20 प्रतिशत माना जाएगा। यदि हम लाभ अधिकतम करने के पूँजीवादी सिद्धान्त को कसौटी मानें, तो वह किसान जो भू-स्वामी हैं, सिंचाई-प्राप्त गेहूँ के क्षेत्रों में 180 प्रतिशत लाभ प्राप्त करते हैं और चावल के सम्बन्ध में यह लाभ 183 प्रतिशत है। इसकी तुलना में काश्तकारी-कृषि (Tenancy cultivation) जो 50 प्रतिशत के आधार पर की जाती है, से यह लाभ गेहूँ के सम्बन्ध में 65 प्रतिशत और चावल और सम्बन्ध में 67 प्रतिशत रह जाता है। 40 प्रतिशत के आधार पर फसल सहभाजन की अवस्था में यह लाभघट कर केवल 43 प्रतिशत रह जाता है। अत: यह निष्कर्ष स्वाभाविक है कि उर्वरक प्रयोग के विस्तार में काश्तकारी खेती एक बड़ी बाधा है। अधिकतम लाभ प्राप्त करने वाली कसौटी, जोकि पूँजीवादी अर्थशास्त्र का आधार है, इस बात को सुस्पष्ट करती है कि काश्तकारों की अपेक्षा भू-स्वामी ही उर्वरकों की अधिक मात्रा का प्रयोग कर सकते हैं।

(3) **आय की बढ़ती हुई असमानताएँ**—कृषि में तकनीकी परिवर्तनों का ग्राम-क्षेत्रों में आय-वितरण पर दुष्प्रभाव हुआ है। भारतीय कृषि में तकनीकी परिवर्तन और वितरण सम्बन्धी लाभों के बारे में अपने अध्ययन से सी. एच. हनुमन्त राव यह निष्कर्ष प्राप्त करता है: "तकनीकी परिवर्तनों से एक ओर विभिन्न क्षेत्रों, छोटे और बड़े फार्मों और भू-स्वामियों के बीच आय की असमानताएँ बढ़ी हैं और दूसरी ओर भूमिहीन मजदूरों और मुजारों में खाई और चौड़ी हो गयी है। किन्तु परम रूप में तकनीकी परिवर्तन के लाभ सभी वर्गों में बँटे हैं। इनका संकेत तकनीकी परिवर्तन के अनुभव करने वाले क्षेत्रों में वास्तविक मजदूरी एवं रोजगार में वृद्धि और छोटे किसानों की आय में वृद्धि के रूप में मिलता है।"

फिर भी हरित क्रान्ति के प्रधान लाभ प्राप्तकर्त्ता तो बड़े किसान ही हैं जो अपने लाभ के लिए उन्नत किस्म के आदानों और ऋण-सुविधाओं को हथिया लेते हैं। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि नीतियों में इस प्रकार परिवर्तन किया जाए। डा. वी. के. आर. वी. राव के शब्दों में: "यह बात अब सर्वविदित है कि तथाकथित हरित क्रान्ति जिसने देश में खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाने में सहायता दी ह, के साथ ग्रामीण आय में असमानता में वृद्धि हुई है, बहुत से छोटे किसानों को अपने काश्तकारी अधिकार छोड़ने पड़े और ग्राम-क्षेत्रों में सामाजिक एवं आर्थिक तनाव बढ़े हैं।"

(4) **श्रम-विस्थापन** (Labour displacement) समस्या—श्रम-विस्थापन के रूप में हरित क्रान्ति की आड़ में कृषि यन्त्रीकरण के प्रभाव को आंकने के लिए, बहुत ही थोड़े अध्ययन उपलब्ध हैं। उमा के. श्रीवास्तव, राबर्ट क्राऊन और हैडी ने हरित क्रान्ति के दौरान दो प्रकार की नवक्रियाओं (Innovations) के चालू करने के प्रभाव की जाँच की है—

नोट

(i) जीव-विज्ञान सम्बन्धी नवक्रियाएँ (Biological innovations) और यान्त्रिक नवक्रियाएँ (Mechanical innovations)। जीव-विज्ञान सम्बन्धी नवक्रियाओं से हमारा अर्थ कृषि-आदानों (Agricultural inputs) में किए गए उन परिवर्तनों से है जो भू-उत्पादिता को बढ़ाते हैं। अच्छे बीज, जिन्हें आमतौर पर अधिक उपजाऊ किस्म के बीज कहते हैं और खादों का प्रयोग इस श्रेणी की नवक्रियाएँ हैं। इस दृष्टि से, हरित क्रान्ति बीज-खाद तकनीक में परिवर्तन हैं। यान्त्रिक नवक्रियाओं में वे नए औजार शामिल किए जाते हैं जो मानव या पशु-श्रम का विस्थापन करते हैं अतः हरित क्रान्ति को जैविकीय एवं यान्त्रिक क्रान्ति (Biological mechanical revolution) कहना उचित होगा। श्रम-प्रयोग और श्रम-विस्थापित करने वाली नवक्रियाओं का शुद्ध प्रभाव वह सीमा निर्धारित करेगा पर तक यन्त्रीकरण (Mechanisation) को लागू किया जाए ताकि श्रम-विस्थापन न हो। इस अध्ययन का निष्कर्ष यह है–"चूँकि यन्त्रीकरण से श्रम की माँग, जो बीजों और खादों के विस्तृत प्रयोग से बढ़ रही थी पर दुष्प्रभाव पड़ सकता है, इसलिए भारत जैसी श्रम-अतिरेक वाली अर्थव्यवस्थाओं (Labour-surplus economies) में समय-पूर्व यन्त्रीकरण को प्रोत्साहन देने से बढ़ती हुई बेरोजगारी की समस्या का समाधान नहीं हो सकेगा।" परिणामतः ऐसी नीतियों पर, जो सस्ते उधार की व्यवस्था द्वारा बड़ी श्रम-विस्थापन मशीनरी को बिना सोचे समझे प्रोत्साहन देती हैं पर पुनर्विचार करना होगा।

सी. एच. हनुमन्ता राव रोजगार पर नयी टेक्नोलॉजी के अनुकूल एवं प्रतिकूल प्रभावों को इस प्रकार व्यक्त करता है–"यदि हरित को उन्नत किस्म के बीजों एवं उर्वरकों के प्रयोग का एकमुश्त प्रोग्राम मान लिया जाए, तो इसका रोजगार में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त, नलकूपों द्वारा भी रोजगार में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई है. ..श्रम गुणांक (Labour co-efficient) संकार्य क्षेत्र के सम्बन्ध मे सबसे अधिक है और इसके बाद उन्नत किस्म के बीजों और सिंचाई का नम्बर आता है।"

कृषि के नए विकास-क्षेत्र

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् पिछले 5 दशकों के दौरान भारतीय कृषि ने कई दिशाओं में प्रगति की है। प्रथम, खाद्यान्नों का उत्पादन जो 1950-51 में लगभग 500 लाख टन था, बढ़कर 1970-71 में दुगने से भी थोड़ा अधिक होकर 1,084 लाख टन तक पहुँच गया और 1983-84 में 1,524 लाख टन के उच्च स्तर तक पहुँच गया। इसके पश्चात् लगातार चार वर्ष सूखा पड़ने के कारण उत्पादन 1984-85 के शिखर स्तर के नीचे ही रहा किन्तु 1998-99 के अच्छा मानसून वर्ष होने के कारण खाद्यान्न 2,009 लाख टन के रिकार्ड स्तर तक पहुँच गया।

दूसरे, सिंचाई आधीन सकल क्षेत्रफल जो 1950-51 में 226 लाख हैक्टेयर था बढ़कर 1994-95 में 880 लाख हैक्टेयर हो गया। इस प्रकार 45 वर्षों (1950-51 से 1994-95) के दौरान सिंचाई आधीन क्षेत्र में 2.6 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई। 1950-51 में एक से अधिक बार बोया जाने वाला क्षेत्र 131 लाख हैक्टेयर था किन्तु 1994-95 में यह बढ़कर 453 लाख हैक्टेयर हो गया।

तीसरे, अधिकाधिक सिंचाई प्राप्त क्षेत्र को अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों के अधीन लाने की नीति अपनायी गयी।

इसके परिणामस्वरूप अधिक उपजाऊ बीजों के अधीन क्षेत्रफल जो 1970-71 में 154 लाख हैक्टेयर था, बढ़ कर 1997-98 में 760 लाख हैक्टेयर हो गया। इसके साथ-साथ रासायनिक उर्वरकों का उपभोग जो 1970-71 में 22 लाख टन था बढ़कर 1997-98 में 162 लाख टन हो गया।

इन सभी विकास कार्यक्रमों के परिणामस्वरूप, भारत खाद्यान्नों के सम्बन्ध में आत्मनिर्भर हो गया और इसके खाद्यान्न-आयात नाममात्र हो गए। वह 220 लाख टन का बफर-स्टाक कायम करने

में सफल हो गया ताकि किसी एक वर्ष, या लगातार दो अथवा तीन वर्षों में पड़े सूखे का सामना कर सके। इससे हमारी कृषि सबल बन गयी।

परन्तु कृषि की इन उपलब्धियों के कारण हमें आत्मसन्तुष्ट नहीं बन जाना चाहिए क्योंकि अभी बहुत से ऐसे विकास-क्षेत्र हैं जिनकी ओर हमारी कृषि-नीतियाँ मोड़ी जानी चाहिए ताकि कृषि विकास में अवलम्बनीयता (Sustainability) और न्याय पर बल दिया जा सके।

(1) **मोटे अनाजों के आधीन क्षेत्रफल और उत्पादन में नाममात्र वृद्धि**–न ही मोटे अनाजों के अधीन क्षेत्रफल और न ही उनके उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। इन फसलों के लिए अधिक उपजाऊ किस्म के बीज विकसित करने की ओर कोई ध्यान न दिया गया। चूँकि मुख्य आदानों का प्रयोग गेहूँ और चावल की ओर निर्देशित किया गया, मोटे अनाज उपेक्षित रहे और इनके उत्पादन को बढ़ाना अब कृषि-विकास का मुख्य क्षेत्र है।

(2) **दालों के उत्पादन में गतिरोध**–1970–71 में दालों का उत्पादन 118 लाख टन था। 1990–91 में जोकि खाद्यान्न उत्पादन का सर्वोच्च वर्ष था, दालों का उत्पादन 143 लाख टन था अर्थात् 20 वर्षों की अवधि में केवल 21 प्रतिशत की वृद्धि। 1990–91 से 1994–95 के दौरान दालों का उत्पादन 140–145 लाख टन के बीच ही रहा है। 2001–02 में यह फिर गिरकर 132 लाख टन हो गया। दालों का प्रति व्यक्ति उपभोग जो 1971 में 69 ग्राम प्रतिदिन था कम होकर 2001 में 29 ग्राम हो गया। दालों के उपभोग में यह तीव्र गिरावट चिन्ता का विषय है, विशेषकर गरीब वर्गों के लिए जिनके लिए दालें प्रोटीन का मुख्य स्रोत हैं।

दालें अधिकतर गैर-सिंचाई वाली परिस्थितियों में घटिया भूमि पर उगायी जाती हैं और इनके लिए कम मात्रा में आदानों का प्रयोग किया जाता है। दालों के आधीन 217 लाख हैक्टेयर क्षेत्रफल में से केवल 27 लाख हैक्टेयर क्षेत्रफल को सिंचाई प्राप्त है। दालों के लिए उर्वरकों एवं कीटनाशकों की भी अधिक मात्रा की आवश्यकता नहीं पड़ती। अल्प-अवधि की किस्मों और उन्नत खुश्क-खेती-टेक्नोलॉजी के विकास के कारण दालों का उत्पादन बढ़ाने के सम्बन्ध में नयी आशाएँ पैदा हो गयी हैं। पिछले दशक के दौरान हुए अनुसंधान के परिणामस्वरूप अरहर की ऐसी किस्मों का आविष्कार हुआ है जो गरीब किसानों के लिए उचित हैं और इनसे प्रति हैक्टेयर 2–3 टन उत्पादन करना सम्भव है और इसके अतिरिक्त 6–8 टन खुश्क डण्ठल (stalks) भी प्राप्त हो सकते हैं जोकि ईंधन के रूप में इस्तेमाल किये जा सकते हैं। इसी प्रकार काली-मिट्टी-प्रबन्ध-तकनालाजी (Black soil management technol- ogy) द्वारा बंगाली चने की उत्पादिता बढ़ायी जा सकती है जो कि दालों की प्रधान फसल है। अरहर और चना दोनों मिलकर दालों के कुल उत्पादन का 60 प्रतिशत उपलब्ध कराते हैं और इनकी उत्पादिता को बढ़ाने के लिए प्रयास संकेन्द्रित किय जाएँ, तो इससे दालों की उत्पादिता में वृद्धि करने की काफी गुंजाइश है।

(3) **एक अन्य विकास-क्षेत्र खाद्य-तेलों के उत्पादन को बढ़ाना है**–भारत खाद्य-तेलों (Edible oils) के उत्पादन में आत्मनिर्भर नहीं है। 1970–71 में, खाद्य तेलों का आयात केवल 23 करोड़ रुपये था, परन्तु बढ़ती हुई माँग को अपने देशीय उत्पादन से पूरा न कर सकने के कारण आयात में वृद्धि होती गयी। यह आशा की जाती है कि भारत द्वारा 2003–04 में 11,680 करोड़ रुपये के खाद्य-तेलों का आयात किया गया।

नोट

वर्तमान परिस्थितियों के परिणामस्वरूप, दो कठिन समस्याओं का सामना करना होगा; (i) खाद्य-तेल आयात द्वारा हमारी विदेशी मुद्रा का लगातार निकास होता रहेगा; और (ii) भारत एक महत्त्वपूर्ण खाद्य-पदार्थ के लिए विश्व के अन्य देशों पर निर्भर रहेगा।

भारत में उत्पन्न होने वाले मुख्य खाद्य-तेल है: मूँगफली, तोरिया (Rapeseed), तिल (Sesamum), जाफरान (Safflower), सूर्यमुखी, सोयाबीन आदि। भारत में तिलहनों के उत्पादन की मुख्य समस्या निम्न उत्पादिता है। न केवल भारत विकसित देशों की तुलना में बहुत पीछे है, इसके प्रति हैक्टेयर उत्पादिता चीन की तुलना में भी काफी कम है। इसी कारण भारत सरकार ने तिलहन-तकनालाजी मिशन (Oilseeds technology mission) कायम किया है जिसने निम्नलिखित लक्ष्य निर्धारित किए हैं–

1994-95 में तिलहनों का उत्पादन 210 लाख टन था। सन् 2000 तक इसे बढ़ाकर 260 लाख टन करना ताकि इनसे 80 लाख टन तेल प्राप्त किया जा सके। किन्तु 2001-02 में तिलहनों का उत्पादन बढ़कर केवल 205 लाख टन ही हो पाया। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित उपाय करने होंगे–(i) अतिरिक्त तिलहन क्षेत्रों को सिंचाई आधीन लाना; (ii) आधुनिक फसल-तकनालाजी का प्रयोग करना; (iii) फसल-प्रतिस्थापन (Crop substitution); (iv) बेहतर खुश्क खेती करना; (अ) बेहतर ढंग से तेल निकालना; (vi) तेल के अपारम्परिक स्रोतों का विदोहन; और (vii) तिलहनों के उत्पादन का अपारम्परिक क्षेत्रों और अपारम्परिक मौसमों में परिवर्तन करना।

ऐसे अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों के विकास के कारण जो कि सूखा और टिड्डी दल के प्रतिरोधक हैं, यह आशा की जाती है कि तिलहनों के उत्पादन और उत्पादिता बढ़ाने के द्वार खुल गए हैं।

(4) **सिंचाई और जल प्रबन्ध की नयी विकास-विधि**–अगले 12 से 15 वर्षों के दौरान कुल उपलब्ध जल संग्रह 1,000 लाख हैक्टेयर मीटर होगा। 1,240 लाख हैक्टेयर कुल कृषि आधीन क्षेत्र से 1,924 लाख टन खाद्यान्न पैदा किया गया। दूसरे शब्दों में, औसत रूप में प्रति हैक्टेयर उत्पादन 1.55 टन ही है। इसके विरुद्ध चीन में प्रति हैक्टेयर उत्पादन 4 टन है। यदि भारत को अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या का पोषण करना है, तो सन् 2,020 तक अपनी 128 करोड़ प्रत्याशित जनसंख्या के लिए 2,410 लाख टन खाद्यान्न उत्पन्न करना ही होगा।

चूँकि जल एक दुर्लभ संसाधन है, इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि इसके अधिक कुशल प्रयोग पर बल दिया जाए। वर्तमान परिस्थिति यह है कि 90 प्रतिशत जल सिंचाई के लिए इस्तेमाल होता है। विशेषज्ञों के अनुसार यह जल का अपव्यय एवं व्यर्थ प्रयोग है। अत: सिंचाई रणनीति ऐसी होनी चाहिए जो मितव्ययी ढंग से जल-प्रयोग कर सके। इस सम्बन्ध में लक्ष्य होना चाहिए कि अगले 12 वर्षों में सिंचाई के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले जल का अनुपातघटा कर 77 प्रतिशत कर दिया जाए ताकि औद्योगिक और नगरपालिका सम्बन्धी आवश्यकताओं की बढ़ती हुई माँग की पूर्ति की जा सके।

(5) **छोटी सिंचाई के पक्ष में परिवर्तन पर बल**–सातों पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान बड़ी तथा मध्यम सिंचाई परियोजना पर अत्यधिक बल दिया गया। अब यह बात महसूस की जा रही है कि बड़ी सिंचाई परियोजनाओं ने प्रति हैक्टयेर सिंचाई की लागत बहुत ही

ऊँचा कर दी है। औसत रूप में प्रति हैक्टेयर सिंचाई लागत 60,000 रुपए है जोकि बहुत ज्यादा है। अत: छोटी सिंचाई की प्रति एकड़ लागत अपेक्षाकृत बहुत कम है और इसलिए भविष्य में छोटी सिंचाई पर अधिक बल दिया जाना चाहिए।

(6) **बायोफर्टलाइज़र के प्रयोग का विस्तार करना**–जीव-टेक्नोलॉजी एवं आनुवंशिक इंजीनियरिंग (Bio technology and genetic engineering) में हाल ही में हुए अनुसंधानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि कुछ सूक्ष्म-जीव (Micro-organisms) जैसे बैक्टीरिया और नीले-हरे शैवाल (Algae) नाइट्रोजन-निश्चयक (Nitrogen fixers) का कार्य कर सकते हैं और पौधों को पोषण उपलब्ध करा सकते हैं। सबसे आम-इस्तेमाल होने वाला जीव-उर्वरक (Biofertilizer) राइजोबियम (Rhizobium) है जो विशिष्ट बीजकोष (Legumes) की जड़ों में प्रवेश करके जड़-ग्रन्थिकाएँ (Root nodules) बना लेता है। ये ग्रन्थिकाएँ अमोनिया उत्पादन की फैक्टरियाँ बन जाती हैं। राइजोबियम बीजकोष के साथ सम्बन्ध स्थापित करके एक फसल-मौसम में 100-300 किलोग्राम नाइट्रोजन प्रति हैक्टेयर निश्चित कर सकता है और अगली फसल के लिए भी काफी नाइट्रोजन छोड़ सकता है। सूक्ष्म-जीवों द्वारा नाइट्रोजन-जनन में महत्त्वपूर्ण तकनीक खोजने, जिसका सारा खर्च स्वयं प्रकृति अदा करती है, दूसरी हरित क्रान्ति के द्वार खोल दिए गए हैं।

(7) **खुश्क खेती पर बल देना चाहिए**–भारत में कुल कृषि आधीन 1,630 लाख हैक्टेयर क्षेत्रफल में से 1,000 हैक्टेयर अर्थात् कुल का 61 प्रतिशत खुश्क खेती (Dry farming), के अधीन है परन्तु खुश्क खेती आधीन क्षेत्र का कुल उत्पादन में भाग 30 प्रतिशत से भी कम है इसमें सन्देह नहीं कि सिंचाई के कारण खाद्यान्नों में स्वावलम्बिता प्राप्त हो सकी है परन्तु इसके साथ समृद्ध और गरीब के बीच खाई भी चौड़ी हो गई है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि खुश्क भूमि पर खेती करने वाले 72 प्रतिशत किसानों के पास 2 हैक्टेयर से कम भूमि है और यह भी बिखरे हुए और विभाजित खण्डों में उपलब्ध है। चूँकि देश को काफी समय तक खुश्क-भूमि खेती करनी होगी; इसलिए यह आवश्यक है कि खुश्क-भूमि खेती की तकनालाजी विकसित की जाए ताकि खुश्क भूमि में उत्पादन के बढ़ाने की सम्भावनाओं का लाभ उठाया जा सके। इसके लिए खुश्क भूमि क्षेत्रों की समस्याओं का अध्ययन करना आवश्यक है ताकि क्षेत्र-विशेष तकनालाजी का विकास किया जा सके। उर्वरकों का मर्यादित प्रयोग, उन्नत बीजों और वर्षा के पानी के बेहतर संग्रहरण और इसके उचित प्रयोग द्वारा हम उत्पादिता में 40 से 50 प्रतिशत तक वृद्धि कर सकते है। कुशल तथा समय-अनुसार प्रबन्ध वर्षा पर आधारित क्षेत्रों में उत्पादन बढ़ाने की कुंजी है।

सार रूप में हमने कृषि में मुख्य विकास-क्षेत्रों का संकेत किया है। परन्तु कृषि सुधारों के अभाव में प्रत्याशित परिणाम प्राप्त नहीं हो सकेंगे। डॉ. एम. एस. स्वामीनाथन, विख्यात कृषि वैज्ञानिक ने पंजाब में हरित कृान्ति की सफलता का विश्लेषण करते हुए उल्लेख किया है–

"पंजाब में हरित क्रान्ति कोई अचम्भा नहीं है। यह इसलिए सफल हो पाई क्योंकि 1960-70 के दशक के मध्य में वे सभी परिस्थितियाँ विद्यमान थीं जो इसकी सफलता के लिए अनिवार्य थीं–(क) भू-चकबन्दी तथा समतलीकरण, (ख) स्वामी द्वारा खेती जिससे भूमि में लम्बे काल के

लिए रुचि पैदा हो, (ग) ग्राम-संचार, (घ) ग्राम-बिजलीकरण, और (ङ) एक गत्यात्मक कृषि विश्वविद्यालय।"

नोट

"यदि ये परिस्थितियाँ विद्यमान न होतीं, तो पंजाब के किसानों के लिए गेहूँ और चावल की प्रबन्ध-प्रत्युत्तर किस्मों द्वारा उत्पादिता-क्षमता को वास्तविक उत्पादन में बदलना कठिन हो जाता। अन्ततः उत्पादिता दो कारणतत्वों की परस्पर क्रिया पर निर्भर करती है-पौधे की आनुवंशिक कुशलता (Genetic effciency) और किसान की प्रबन्ध कुशलता। किसानों की तन्मयता, कठोर परिश्रम, नवक्रिया और भारतीय कृषि के भविष्य को परिवर्तित करने में त्वरक कार्य कर रहे हैं।"

हरित क्रान्ति-भावी सम्भावनाएँ

हरित क्रान्ति जो 1960 के दशक के दौरान आरम्भ की गयी का उद्देश्य अर्द्ध-बौने उपजाऊ किस्म (Semi-dwarf high yielding varieties) के बीजों का प्रयोग करके सिंचाई और रासायनिक उर्वरकों के साथ कार्य कर कृषि-उत्पादन को बढ़ाना था। इसके अच्छे परिणाम प्राप्त हुए और पहले चरण में गेहूँ के उत्पादन में भारी वृद्धि हुई और बाद में चावल के उत्पादन को बढ़ाने में भी अच्छा सफलता प्राप्त हुई। परन्तु हाल ही के वर्षों में यह महसूस किया जा रहा है कि अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों के परिणामस्वरूप उत्पादन अपनाने की चरम सीमा पर पहुँच चुका है और उत्पादन में अतिरिक्त वृद्धि करने की सम्भावनाएँ बहुत सीमित हैं। दूसरे शब्दों में, यह तर्क दिया जा रहा है कि बीज-पानी उर्वरक तकनालाजी (Seed-water-fertilizer technology) अपनी सम्भाव्य क्षमता का पूरा प्रयोग कर चुकी है और ऐसे बिन्दु पर पहुँच गयी है कि इसमें ह्रासमान प्रत्याय (Diminishing return) की अवस्था आरम्भ हो गयी है।

परन्तु योजना आयोग ने सन् 2007-08 के लिए खाद्यान्न उत्पादन को बढ़ा कर 30 करोड़ टन करने का लक्ष्य रखा है प्रश्न उठता है कि इस लक्ष्य की प्राप्ति की सम्भावना क्या है?

श्री हरीश दामोदरण इस विचार से सहमत नहीं है कि उत्पादन अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है। इस उद्देश्य के लिए उन्होंने पिछले चार दशकों के दौरान खाद्यान्नों के औसत प्रति हैक्टेयर उत्पादन के परिकलन तैयार किए हैं–

तालिका 2.7: औसत खाद्यान्न उत्पादन

किलोग्राम प्रति हैक्टेयर

1970-80	1980-90	1990-2000	2004-05		
खाद्यान्न	894	1,156		1,490	1,700
गेहूँ	1,382	1,921	2,449	2,720	
चावल	1,158	1,470	1,827	2,062	

तालिका 2.7 में दिए गए आँकड़ों से संकेत मिलता है कि खाद्यान्नों का प्रति हैक्टेयर उत्पादन लगातार बढ़ता ही गया है। यह 1960-70 के दशक में 719 किलोग्राम से बढ़कर 1980-90 के दशक में 1,156 किलोग्राम और फिर 1990-91 से 1999-2000 के दौरान और बढ़कर 1,490 किलोग्राम हो गया। प्रति हैक्टेयर उत्पादन में वृद्धि गेहूँ के सम्बन्ध में 1960-70 के दशक में 950 किलोग्राम से बढ़ कर 1990-91 से 1999-00 के दौरान लगभग 2,450 किलोग्राम हो गयी और फिर 2004-05 में 2,720 किलोग्राम हो गयी जबकि इस अवधि के दौरान चावल का प्रति हैक्टेयर उत्पादन 1,000

किलोग्राम से बढ़ कर 2,063 किलोग्राम हो गया अर्थात् इसमें 106 प्रतिशत की वृद्धि हुई। अत: गेहूँ के प्रति हैक्टेयर उत्पादन में चावल की तुलना में अपेक्षाकृत कहीं अधिक वृद्धि व्यक्त हुई।

जबकि अधिक उपजाऊ बीजों के आधीन क्षेत्रफल में वृद्धि के परिणामस्वरूप औसत प्रति हैक्टेयर उत्पादन में लगातार वृद्धि व्यक्त हुई, परन्तु अधिकतम उत्पादन की औसत दरों में प्रतिरोध के लक्षण दिखायी दिए हैं। अत: जो ढाँचा पिछले चार को में उभरा है उसमें औसत उत्पादन लगातार प्रगति हुई परन्तु सर्वोच्च स्तर पर गतिरोध कायम हो गया।

तालिका 2.8: उत्तर-पश्चिम भारत में गेहूँ के उत्पादन में आनुवंशिक लाभ

अधिक उपजाऊ किस्म के बीच	वर्ष	प्रति हैक्टेयर उत्पादन (टन)
शरबती सोनारा	1965	3.37
कल्याण सोना	1970	4.20
डब्ल्यु एल-711	1975	4.68
एच.डी. 2009	1980	4.58
एच.डी. 2329	1985	4.71
सी.पी.ए.एन. 3004	1990	4.87
यू.पी. 2338	1994	5.13
पी.बी. डब्ल्यू 343	1995	5.42

प्रदर्शनीय प्रयोग पर आधारित

इसलिए यह जरूरी है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से अधिकतम औसत उत्पादन और वास्तव में प्राप्त अधिकतम में भेद को समझा जाए। तालिका 2.8 पर ध्यान देने से पता चलता है कि हरित क्रान्ति की किस्म शरबती सोनारा ने लगभग 3.4 टन प्रति हैक्टेयर औसत उत्पादन की सम्भावना व्यक्त की। इसके बाद 1970 में कल्याणसोना किस्म के बीज से औसतन 4.2 टन उत्पाद प्राप्त हुआ और फिर 1975 में डब्ल्यु एल 711 से 4.7 टन। इसके पश्चात् औसत उत्पादन में वृद्धि प्राप्त करने के लिए देश को 1994 तक इन्तजार करना पड़ा। जब नयी बीजों की किस्मों जैसे यू.पी. 2338 ने 5.1 टन और 1995 में पी. बी. डब्ल्यू 343 ने 5.4 टन प्रति हैक्टेयर का रिकार्ड प्राप्त किया।

परन्तु चावल के सम्बन्ध में तस्वीर इतनी उत्साहवर्धक नहीं है। 1966 में आई. आर-8 और 1966 में जय के आरम्भ के पश्चात् अभी तक कोई भी आनुवंशिक किस्म (Genetic variety) विकसित नहीं कि जा सकी जो संभाव्य औसत उत्पादन में आरम्भ में चालू किए गए बीजों की पथप्रदर्शक किस्मों की तुलना में सुनिश्चित उन्नति दिखा सके। परिणामत: आलोचकों का मत है हरित क्रान्ति की बीज रोपन की पारम्परिक तकनीकें अपने चरमान्त पर पहुँच गयी हैं। जो भी सफलता चावल में प्राप्त की गयी है। उसका कारण आरम्भिक अधिक उपज़ाऊ किस्मों के बीजों के अधीन क्षेत्र का विस्तार है ताकि देश इनकी क्षमता का पूर्ण लाभ प्राप्त कर सके। इसका केवल यह अर्थ है कि देश अधिकतम सीमा की ओर बढ़ता हुआ बेहत्तर उत्पादन प्राप्त कर रहा है।

परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि हमने वर्तमान अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों में अन्तर्निहित क्षमता का पूरा लाभ उठा लिया है। पंजाब के फार्मों में किए गए परीक्षणों से यह बात सुनिश्चित हो जाती है कि प्रति हैक्टेयर 5.5 टन की संभाव्य क्षमता दर्शायी जा चुकी है, परन्तु

वास्तविक औसत उत्पादन 4.25 टन प्रति हैक्टेयर के इर्द-गिर्द है। जाहिर है कि पंजाब में भी एक टन प्रति हैक्टेयर की उत्पादन-क्षमता का विदोहन किया जा सकता है। इसी प्रकार, गेहूँ उगाने वाले अन्य राज्यों की परिस्थिति का विश्लेषण करने से संकेत मिलता है कि प्राप्य (A ttainable) और वास्तविक औसत उत्पादन में 2 टन प्रति हैक्टेयर का अन्तर विद्यमान है। अत: हरीश दामोदरण इस निष्कर्ष पर पहुँचते है: "वर्तमान अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों से भी सिन्धु-गंगा मैदान में जहाँ किसानों द्वारा 260 लाख हैक्टेयर कुल भूमि में से 180 लाख हैक्टेयर में गेहूँ बोया जाता है, वहाँ उन्नत फसल प्रबन्ध व्यवहार (Farm management practices) और समय पर आदानों के सम्भरण और आकर्षक कीमतों आदि से 250 लाख टन अतिरिक्त गेहूँ पैदा किया जा सकता है। चावल के औसत प्रति हैक्टेयर उत्पादन में आधे टन की वृद्धि द्वारा 200 लाख टन अतिरिक्त चावल देश में धान की फसल के अधीन 420 लाख हैक्टेयर क्षेत्र से पैदा किया जा सकता है।" दूसरे शब्दों में, यदि इस दिशा में परिदृढ़ प्रयास किया जाए, तो सन् 2006-07 तक 450 लाख टन अतिरिक्त गेहूँ और चावल का उत्पादन सम्भव हो सकता है। इसी प्रकार दसवीं योजना ने यह परिकल्पना की है कि मक्की के उत्पादन पर विशेष बल दिया जाए ताकि छोटे अनाजों के उत्पादन को 340 लाख टन से बढ़ा कर 2006-07 तक 480 लाख टन किया जाए।

कई बार आलोचकों द्वारा यह तर्क दिया जाता है कि पंजाब में 4 से 4.5 टन गेहूँ की औसत उपज के विरुद्ध नीदरलैण्डस जैसे ठण्डे देशों में लगभग 8 टन उपज प्रति हैक्टेयर पैदा की जाती है, परन्तु यह तुलना इन दो देशों की फसल-प्रणालियों (Cropping system) में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर की उपेक्षा कर देती है। सुप्रसिद्ध कृषि वैज्ञानिक डा. एम. एस. स्वामीनाथन ने इस बात पर बल देते हुए यह उल्लेख किया कि केवल अलग-अलग फसलों के आध ार पर शुद्ध रूप में तुलना करना अवैज्ञानिक है परन्तु समग्र फसल-प्रणालियों की तुलना करना अधिक वैज्ञानिक होगा। उदाहरणार्थ, पंजाब का किसान 140 दिनों की अवधि में गेहूँ की फसल से 4 से 4.5 टन उत्पादन कर सकता है, परन्तु नीदरलैण्ड्स में खेती करने वाला किसान 10-मास की शीत-ऋतु गेहूँ फसल (Winter wheat crop) के रूप में 8 टन उत्पादन कर सकता है। इस अन्तर की क्षतिपूर्ति के लिए पंजाब का किसान उसी वर्ष के दौरान उसे 3 से 3.5 टन प्रति हैक्टेयर की चावल की फसल पैदा कर सकता है। वह आलू या फली या कोई अल्पविधि सब्जी भी उत्पन्न कर सकता है। अत: किसान की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण बात पूरे वर्ष के दौरान कुल फसल उपज से है, न कि केवल प्रति हैक्टेयर उत्पादन से। अत: एक-फसल (Mono-cropping) से बहु-फसल प्रणाली (Multi-cropping system) में परिवर्तन के परिणामस्वरूप चावल और गेहूँ की किस्मों को जो भिन्न-भिन्न परिपक्वता वाली हैं, एक समन्वित प्रोग्राम में जिसे हरित क्रान्ति का नाम दिया गया, परोया गया। अत: हरित क्रान्ति की सफलता किसानों द्वारा पूरे वर्ष के दौरान समग्र उपज (आय) के रूप में की जानी चाहिए, न किसी एक फसल की प्रति हैक्टेयर उत्पादिता के रूप में।

भावी सम्भावनाएँ

भारत के वैज्ञानिक चावल और गेहूँ के संकर-बीजों (Hybrid seeds) को विकसित करने का प्रयास कर रहे हैं।

ताकि उत्पादिता के वर्तमान अवरोधक को तोड़ा जा सके। यह उल्लेख करना जरूरी है कि ये दो फसलें मिलकर भारत में कुल खाद्यान्नों का तीन-चौथाई उपलब्ध कराती हैं।

चावल के सम्बन्ध में किए गए फार्म-परीक्षणों (Farm trials) से यह पता चला कि इनसे औसत रूप में प्रति हैक्टेयर उत्पादन 6.8 टन प्राप्त किया गया जबकि यह पारम्परिक शुद्ध-वांशिक चावल की किस्मों द्वारा 5.2 टन था। अत: इस प्रकार एक हैक्टेयर से 1.6 टन अतिरिक्त चावल (या 31%) प्राप्त किया जा सकता है। कुछ हालतों में तो संकर चावल द्वारा पारम्परिक किस्मों की तुलना में 35 से 44 प्रतिशत अधिक उपज प्राप्त की जा सकती है। दूसरे शब्दों में, संकर चावल (Hybrid rice) से प्रति हैक्टेयर 1.5 से 1.75 टन अतिरिक्त उपज का अनुमान है। फार्म-परीक्षणों में सफलता के बावजूद, भारत केवल 1.5 लाख हैक्टेयर भूमि संकर बीजों के आधीन ला पाया है चाहे सन् 2000 तक 20 लाख हैक्टेयर भूमि इनके आधीन लाने का लक्ष्य रखा गया था। इस मन्द प्रगति के लिए निम्नलिखित कारणतत्व जिम्मेदार हैं–

नोट

तालिका 2.9: अभी तक जारी किए गए संकर-बीजों से उपज प्राप्ति टन प्रति हैक्टेयर

संकर बीज	फार्म-परीक्षणों से उत्पादिता		1 की 2	राज्य
	संकर बीज	वर्तमान अधिक उपजाऊ किस्में	पर प्रतिशत वृद्धि	
	(1)	(2)	(3)	(4)
ए.पी.एच.आर-1	7.14	5.27 (चैतन्य)	35.5	आन्ध्र प्रदेश
ए.पी.एच.आर-2	7.52	5.21 (चैतन्य)	44.3	आन्ध्र प्रदेश
एम.जी.आर.-1	6.08	5.23 (आई.आर-50)	16.2	तमिलनाडू
के.आर.एच.-2	7.40	6.10 (जय)	21.3	कर्नाटक
डी.आर.आर.एच-1	7.30	5.50 (टेला हमसा)	32.7	आन्ध्र प्रदेश

1. चूँकि संकर बीजों (Hybrid seeds) की अतिरिक्त लागत 1,500 रुपये प्रति हैक्टेयर है, इस कारण उत्पादिता में अधिक वृद्धि किसान को प्राप्त उच्च लाभ के रूप में परिवर्तित नहीं की जा सकी। परिणामत: किसानों में संकर चावल के प्रयोग के लिए अधिक उत्साह प्रतीत नहीं होता।
2. संकर-चावल के दाने में सुगन्ध और चिपचिपाहट (Stickiness) होने के कारण यह उपभोक्ताओं, विशेषकर दक्षिण भारत के उपभोक्ताओं, को स्वीकार्य नहीं बन पाया। परिणामत: संकर चावल से कम कीमत वसूल की जा सकती है जिसका किसान की प्रत्याय-दर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।
3. संकर-चावल पर विनाशकारी कीटों एवं बीमारियों का अधिक प्रभाव पड़ता है।

इन सभी कारणत्वों के समूचे प्रभाव के फलस्वरूप संकर-चावल के आधीन लाए जाने वाले क्षेत्र की प्रगति मन्द रही।

श्री हरीश दामोदरण के अनुसार "कोई एक देश जिसने संकर बीज तकनालाजी का प्रयोग वस्तुत: एक महत्वपूर्ण रूप में किया है, वह चीन है। देश के चावल के आधीन 320 लाख हैक्टेयर क्षेत्रफल का 50 प्रतिशत से अधिक भाग आज संकर-चावल के आधीन है जिससे चावल की कुल उपज का 70 प्रतिशत प्राप्त होता है। 1976 में सबसे पहला वाणिज्यक संकर बीज चालू करने के बाद, संकर-चावल ने चीन को अपने चावल के उत्पादन में 30 करोड़ टन की वृद्धि करने में सहायता दी है जिससे हर वर्ष 10 करोड़ अतिरिक्त जनसंख्या का पोषण हो सकता है।" संकर-चावल को

नोट

किसानों में और स्वीकार्य बनाने के लिए चीन ने साहय्यित दरों (Subsidized rates) पर किसानों को बीज उपलब्ध कराए। इसके अतिरिक्त, चीनी सरकार ने संकर-बीजों उगाने वालों को कई प्रकार के प्रोत्साहन दिए ताकि वे इनकी लागत कम कर सकें। चीन ने संकर-बीज उत्पादन की तकनीक का भी मानकीकरण (Standardization) किया है जिससे बीजों का उत्पादन औसतन 2.5 टन प्रति हैक्टेयर होने लगा है जबकि भारत में यह अनुभवी बीज-उत्पादकों द्वारा 1 से 1.5 टन के बीच था।

भारत सरकार को चीन के अनुभव से सही सबक प्राप्त करने चाहिएँ और संकर-चावल के बीजों के उत्पादन का मानकीकरण करके बीजों की लागत कम करनी चाहिए। सरकार द्वारा किसानों को संकर-चावल के बीज साहाय्यित दरों पर उपलब्ध कराने चाहिएँ। चावल अनुसन्धान संस्थानों को संकर-बीजों से सम्बन्धित समस्याओं के समाधान का प्रयास करना चाहिए।

किन्तु गेहूँ में संकर तकनालाजी (Hybrid technology) अभी भी विकास की शिशु अवस्था में है और इस सम्बन्ध में काफी समय तक अनुसन्धान प्रयासों को और मजबूत करना होगा ताकि प्रति हैक्टेयर उत्पादिता के अवरोधक को तोड़ा जा सके।

इस समग्र विश्लेषण से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि हरित क्रान्ति की भावी सम्भावनाएँ इसके अगले चरण में संकर बीज तकनालाजी में अन्तर्निहित हैं। किन्तु तकनालाजी के इस हद तक मानकीकरण में समय लगेगा और तभी यह बीज-उत्पादकों, किसान वर्ग और उपभोक्ता द्वारा स्वीकार की जाएगी। अभी तक तो भारत ने अर्द्ध-बौने अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों की क्षमता का भी पूर्ण लाभ नहीं उठाया। भारत को उपलब्ध अधिक बीजों से प्राप्य उत्पादिता और वास्तविक उत्पादिकता में अन्तर को कम करना चाहिए। यह आशा की जा सकती है कि जब तक भारत वर्तमान अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों से पूर्ण संभाव्य लाभों का प्रयोग कर लेगा, तब तक कृषि वैज्ञानिक संकर-चावल और गेहूँ की नयी किस्मों का विकास कर लेंगे जिससे हरित क्रान्ति के अगले चरण में प्रवेश करना सम्भव हो सकेगा

2.7 कृषि वित्त

भारतीय किसानों की वित्त संबंधी आवश्यकताओं का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है :

1. **अल्पकालीन ऋण** (Short-term Loan)–ये वे ऋण हैं जो खाद व बीज खरीदने के लिए, फसल बोने से काटने तक काम चलाने के लिए और पशुओं व पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, लिये जाते हैं। इनकी अवधि 15 महीने तक की होती है।

   इस प्रकार के ऋण प्राय: महाजन तथा सहकारी समितियाँ उपलब्ध कराती हैं।

2. **मध्यकालीन ऋण** (Medium-term Loan)–इसकी आवश्यकता औजार व बैल खरीदने, कृषि प्रणाली में सुधार करने व जमीन में सुधार करने के लिए पड़ती है। इसकी अवधि 15 महीने से 5 वर्ष तक की होती है।

   यह ऋण प्राय: महाजनों, सहकारी समितियों तथा व्यापारिक बैंकों द्वारा दिये जाते हैं।

3. **दीर्घकालीन ऋण** (Long-term Loan)–इसकी आवश्यकता किसानों को अपने पुराने ऋणों को चुकाने के लिए नयी भूमि खरीदने के लिए या भूमि पर कोई सुधार करने के लिए पड़ती है। इस प्रकार के ऋण प्राय: भूमि विकास बैंक से प्राप्त किये जाते हैं। इन ऋणों की अदायगी अवधि 5 वर्ष से अधिक होती है।

भारत में कृषि क्षेत्र को प्रदत्त ऋणों में अल्पकालीन, मध्यम तथा दीर्घकालीन ऋणों का प्रतिशत निम्न सारणी के अंकों के अनुसार रहा है:

सारणी 2.10: भारत में कृषि क्षेत्र को प्रदत्त ऋण

वर्ष	अल्पकालीन ऋण	मध्यम एवं दीर्घकालीन ऋण	कुल प्रतिशत
1993	68.4	31.6	100
1997-98	64.2	35.8	100
1998-99	62.0	38.0	100

इस प्रकार स्पष्ट है कि हाल के वर्षों में कृषि क्षेत्र के कुल ऋणों में अल्पकालीन ऋणों का प्रतिशतघटा है तथा मध्यम एवं दीर्घकालीन ऋणों का प्रतिशत बढ़ा है।

ग्रामीण या कृषि वित्त के स्रोत (Sources of Rural Credit)

1. **महाजन एवं साहूकार** (Money Lenders)—पेशेवर साहूकार एवं कृषि साहूकार जो उधार पर पैसा देने को अपना द्विवतीय व्यवसाय समझते थे पुराने समय में ग्रामीण साख के महत्त्वपूर्ण स्रोत थे। वह ग्रामीण क्षेत्रों में चर्चित थे, क्योंकि उनके उधार देने की प्रक्रिया सरल थी एवं वह अनुत्पादक उद्देश्य के लिए भी उधार देते थे। ये साहूकार (Money Lenders) बहुत अधिक ब्याज दर लेते थे एवं अशिक्षित एवं मासूम लोगों को धोखा भी देते थे।

   साहूकार के अलावा संबंधी, स्वामी एवं कमशीन एजेंट भी भारत में कृषि वित्त के गैर-संस्थागत स्रोत थे। त्ठप् द्वारा 1951-52 में किए गए संपूर्ण भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण के अनुसार किसान 70% ऋण साहूकार से, 14% ऋण संबंधियों से, 30% सहकारी समितियों से, 3% सरकार से, 6% व्यापारियों से एवं बाकी अन्य लोगों से प्राप्त करते हैं।

2. **सरकार** (Government)—सरकार भी किसानों को आकस्मिक परिस्थितियों में ऋण प्रदान करती है। जैसे-बाढ़, सूखा या अन्य प्राकृतिक प्रकोप। यह ऋण TACCAVI ऋण जाने जाते हैं एवं लघु एवं मध्यम अवधि के लिए दिए जाते हैं। लेकिन प्रशासन में दफ्तरशाही की वजह से यह ऋण अधिक चर्चित नहीं है।

3. **वाणिज्यिक बैंक** (Commercial Banks)—जुलाई, 1969 में 14 बड़े वाणिज्य बैंकों के राष्ट्रीकरण से पूर्व, ग्रामीण साख में वाणिज्यिक बैंकों का योगदान बहुत कम था, बल्कि ग्रामीण साख का एक प्रतिशत से भी कम था। राष्ट्रीयकरण के बाद ग्रामीण क्षेत्र में इन बैंकों की बड़ी संख्या में शाखाएँ खुल गई। भारतीय रिजर्व बैंक की रिपोर्ट के अनुसार ग्रामीण क्षेत्र का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष साख 189 करोड़ रुपये से बढ़कर जून 1988 में 4041 करोड़ रुपये हो गया।

4. **क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक** (Regional Rural Banks)—वाणिज्य बैंक के सहायक बैंक के रूप में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक भी खोले गए। यह बैंक, वाणिज्य बैंक की तरह ग्राहकों से जमा प्राप्त करते और उन्हें उधार सुविधाएँ प्रदान करते थे। उनकी क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक थे एवं उनकी जमा 502 करोड़ थी और पेशगी (Advances) 577 करोड़ रुपये थी। 1989 के अंत में 370 राज्यों में 1996 त्त्हे थे, जिनकी 14,090 शाखाएँ थीं। शाखाएँ न्यच्च्ए बिहार एवं मध्य प्रदेश में थी।

नोट

5. **कृषि साख सहकारी समिति** (Agriculture Co-operatives Credit Societies)–कृषि सहकारी, साख समिति कृषकों के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण साख का स्रोत है। प्राथमिक कृषि साख समितियाँ लघु एवं मध्यम अवधि के ऋण उपलब्ध कराते हैं, जबकि भूमि विकास बैंक दीर्घ अवधि ऋण प्रदान करते हैं। 1982–83 के दौरान कृषि सहकारी साख समिति ने कृषकों को 2,590 करोड़ रुपये का ऋण प्रदान किया। भूमि विकास बैंक ने 1982–83 में कृषकों को लगभग 461 करोड़ रुपये का पेशगी भुगतान किया। 1987–88 के दौरान 90,000 साख समितियाँ थीं जिन्होंने 4,280 करोड़ की सीमा तक ऋण पेशगी प्रदान किया था। सरकारी संरचना की सबसे बड़ी कमज़ोरी बहुत अधिक मात्रा में बकाया (Overdues) का होना था। 1980 एवं 1990 में बकाया राशि (Overdues) का अनुमान 40–42% लगाया गया।

   भारत में सहकारी संरचना बुरी तरह से असफल रही।

6. **रिजर्व बैंक एवं ग्रामीण साख** (Reserve Bank and Rural Credit)–भारतीय रिजर्व बैंक ने कृषि वित्त में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसने अपने संगठन में एक विशेष कृषि साख विभाग की स्थापना की है। R.B.I. कम ब्याज दरों पर राज्य के सहकारी बैंकों को लघु अवधि ऋण प्रदान करता है, जिससे मौसमी कृषि कार्यों को वित्त प्रदान किया जा सके। यह सहकारी बैंकों को लघु अवधि ऋण प्रदान करता है।

7. National Bank for Agriculture and Rural Development (NBARD)–इस बैंक की स्थापना ग्रामीण विकास के क्षेत्र में कार्य करने वाली सभी संस्थाओं के प्रयास में समन्वय करना है। इसकी स्थापना जुलाई 1982 में हुई और इसे Agricultural Refinence and Development Corporation एवं रिजर्व बैंक द्वारा ग्रामीण साख के लिए किया जाने वाला कार्य सुपुर्द कर दिया गया।

   यह बैंक कृषि कार्यों के लिए अल्पावधि ऋण प्रदान करता है। मध्यावधि के लिए बैंक और क्षेत्रीय बैंकों के ऋणों का पुनर्वित्त प्रबंधन भी करता है। इन दिनों इसे पुनवित्त के लिए 25 वर्ष के दीर्घकालीन ऋण की भी जिम्मेदारी सुपुर्द की गई है। मार्च 1990 तक बैंक ने 12,407 करोड़ रुपये का दीर्घावधि पुनर्वित्त प्रदान किया था।

8. **स्वयं सेवी समूह** (Self Help Group SHGs)–यह संस्था अपने प्रत्येक सदस्य से न्यूनतम योगदान प्राप्त करती है। जरूरतमंद सदस्यों को उचित ब्याज दर पर, छोटी किस्तों में वापस किए जाने वाले ऋण प्रदान किए जाते हैं। मार्च 2003 तक 7,17,360 SHGs की स्थापना हुई। इस योजना ने ग्रामीणवासियों की काफी आर्थिक सहायता की है। ऋण की व्यवस्था, उपभोग उद्देश्य के लिए की जाती है, जोकि इसका दुभाग्यपूर्ण पहलू है।

संस्थागत वित्त या साख

संस्थागत वित्त या साख में ऐसी धनराशियाँ सम्मिलित की जाती हैं जो सहकारी समितियों, व्यापारिक बैंकों और क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों आदि द्वारा उपलब्ध करायी जाती हैं। विभिन्न स्तरों पर संस्थागत वित्त के स्रोतों को नीचे सारणी द्वारा दर्शाया गया है :

सारणी 2.11: कृषि वित्त के संस्थागत स्रोत

ग्राम स्तर	जिला स्तर	राज्य स्तर	राष्ट्रीय स्तर
(*i*) प्राथमिक साख सहकारी समिति (*ii*) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की ब्रांचें (*iii*) व्यावसायिक बैंक की ब्रांचें (*iv*) व्यावसायिक बैंक	(*i*) केन्द्रीय सहकारी बैंक (*ii*) प्राथमिक भूमि विकास बैंक (*iii*) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक	(*i*) राजकीय सहकारी बैंक (*ii*) भूमि विकास बैंक (*iii*) व्यावसायिक बैंक	(*i*) NABARD

संस्थागत स्रोतों की साख की प्रवृत्तियाँ

विगत वर्षों में कृषि और उससे सम्बद्ध गतिविधियों के लिए संस्थागत ऋण के प्रवाह में सहकारी बैंक, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक और व्यापारिक बैंकों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है जैसा कि नीचे की सारणी के अंकों से विदित होता है।

1996-97 में कुल संस्थागत ऋण 26,411 करोड़ रुपये के थे जो 1999-2000 में बढ़कर 44,612 2000-2001 में 53,504 करोड़ रुपये हो गये हैं।

सहकारी समितियों का कुल ग्रामीण साख में भाग जो 1996-97 में कुल 45 प्रतिशत था, कम होकर 2000-01 में 4% हो गया। तद्नुरूप वाणिज्य बैंक और क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों का संयुक्त भाग 55 प्रतिशत से बढ़कर 59 प्रतिशत हो जायेगा।

सारणी 2.12: विभिन्न संस्थानात्मक स्रोतों से कृषि ऋण

वर्ष	सहकारी बैंक	क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक	वाणिज्यिक बैंक	कुल
1996-97	11,944	1.684	12,783	26,411
1998-99	15,957	2,460	18,443	36,860
1999-2000	18,429	3,329	22,854	44,612
2000-2001	21,909	3,807	27,788	53,504
2001-2002 (अ)	27,080	4,956	34,735	66,771

संस्थागत वित्त की विशेषताएँ

संस्थागत वित्त की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

1. संस्थानात्मक ऋण शोषणात्मक नहीं होते और उनका मूल उद्देश्य किसानों को अपनी उत्पादिता बढ़ाने या आय को अधिकतम कराने में सहायता देना है।
2. ब्याज की दर सापेक्ष दृष्टि से न केवल नीची होती है अर्थात् यह किसानों के भिन्न-भिन्न वर्गों और भिन्न-भिन्न उद्देश्यों के लिए अलग-अलग भी हो सकती है।
3. संस्थानात्मक ऋण में अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन ऋणों की आवश्यकताओं में स्पष्ट भेद किया जाता है और उसके अनुसार उधार दिया जाता है।

नोट

4. संस्थानात्मक ऋण की आवश्यकता गैर-सरकारी एजेन्सियों द्वारा उपलब्ध कराये गये ऋण की अपर्याप्तता और इनके दोषों के कारण उत्पन्न होती है।
5. संस्थानात्मक ऋण कृषकों की अन्य आवश्यकताओं से पूर्णतया समन्वित होते हैं।
6. किसानों के लिए मिश्रित नगद ऋण सीमा लागू करना। बचत संबंधीघटकों सहित नये ऋण उत्पाद, ऋणों का नकद संवितरण, अदेय प्रमाण-पत्र से छुटकारा और 10,000 रुपये से अधिक से कृषि ऋणों के लिए मार्जिन जमानत राशि की आवश्यकता से संबधित मामलों पर बैंकों को विशेषाधिकार।
7. उच्च प्रौद्योगिकी कृषि की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्येक राज्य में कम-से-कम एक विशिष्ट कृषि बैंक शुरू करना।
8. बैंकों की आन्तरिक अधिप्राप्ति के युक्तिकरण के माध्यम से ऋण सुपुर्दगी के लिए कार्यविधि संबंधी सरलीकरण।

कृषि साख की समस्याएँ

भारत में कृषि साख की प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं–

1. **साख देने वाली संस्थाओं का अभाव** (Lack of Financing Institiutions)–ग्रामीण क्षेत्रों में साख प्रदान करने वाली संस्थाओं का अभाव है। अत: यहाँ महाजन व साहूकार ही प्रमुख रूप से ऋण प्रदान करने वाले स्रोत बने हुए हैं।
2. **समन्वय का अभाव** (Lack of Co-ordination)–कृषि वित्त संबंधी आपूर्ति करने वाली विभिन्न संस्थाओं के कार्यकलापों में समन्वय का अभाव था।
3. **अधिक लागत** (More Cost)–कृषकों को ऋण लेने के लिए अपनी भूमि सम्बन्धी कागजात 'नो ड्यूज सर्टिफिकेट' से सम्बन्धित लेख प्राप्त करके जमा करना होता है। इस कार्य के लिए सम्बन्धित कर्मचारियों कोघूँस देनी पड़ती है। अत: ऋण की वास्तविक लागत बढ़ जाती है।
4. **समय व धन की हानि** (Loss of Time and Money)–कृषकों को ऋण प्राप्त करन में प्राय: अनेक बार वित्त संस्थाओं के चक्कर लगाने पड़ते हैं जिसमें समय तथा धन की हानि होती है।
5. **कृषि भण्डारण की समस्या** (problem of Agriculture Warehousing)–ग्रामीण क्षेत्र में कृषि उत्पादन के भण्डारण की उचित व्यवस्था नहीं की जा सकी है जिसके परिणामस्वरूप कृषक अपनी उपजों को गोदामों में जमानत के रूप में रखकर ऋण प्राप्त नहीं कर पाते हैं।
6. **ऊँची ब्याज दर** (High Rate of Interest)–ग्रामीण क्षेत्रों में जो साहूकार व महाजन साख प्रदान करते हैं, वे किसानों से ऊँची दर से ब्याज लेते हैं।
7. **ऋण आवश्यकतानुसार एवं उचित समय नहीं पर** (Non-availablility of Loan at Propose Time)–कृषकों को आवश्यकतानुसार एवं उचित समय पर ऋण नहीं मिल पाता।
8. **कार्य-प्रणाली में विभिन्नता** (Differences in Working System)–वित्त प्रदान करने वाले संस्थाओं की कार्य-प्रणाली में विभिन्नता पायी जाती है जिससे कृषकों को ऋण प्राप्त करने में नई-नई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

कृषि वित्त प्रणाली में सुधार के उपाय

प्रमुख संस्थागत एजेन्सियाँ निम्नलिखित हैं–

कृषि वित्त व्यवस्था में विद्यमान दोषों को दूर करना कृषि और कृषक समुदाय की उन्नति के लिए आवश्यक है।

इसके लिए निम्नलिखित कदम उठाये जा सकते हैं :

1. **संस्थागत साख का विस्तार** (Expansion of Institutional Credit)–कृषकों को महाजनों व साहूकारों से मुक्ति प्रदान करने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में संस्थागत साख का तेजी से विस्तार किया जाना चाहिए। इसके लिए क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों व सहकारी वित्तीय संस्थाओं; जैसे–सहकारी समितियों का विस्तार किया जाना चाहिए जिससे कि प्रत्येक गाँव का कृषक इनसे लाभ उठा सके।

2. **व्यापारिक बैंकों का ग्रामीण क्षेत्र में विस्तार** (Expansion of Commercial Banks in Rural Areas)–कृषि वित्त के क्षेत्र में वाणिज्य के योगदान में भारी वृद्धि लाना आवश्यक है। यह योगदान विभिन्न दिशाओं से बढ़ाया जा सकता है। इसमें आवश्यक बात यह है कि ये बैंक ग्रामीण क्षेत्रों में अपनी शाखाएँ बढ़ायें और अधिकाधिक मात्रा में वहाँ बचत की राशियों को इकट्ठा करें।

3. **जमानत पर जोर देना** (Emphasis on Pledge)–छोटे कृषकों को ऋण देते समय जमानत देने पर अधिक जोर न दिया जाय बल्कि इस बात का ध्यान रखा जाए कि कृषकों की ऋण चुकाने की क्षमता कैसी है।

4. **कृषि की विशेषताओं के अनुरूप ऋण** (Loan according to Characteristics of Agriculture)–ऋण देने के लिए भूमि को आधार न मानकर, भूमि की उत्पादन शक्ति, उत्पादन कार्यक्रम आदि तत्वों को आधार माना जाये। दूसरे शब्दों में, आधार सम्बन्धी सिद्धान्त को उत्पादनमूलक होना चाहिए।

5. **विभिन्न वित्तीय संस्थाओं में समन्वय** (Co-ordination in Difference Financial Institutions)–विभिन्न वित्तीय संस्थाओं में आपस में प्रभावी समन्वय होना चाहिए जिससे कि वे उन्हीं स्थानों पर विस्तार कर सकें जहाँ विस्तार की आवश्यकता है।

6. **उपभोग कार्यों के लिए ऋण** (Loans for Consumption Purposes)–वित्त संस्थाओं को उपभोग कार्यों के लिए भी ऋण प्रदान करना चाहिए तथा ऐसे ऋणों को उत्पादक ऋणों के साथ जोड़ देना हितकर रहेगा।

7. **ब्याज नीति** (Interest Policy)–ब्याज नीति इस प्रकार की होनी चाहिए कि विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न ब्याज-दरों की व्यवस्था हो। छोटे किसानों को तथा ऐसे क्षेत्रों में जहाँ नई तकनीकी को बढ़ावा देना हो, वहाँ अन्य क्षेत्रों की तुलना में कम ब्याज पर अथवा ब्याज-मुक्त ऋण देने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

8. **ऋण की मात्रा, उपलब्धि एवं समय** (Quantity, Availability and Time of Loans)–कृषि सम्बन्धी विभिन्न कार्यों के लिए आवश्यक मात्रा में ऋण का उपलब्ध होना आवश्यक है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि ऋण कम ब्याज पर और यथासमय उपलब्ध हो, ताकि उसका उचित प्रयोग किया जा सके।

9. **ऋण प्रणाली में एकरूपता** (Uniformity in Credit Policy)–सभी वित्त संस्थाओं की ऋण प्रदान करने सम्बन्धी कार्य-प्रणाली में एकरूपता तथा सरलीकरण करना आवश्यक है जिससे कि अशिक्षित एवं ऋण लेने वाले कृषकों को कठिनाइयों का सामना करना न पड़े।
10. **ऋण का उत्पादक कार्यों में प्रयोग** (Use of Credit for Productive Purposes)–ऋण के समुचित प्रयोग के लिए ऐसी उचित व्यवस्था होनी चाहिए जिससे कि ऋण का प्रयोग उत्पादन कार्यों के लिए हो सके।

2.8 कृषि विपणन से आशय

कृषि विपणन से अर्थ इन सभी क्रियाओं से लगाया जाता है जिनका सम्बन्ध कृषि उत्पादन का कृषक यहाँ से अन्तिम उपभोक्ता तक पहुँचाने में किया जाता है। इन क्रियाओं में कृषि उपज को एकत्रित करना, उनका श्रेणीक्रम एवं प्रमापीकरण करना, उन्हें बेचने के लिए मण्डियों व बाजारों तक ले जाना तथा उनकी बिक्री करना भी शामिल है।

भारत में कृषि विपणन प्रणाली की विशेषताएँ

भारत में वर्तमान में निम्नलिखित विपणन प्रणाली पायी जाती हैं :

1. **स्थानीय बाजार** (Local Market)–भारतवर्ष में किसान अपनी उपज का अधिकांश भाग ग्रामों में ही बेच देता है। एक अनुमान के अनुसार पंजाब में 25% गेहूँ, 25% कपास और 70% तिलहन तथा उत्तर प्रदेश में 80: गेहूँ; 40% कपास और 75% तिलहन ग्राम में ही बेच दिये जाते हैं। गाँवों में बेची जाने वाली उपज को गाँवों के साहूकार या महाजन, गाँव के बनिये या शहर के व्यापारी अथवा उनके आढ़तिये खरीद लेते हैं। किसान प्राय: ग्रामों में ही उपज बेचने के लिए विवश हो जाता है क्योंकि वह साहूकारों से ऋण लिये रहता है।
2. **अनियमित मण्डियाँ** (Unregulated Markets)–इन मण्डियों में क्रय-विक्रय प्राय: प्राचीन व्यवस्था के अनुसार होता है। इन मण्डियों में कोई निश्चित व्यापारिक नियम नहीं होते हैं। इनमें बहुत बड़ी संख्या में मध्यस्थ पाये जाते हैं। इन मण्डियों में कमीशन, दलाली, तौलाई, धर्मादा के रूप में बहुत कटौती होती है। वस्तुओं के मूल्य प्राय: दलाल और आढ़तिये तय करते हैं। इससे अनपढ़ किसान को कुछ पता नहीं चलता।
3. **नियमित मण्डियाँ** (Regulated Markets)–इन मण्डियों में नियमानुसार क्रय-विक्रय होता है। इसका नियमन राज्य कृषि उपज (बाज़ार) अधिनियम के अन्तर्गत किया जाता है। इनमें कार्य करने वाले को लाइसेन्स लेना पडता है। इन मण्डियों में कमीशन तथा अन्य कटौतियाँ आदि निर्धारित की गयी हैं और सौदा खुली बोली के अनुसार होता है। भारतवर्ष में गेहूँ, कपास, गन्ना, जूट आदि की नियमित मण्डियाँ पायी जाती हैं। इन मण्डियों में किसान के साथ कोई धोखा नहीं होता और उन्हें अपनी उपज का उचित मूल्य उपलब्ध हो जाता है।
4. **सहकारी विपणन समितियाँ** (Co-operative Marketing Societies)–सहकारी समितियों ने कृषि वस्तुओं के विपणन में भाग लेना आरम्भ कर दिया है। ये समितियाँ अपने सदस्यों की उपज का इकट्ठा बेचकर पर्याप्त मूल्य प्राप्त करती हैं।
5. **राज्य व्यापार** (State Trading)–भारत में राज्य द्वारा कृषि पदार्थों का विपणन भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किये हुए हैं। राज्य की एजेन्सियाँ; जैसे–भारतीय खाद्य निगम फसल तैयार होने

के समय ग्रामीण क्षेत्रों या मण्डियों के निकट अपने विशेष केन्द्र स्थापित करता है जहाँ सरकार द्वारा निर्धारित कीमतों पर उपज को खरीदा जाता है।

कृषि विपणन के दोष

1. **विक्रय की बाध्यता** (Forced Sales)–प्राय: भारतीय कृषक स्वेच्छा से अपनी उपज को नहीं बेचता बल्कि दुर्बल आर्थिक स्थिति के कारण उसे अपनी उपज फसल काटने के तुरन्त बाद गाँव में ही बेचनी पड़ती है।

   उसे फसल तुरन्त इसलिए बेचनी पड़ती है क्योंकि उस पर विभिन्न प्रकार के ऋण चढ़े होते हैं और उनका भुगतान करना आवश्यक होता है। ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने अपने प्रतिवेदन में बताया है कि सामान्यतया उत्पादक अपनी उपज को प्रतिकूल स्थानों और प्रतिकूल समय पर बेचते हैं और सामान्यतया उनको प्रतिकूल शर्तों पर सौदे करने पड़ते हैं।

2. **परिवहन के साधनों का अभाव** (Lack of Means of Transport)–देश में परिवहन के साधन अपर्याप्त, अविकसित एवं दोषपूर्ण हैं। हमारे अधिकांश ग्राम रेलों व सड़कों द्वारा मण्डियों के साथ सम्बन्धित नहीं हैं इसलिए किसान अपनी उपज ग्राम में ही बेच देने के लिए बाध्य हो जाता है। शाही कृषि आयोग के शब्दों में, "यातायात के दोषपूर्ण साधनों के कारण ही बहुत-से मध्यस्थों का प्रवेश हो जाता है जो किसानों को अपनी उपज का ठीक मूल्य नहीं मिलने देते।"

3. **कृषि उपज कीघटिया किस्म** (Inferior Quality of Agriculture Produces)–भारत में कृषि उपज की किस्म प्राय:घटिया होती है जिसके कारण कृषकों को कम मूल्य मिलता है। कृषि उपजघटिया किस्म की होने के कई कारण हैं; जैसे–खराब बीजों का प्रयोग, फसलों के रोग, कीड़े-मकोड़ों के आक्रमण, अनावृष्टि या अतिवृष्टि, फसलों की कटाई का दोषपूर्ण ढंग आदि। भारतीय किसान अत्यन्त निर्धन, अशिक्षित और अपनी उपज की ही बिक्री-व्यवस्था से अपरिचित है। इसीलिए वह अपनी उपज की किस्म की ओर ध्यान नहीं दे पाता।

4. **संगठन का अभाव** (Lack of Organisation)–कृषकों का स्वयं का कोई सुसंगठित बिक्री संगठन न होने से उन्हें कृषि उपज के संगठित क्रेताओं से प्रतियोगिता में सदैव हानि उठानी पड़ती है। शाही कृषि आयोग ने ठीक ही कहा है, "जब तक किसान व्यक्तिगत रूप से अथवा दूसरे उत्पादकों के साथ मिलकर बिक्री का ढंग नहीं सीखेगा, तब तक वह अपनी उपज के क्रेताओं से, जिनको बहुत विशिष्ट ज्ञान प्राप्त है तथा जिनके पास अपेक्षाकृत अधिक साधन हैं, कभी नहीं जीत सकता।"

5. **अपर्याप्त एवं अवैज्ञानिक संग्रहण व्यवस्था** (Inadequate and Unscientific Storage System) –कृषि उपज का वैज्ञानिक ढंग से संग्रहण करने के लिए गाँव में सुविधाएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हैं। प्राय: कृषि-उपज को खत्तियों, कुड, रस, कल्ली, ढेक्कास, कोठी, कोठिला, कुण्डा आदि विभिन्न प्रकार की मिट्टी के बनाये गये बर्तनों में रखा जाता है, जससे उसके सड़ने, गलने और चूहों एवं चींटियों द्वारा नष्ट होने की आशंका रहती है तथा ऐसी स्थिति में किसानों को अपनी उत्पत्ति को शीघ्र ही बेचने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

नोट

6. **श्रेणीकरण व प्रमापीकरण का अभाव** (Lack of Grading and Standardisation)–हमारे देश में अधिकांश किसान अपनी उपज का श्रेणीकरण व प्रमाणीकरण नहीं कर पाते। वे ऊँची व नीची दोनों किस्मों की उपज को मिलाकर बाजार में बेचते हैं। परिणामस्वरूप उन्हेंघटिया उपज के दाम ही मिल पाते हैं।

7. **मूल्य सूचना का अभाव** (Lack of Information of Price)–वर्तमान विपणन व्यवस्था का एक गम्भीर दोष यह है कि हमारे कृषकों को मण्डियों में प्रचलित एवं सम्भावित कीमतों का ज्ञान नहीं रहता, इसलिए किसान की जो भी कीमत बतायी जाती है, उसे वही स्वीकार करनी पड़ती है। प्राय: गाँव का बनिया मूल्य के बारे में झूठी सूचनाएँ देकर उन्हें ठग लेता है। इसका मुख्य कारण हमारे गाँवों में संचार की सुविधाओं का अभाव है।

8. **मध्यस्थों का बाहुल्य** (Pre-dominance of Intermediataries)–भारतवर्ष में किसान तथा उनकी उपज के अन्तिम उपभोक्ताओं के बीच अनेक मध्यवर्ती लोग पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए व्यापारी, कच्चा आढ़तिया, पक्का आढ़तिया, दलाल, थोक व्यापारी, खुदरा व्यापारी इत्यादि। इन लोगों की एक लम्बी कतार रहती है। इनमें से सभी अपनी-अपनी सेवाओं के लिए कुछ न कुछ लेते हैं। अनुमान लगाया गया है कि मूल्य में से उत्पादकों को 50% से 80% भाग ही प्राप्त होता है और शेष मध्यस्थों द्वारा ही हड़प लिया जाता है।

9. **कपटपूर्ण पद्धतियाँ** (Frandulant Prachices)–शाही कृषि आयोग के अनुसार, "मण्डियों में प्रचलित ये कपटपूर्ण पद्धतियाँ किसी भी प्रकार चोरी से कम नहीं है।" भारतवर्ष में जब कभी किसान अपना माल मण्डियों (विशेषकर जो अनियमित हैं) में ले जाता है तो वहाँ प्रचलित बहुत-सी बुराइयों व धोखबाजी के कारण कृषक विक्रेता को बहुत-सी हानियाँ सहनी पड़ती हैं। 'राष्ट्रीय नियोजन समिति (National Planning Committee) ने मण्डियों में प्रचलित निम्न धोखेबाजियों का संकेत किया है :

   (i) उपज का एक अच्छा अंश नमूने या बानगी के रूप में निकाल लिया जाता है।
   (ii) दलाल सदा ही क्रेता का पक्ष लेकर कार्य करता है।
   (iii) यहाँ तराजू-बाँटों में गड़बड़ी की जाती है।
   (iv) मूल्य आढ़तिया व क्रेता का दलाल तय करता है। किसान को विश्वास में नहीं लिया जाता है।
   (v) विवाद की स्थिति में किसान के हितों की रक्षा करने वाला मण्डियों में कोई नहीं होता।

10. **कृषि आधिक्य का कम होना** (Shortage of Agriculture Surpulses)–उत्पादन में से वर्ष भर खाने के लिए व आगामी कृषि हेतु बीज रखने के बाद जो बचता है, उसे हम कृषि आधिक्य कहते हैं। यह कृषि आधिक्य छोटी-मोटी जोत होने के कारण बहुत ही कम मात्रा में होता है जिसे वह गाँव में ही इस कारण से बेच लेता है कि उसे बाजार में ले जाने में आनुपातिक दृष्टि से अधिक व्यय करना पड़ता है।

11. **वित्तीय सुविधाओं का अभाव** (Lack of Financial Facilities)–भारत में आज भी वित्तीय सुविधाओं का अभाव है। कृषि के लिए अल्पकालीन व दीर्घकालीन साख के लिए एवं दैनिक खर्च के लिए धन का अभाव रहता है। छोटे किसानों को ऋण सुविधाएँ प्रदान

करने में राष्ट्रीयकृत बैंक व सहकारी समितियाँ असफल रही हैं जिससे कृषक अपनी उपज को साहूकार की इच्छानुसार बेचता है। देश के लगभग 80: कृषक इस श्रेणी में आते हैं।

12. **नियन्त्रित बाजारों की धीमी प्रगति** (Slow Progress of Regulated Markets)–मण्डियों में व्याप्त व्यापारियों के कार्यों पर नियन्त्रण रखने के उद्देश्य से तथा कृषक विक्रेताओं को आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करने के उद्देश्य से देश में नियन्त्रित बाजारों की पगति काफी कम है। मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, पंजाब व गुजरात आदि राज्यों को छोड़कर अन्य राज्यों में ऐसी व्यवस्था सन्तोषप्रद नहीं है।

कृषि विपणन व्यवस्था में सुधार हेतु सरकारी प्रयास

1. **नियमित मण्डियों की स्थापना** (Establishment of Regulated Markets)–सरकार ने कृषि बिक्री व्यवस्था में सुधार के लिए जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य किया है, वह है–नियमित मण्डियों की स्थापना। नियमित बाजारों की स्थापना का उद्देश्य कृषि पदार्थों की बिक्री को नियमित करना और कुशल बनाना है

   जिससे बाजारों में प्रचलित अनुचित रीतियाँ समाप्त हो जायें। इन बाजारों का प्रबन्ध बाजार समितियों की देख-रेख में होता है जिनमें उत्पादकों, व्यापारियों व स्थानीय संस्थाओं के प्रतिनिधि होते हैं। इन बाजारों का मुख्य लक्ष्य बाजारी कटौतियों को कम करना और किसानों को उचित मूल्य का विश्वास दिलाना है। भारत में वर्तमान में इस प्रकार की 7,062 नियमित मण्डियाँ हैं।

2. **गोदाम की सुविधाएँ** (Facilities for Storage)–सार्वजनिक एवं निजी दोनों क्षेत्रों में ही व्यापारिक दृष्टि से कृषि उपज के लिए संग्रह एवं गोदामों की सुविधाएँ उपलब्ध कराने वाली प्रमुख संस्थाएँ इस प्रकार हैं–केन्द्रीय एवं राज्य ग्रोदाम निगम (C. S. W. C.), भारतीय खाद्य निगम तथा सहकारिताएँ।

3. **ग्राम्य गोदामों का निर्माण** (Construction of Village Storages)–1979-80 में सरकार ने एक नयी योजना 'ग्रामीण गोदामों का राष्ट्रीय ग्रिड' आरम्भ की जिसमें सहकारी समितियाँ, बाजार समितियाँ तथा राज्य भण्डारागार निगम के द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में 200 से 1,000 टन क्षमता वाले गोदामों का निर्माण कराने का कार्य किया गया। इन गोदामों के निर्माण के लिए कुल लागत 50 प्रतिशत केन्द्र व राज्य के बीच बराबर बाँट लिया गया तथा 50 प्रतिशत वित्तीय संस्थाओं से ऋण के रूप में प्राप्त किया गया था।

4. **शोध एवं सर्वेक्षण** (Research and Survey)–भारत सरकार का विपणन एवं जाँच निदेशायलय कृषि पदार्थों के विपणन से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन करने एवं उनके समाधान हेतु शोध एवं सर्वेक्षण का कार्य करता है।

5. **श्रेणीकरण व प्रमापीकरण की सुविधा** (Facilities of Grading & Standardisation) –कृषि उपंज के श्रेणीकरण तथा प्रमापीकरण के लिए सरकार द्वारा अनेक व्यवस्थाओं की गयी हैं। विपणन एवं जाँच निदेशालय से 41 कृषि वस्तुओं के सम्बन्ध में निर्यात करने से पूर्व किस्म जाँच करानी आवश्यक हो आन्तरिक उपभोग के लिए एगमार्ग (AGMARK) के अन्तर्गत महत्वपूर्ण वस्तुओं का श्रेणीकरण किया जाता है। वस्तुओं की शुद्धता एवं किस्म की जाँच करने के लिए नागपुर में केन्द्रीय एगमार्क प्रयोगशाला के अतिरिक्त 22 अन्य प्रादेशिक प्रयोगशालाएँ कार्य कर रही हैं। 1999-2000 में देश के अन्तर्गत 1,051

नोट

श्रेणीकरण केन्द्र कार्य कर रहे थे तथा विपणन एवं जाँच निदेशालय द्वारा 162 कृषि वस्तुओं का श्रेणीकरण किया गया।

6. **माप विधि तथा बाँटों में सुधार** (Improvement in Weight and Measurement Method)–नियमित बाजारों की स्थापना हो जाने से माप और बाँटों की समस्या बहुत-से उन बाजारों में बहुत हद तक दूर हो गयी है। 1 अप्रैल, 1962 से बाँटों और मापों में मीट्रिक पद्धति लागू करने से इस दिशा में बहुत सुधार हुआ है। प्रारम्भ में भारतीय अनपढ़ किसान को समझाने में अवश्य कठिनाई आयी होगी परन्तु अब स्थिति सन्तोषजनक है।
7. **बेहतर-यातायात की व्यवस्था** (Better Transport Arrangements)–समन्वित सड़क विकास कार्यक्रम में ग्रामीण क्षेत्रों में सड़कों के विकास की उच्च प्राथमिकता प्रदान की गयी है ताकि देश के लाखों गाँवों को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मुख्य धारा में सम्मिलित किया जा सके। छठी योजना में यह लक्ष्य रखा गया था कि 1988 तक एक हजार या उससे अधिक जनसंख्या वाले प्रत्येक गाँव को सड़कों के साथ जोड़ दिया जायेगा।

   सड़कों के विकास के साथ बैलगाड़ी में सुधार करने के प्रयास किये जा रहे हैं क्योंकि गाँव में यही यातायात का प्रमुख साधन है।
8. **विपणन व निरीक्षण निदेशालय** (Directorate of Marketing and Inspection)–भारत सरकार ने सन् 1963 में विपणन व निरीक्षण निदेशालय की स्थापना की थी। कृषि विपणन सलाहकार के निर्देशन में इस विभाग का कार्य आरम्भ हुआ। इस निदेशालय ने कोलकता, मुम्बई, मद्रास (चेन्नई), दिल्ली, लखनऊ, जयपुर, शिलांग व भोपाल में क्षेत्रीय कार्यालय खोले हैं जहाँ से उन क्षेत्रों की विपणन समाचार व्यवस्था की उचित देखभाल की जाती है।
9. **विपणन कर्मचारियों का प्रशिक्षण** (Training of Marketing Employees)–कृषि विपणन व्यवस्था से सम्बद्ध कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिए 3 पाठ्यक्रमों की व्यवस्था है। पहला पाठ्यक्रम राजकीय क्रय-विक्रय विभागों के उच्चाधिकारियों के लिए है। इसकी व्यवस्था नागपुर में है। यह पाठ्यक्रम 1 वर्ष का है। दूसरा पाठ्यक्रम क्रय-विक्रय सचिवों तथा अधीक्षकों के लिए 5 माह की अवधि का है। तीसरा वर्गीकरण निरीक्षण के लिए त्रैमासिक पाठ्यक्रम है। इन पाठ्यक्रमों के अन्तर्गत 1,100 से अधिक कर्मचारी प्रशिक्षण प्राप्त कर चुके हैं।
10. **फलोत्पादन तथा प्रशीतन** (Fruit Production and Airconditioning)–फलोत्पादन आदेश, 1935 के अन्तर्गत फलों तथा सब्जियों की किस्म, नियन्त्रण व्यवस्था के लिए लाइसेन्स दिये जाते हैं। कोल्ड स्टोरेज आदेश, 1964 के अनुसार आकार 8.5 घन मीटर है। उससे अधिक प्रशीतन क्षमता वाले शीतागारों को भारत सरकार के कृषि विपणन सलाहकार से सलाह लेना आवश्यक है।
11. **मूल्य स्थिरीकरण** (Price Stabilisation)–कृषकों को उनकी उपज का उचित मूल्य दिलाने के लिए कृषि तथा कृषि मूल्यों में स्थिरता लाने की दृष्टि से सन् 1966 से सरकार प्रति वर्ष खाद्यान्नों के न्यूनतम मूल्यों कीघोषणा करती है।
12. **सहकारी विपणन** (Co-operative Marketing)–सरकार ने सहकारी विपणन समितियों की स्थापना द्वारा कृषि विपणन के दोषों को दूर करने का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना आगे की गयी है।

13. **विशेष बोर्डों की स्थापना** (Establishment of Special Boards)–भारत सरकार ने रबड़, कॉफी, चाय, तम्बाकू, गर्म मसाले, नारियल, तिलहन और वनस्पति तेल आदि के बारे में विशिष्ट वस्तु-बोर्ड (Specialise Commodity Boards) स्थापित किये हैं। हाल ही के वर्षों में, राष्ट्रीय दुग्धशाला विकास बोर्ड ने न केवल 'आप्रेशन फ्लड' में सहायता दी है बल्कि यह तेल और अन्य भूमि वस्तुओं के विक्रय का भी कार्य कर रहा है।

14. **सहकारी विपणन समितियों का संगठन** (Organisation of Co-operative Marketing Societies)–भारत सरकार ने बहु-उद्देशीय सहकारी समितियों के संगठन को प्रोत्साहन देने के लिए सक्रिय प्रोत्साहन दिया है और इस कार्य में विशेष बल उधार एवं विपणन पर ही रखा गया। प्राथमिक विपणन समितियों को केन्द्रीय विपणन समितियाँ और राज्यीय स्तर पर शिखर विपणन समितियाँ कायम करने के लिए प्रोत्साहन दिया गया। इसी प्रकार राष्ट्रीय कृषि सहकारी विपणन संघ (NAFED) भी कायम किया गया। सरकार ने सहकारी विपणन समितियों और संघों और स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया और अन्य राष्ट्रीयकृत बैंकों के माध्यम से अधिक वित्तीय संसाधन उपलब्ध कराये।

15. **कृषि सम्बन्धी सूचना** (Agricultural Information)–किसानों में कृषि सम्बन्धी सूचना के प्रसारण के लिए सरकार रेडियो और टेलीविजन का भी प्रयोग करती रही है। रेडियो तथा दूरदर्शन के प्रसारण में मुख्य वस्तुओं के दैनिक मूल्यों, स्टॉक तथा बाजार की गतिविधियों सम्बन्धी सूचना दी जाती है। बहुत-से किसान इन प्रसारणों को सुनकर लाभ उठाते हैं।

16. **वित्त की व्यवस्था** (Provision of Finance)–ग्रामीण क्षेत्रों में वित्तीय सुविधाओं का पर्याप्त मात्रा में विकास एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। बहुत-सी सार्वजनिक एजेंसियाँ कृषकों को पर्याप्त मात्रा में वित्तीय सुविधाएँ प्रदान करने के लिए प्रयत्नशील हैं।

17. **खाद्यान्नों का राजकीय व्यापार** (State Trading in Food-grains)–खाद्यान्नों का राज्य व्यापार सबसे पहले केन्द्र एवं राज्य सरकारों के खाद्य विभागों ने आरम्भ किया। सन् 1965 में भारतीय खाद्य निगम की स्थापना की गयी। इस निगम को खाद्यान्नों की खरीद, संग्रह, यातायात, विपरण और विक्रय का कार्य सौंपा गया। यह आशा व्यक्त की गयी कि खाद्यान्नों के विणन में थ्ब्प् एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायेगा। खाद्य निगमों द्वारा सम्पन्न किये गये कुछ कार्य भी थ्ब्प् को सौंप दिये गये हैं।

18. **राष्ट्रीय कृषि विपणन पुरस्कार** (National Agricultural Marketing Awards)–जून 1993 में राष्ट्रीय कृषि विपणन पुरस्कार समिति का गठन किया गया और इस समिति की सिफारिशों के आधार पर निम्नलिखित वर्गों में वार्षिक पुरस्कार आरम्भ किये गये– (i) कृषि विपणन के क्षेत्र में उल्लेखनीय सेवा/योगदान के लिए व्यक्तिगत पुरस्कार–दो पुरस्कार (प्रथम/द्वितीय) ध्यान में रखे बिना, (ii) राज्य कृषि विपणन बोर्डों/कृषि विपणन विनियोगों के लिए पुरस्कार–तीन पुरस्कार (प्रथम, द्वितीय और तृतीय पुरस्कार), पूर्वोत्तर राज्यों के लिए (सिक्किम सहित) एक विशेष पुरस्कार/इस प्रकार में प्रमाण-पत्र और प्रशस्ति पत्र के साथ ही एक शील्ड/स्मृति चिन्ह भी दिया जाता है। इसमें नकद राशि नहीं होती है। पहला पुरस्कार वितरण समारोह 29 जुलाई, 1997 को आयोजित किया गया था जिसमें हरियाणा, कर्नाटक और आन्ध्र प्रदेश के कृषि विपणन बोर्डों/कृषि विपणन निदेशालयों को पुरस्कार प्रदान किये गये।

नोट

19. **कृषि वस्तुओं के निर्यात को बढ़ावा** (Encouragement to Export of Agriculture Goods)–विगत वर्षों में कृषि वस्तुओं के निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार ने आर्थिक सहायता दी है जिसके कारण कृषि वस्तुओं का निर्यात जो 1952–53 में 7,880 करोड़ रुपये था, 1998–99 में 25,000 करोड़ रुपये से भी अधिक हो गया।
20. **भावी व्यापार** (Future Trading)–आर्थिक सुधारों के अंग के रूप में सरकार ने गुड़, आलू, एरण्ड के बीज, काली मिर्च, हल्दी, पटसन, कॉफी, तिलहन, खल एवं खाद्य तेलों में भावी व्यापार करने की अनुमति दे दी है।
21. **ट्राइफेड की स्थापना** (Establishment of TRIFED)–जनजातीय लोगों का शोषण करने वाले निजी व्यापारियों से छुटकारा दिलाने और उनके द्वारा तेयार की गयी वस्तुओं का अच्छा मूल्य दिलाने के उद्देश्य से सरकार ने अगस्त 1987 में भारतीय जनजातीय सहकारी विपणन विकास परिसंघ (Tribal Co-operative Marekting Development Federation of India Ltd.—TRIFED) की स्थापना की थी। इसने अप्रैल, 1998 को कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था। इसे पेड़ों तथा वनों के तिलहन उत्पादों के एकत्रीकरण, प्रसंस्करण, भण्डारण और विकास की प्रमुख एजेन्सी भीघोषित किया गया है। गेहूँ और धान की सरकारी खरीद के लिए ट्राइफेड भारतीय खाद्य निगम के एजेण्ट और मोटे अनाजों, दालों और तिलहनों की सरकारी खरीद में कृषि एवं सहकारिता विभाग के एजेण्ट के रूप में काम करती है। मूल्यों के उतार-चढ़ाव से होने वाले अचानक नुकसान की भरपाई के लिए कृषि मन्त्रालय इसे अनुदान देता है।

2.9 भारतीय कृषि में तत्कालीन मुद्दे

आज भी देश के अधिसंख्यक लोग कृषि में काम करते हैं (60 प्रतिशत)। कृषि का आर्थिक महत्व है, लगभग 15 प्रतिशत योगदान ळक्च में। तीव्र आर्थिक समृद्धि के लिए, गरीबी उन्मूलन और लोगों के जीवन स्तर में सुधार के लिए कृषि विकास में सुधार जरूरी होगा। लगभग 3/4 से अधिक गरीब लोग ग्रामीण इलाकों में, विशेषतौर भूमिहीन मजदूर, लघु और सीमांत किसान है।

कृषि क्षेत्र का विस्तार दर बहुत धीमा 2 प्रतिशत से कम रह रहा है ये कृषि की कमजोरी को दर्शाता है, इससे गरीबी की समस्या और गंभीर बनती है। नक्सलवाद के रूप में सामाजिक और राजनीतिक तनाव बढ़ते हैं। अब भारत की कोशिश है कि हम कृषि में 4 प्रतिशत वृद्धि हासिल की जाये। और कृषि के क्षेत्र में सतत् विकास की संकल्पनाओं को कार्यान्वियन हेतु कृषि संसाधनों का कुशल उपयोग हो-मृदा, जल आदि का संरक्षण हो।

11वीं योजना में कृषि पर मुख्य बल दिया गया है। 4.1 प्रतिशत वृद्धि दर का लक्ष्य। कृषि क्षेत्र में समस्या यह है कि इसमें सार्वजनिक क्षेत्र का निवेश कम है। निजी निवेश सार्वजनिक निवेश पर निर्भर है, यह आवश्यक है कि सार्वजनिक निवेश में वृद्धि हों ताकि सिंचाई, बाढ़ नियंत्रण, जल, मृदा प्रबंधन परिवहन सुविधाओं में सुधार हो, कृषि क्षेत्र में सब्सिडी का बढ़ता हुआ बोझ विशेष तौर पर उर्वरक सब्सिडी। राज्य स्तर पर विद्युत सब्सिडी का अधिक बोझ होने के कारण संसाधन उपलब्ध नहीं होते, इसी कारण से सार्वजनिक निवेश कम रहता है। इसलिए योजना आयोग का सुझाव है कि सब्सिडी को नियंत्रित करने की कोशिश और संसाधनों का उपयोग स्थायी एवं उत्पादक निवेश में होना चाहिए। सब्सिडी का लाभ सीमान्त एवं लघु किसानों को मिलें, कृषि क्षेत्र में तकनीकी सुधार

नोट

पर व्यय, विशेष तौर पर जैव-प्रौद्योगिकी का उपयोग करने की कोशिश होनी चाहिए। बड़े पैमाने पर कृषि में साख भी गंभीर समस्या है–किसानों के लिए ऋण की उपलब्धता, यहां पर सरकार की जो नीति है-वह यह है, कि प्राथमिकता वाले क्षेत्र को 40 प्रतिशत ऋण मिलना चाहिए। 18 प्रतिशत जिसमें कृषि के लिये दिया जाना चाहिए। लेकिन इसके बावजूद बहुत सारे किसानों को पर्याप्त साख उपलब्ध नहीं हो पाता है, जिसका कि उपयोग वे कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए कर सके–इसका कारण यह भी है कि ग्रामीण इलाकों में बैंकों के ऋणों का अनुभव बहुत सकारात्मक नहीं रहा है इसी कारण बैंक अक्सर प्रत्यक्ष ऋण की जगह, कृषि क्षेत्र के लिए उत्पादन समर्थन को ज्यादा महत्व देते हैं। किसानों को ऋण के लिए असंगठित क्षेत्रों पर निर्भर रहना पड़ता है। सरकार ने कृषि साख बढ़ाने के लिए व्यापक कदम उठाये हैं, लेकिन अभी तक सीमित है।

राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा मिशन

11वीं पंचवर्षीय योजना के अन्त तक चावल, गेहूं तथा दालों का उत्पादन क्रमश: 10 मिलियन टन, 8 मिलियन टन तथा 2 मिलियन टन बढ़ाने की दृष्टि से रबी 2007-08 में एनएफएसएम प्रारम्भ किया गया। मिशन का उद्देश्य क्षेत्र विस्तार तथा उत्पादकता के जरिए उत्पादन में वृद्धि करना, रोजगार अवसरों का सृजन और किसानों का विश्वास भी पुनर्बहाली-हेतु कृषि स्तरीय अर्थव्यवस्था को बढ़ाना था। 2010-11 से दाल उत्पादन कार्यक्रम को बढ़ाने के लिए एनएफएसएम के तहत दलहन फसलों के पर्याप्त संवर्धन के कार्यक्रलापों को अपनाया गया है। ये है:

1. तिलहन, दाल, ऑइलपाम और मक्का (आईएसओपीओएम) एकीकृत योजना के दाल संघटक को एनएफएसएम में मिला दिया गया है ताकि दाल कार्यक्रम का कवरेज क्षेत्र बढ़ सके। झारखंड और असम में चूंकि चावल की परती भूमि में दाल संवर्धन की अत्यधिक संभावना है, अत: इन्हें इस कार्यक्रम में शामिल कर लिया है।
2. एनएफएसएम के तहत नए कार्यक्रम त्वरित दलहन उत्पादन कार्यक्रम (ए3पी) के माध्यम से तकनीकी के 1000 ब्लॉक प्रदर्शनों को 2010-11 से शुरू किया गया है। यह कार्यक्रम पांच मुख्य दलहन फसलों अर्थात् तुर, मूंग, उड़द, चना और मसूर के प्रत्येक 1000 हैक्टेयर के सघन खण्डों में पौध पोषक तत्वों और पौध संरक्षण केन्द्रित तकनीकियों का निश्चित रूप से संवर्धन करेगा।

   वर्षा सिंचित क्षेत्र में 60,000 दलहन और तिलहन गांवों में शुष्क भूमि कृषि संवर्धन के लिए बजट 2012-13 में 100 करोड़ रुपए की राशि प्रदान की गई है। 'पूर्वोत्तर राज्यों में हरित क्रांति लाना', सात राज्यों–उत्तर प्रदेश, झारखण्ड, बिहार, पश्चिम बंगाल, असम, उड़ीसा और छत्तीसगढ़ में चल रहा है। इन राज्यों में कृषि उत्पादकता को बढ़ाने के लिए किए गए दलहन संवर्धन कार्य योजना और अन्य पहलों के अलावा, चावल विकास और दलहन और तिलहन ग्रामों का संचालन अन्य कार्यक्रम है।

राष्ट्रीय कृषि विकास योजना

सार्वजनिक निवेश को बढ़ाने के लिए राज्यों को प्रोत्साहित करने के लिए ग्यारहवीं योजना के लिए 25,000 करोड़ रुपए के परिव्यय के साथ 2007-08 में आरकेवीवाई शुरू की गई ताकि योजना के दौरान कृषि और संबद्ध क्षेत्रों में 4 प्रतिशत की वृद्धि दर प्राप्त की जा सके। 2010-11 में आरकेवीवाई के तहत शुरू की गई निम्नलिखित तीन नई पहलों के लिए विशिष्ट आबंटन करना होगा:

नोट

1. अनुशंसित कृषि प्रौद्योगिकियों और प्रक्रिया पैकेजों के माध्यम से गहन खेती के द्वारा क्षेत्र की फसल उत्पादकता की वृद्धि के लिए, असम, बिहार, छत्तीसगढ़, झारखंड, उड़ीसा, पूर्वी उत्तर प्रदेश, और पश्चिम बंगाल राज्यों सहित देश के पूर्वोत्तर क्षेत्र तक हरित क्रांति का विस्तार करना।
2. चिन्हित वाटरशेड़ों में, जहां दलहन और तिलहन किसानों को किराए पर छषि मशीनरी और उपस्कर प्रदान किए जाते हैं, 60,000 दलहन और तिलहन ग्रामों का आयोजन कर शुष्क भूमि क्षेत्रों में दलहनों और तिलहनों के लिए विशेष पहल। ये पहल, तिलहन और दलहन उत्पादन संवर्धन केघटकों वाली भारत सरकार की अन्य योजनाओं के साथ सामंजस्य स्थापित है।
3. राष्ट्रीय केसर मिशन कार्यान्वयन-2010-11 के दौरान जम्मू और कश्मीर केसर क्षेत्र का आर्थिक पुनरुत्थान।

किसानों के लिए नई पहल

प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने कृषि क्षेत्र को बेहतर बनाने की सिफारिशों के लिए हरियाणा के मुख्यमंत्री भूपेंद्र सिंह हुड्डा की अध्यक्षता में कार्यदल बनाया था। कार्यदल ने 16 दिसंबर, 2010 अपनी रिपोर्ट प्रधानमंत्री को सौंप दी।

इस रिपोर्ट में कार्यदल ने किसानों को दिए जाने वाले ऋण की ब्याज दर अधिकतम 4 प्रतिशत रखने की सिफारिश की है। इसके अलावा कार्यदल ने न्यूनतम समर्थन मूल्य को किसानों की लागत से 50 प्रतिशत अधिक रखने की सिफारिश की है। इस कार्यदल का गठन देश में कृषि उत्पादन बढ़ाने के साथ ही कृषि क्षेत्र की विकास रफ्तार बढ़ाने के लिए लंबी अवधि की नीतियों से संबंधित सिफारिशें देने के लिए किया था। बिहार के मुख्यमंत्री नीतीश कुमार, पंजाब के मुख्यमंत्री प्रकाश सिंह बादल और पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री बुद्धदेव भट्टाचार्य इसके सदस्य थे।

रिपोर्ट में व्यापक नीति का समर्थन करते हुए कार्यदल ने बीमा कवर के दायरे में सभी फसलों और मवेशियों को शमिल करने की सिफारिश की है। इसके साथ ही यह भी कहा है कि इसके लिए वित्तीय मदद केंद्र सरकार को मुहैया करानी चाहिए। किसानों को बिजली आपूर्ति सुनिश्चित करने के लिए रिपोर्ट में ऊर्जा क्षेत्र में होने वाले निवेश को बढ़ाने की सिफारिश भी की गई है। इसके साथ ही बेहतर उत्पादन करने वाली किस्में विकसित करने के लिए कृषि शोध में भी अधिक निवेश करने पर ज़ोर दिया गया है।

ब्लॉक के बजाय गांव को ही राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना की इकाई बनाए जाए। कार्यदल की सिफ़ारिश है कि आपदा राहत कोष में संशोधन कर बाढ़, सूखे और पाले जैसी प्राकृतिक आपदा के कारण फसल खराब होने पर 25,000 रुपए प्रति हेक्टेयर के हिसाब से मुआवजा दिया ज़ाए। खेती में उपकरणों के इस्तेमाल का बढ़ावा देने के लिए कृषि उपकरणों पर से आयात शुल्क हटाने की भी सिफारिश की गई है।

देश में फसलों के उत्पादन में आने वाला अंतरघटाने के लिए क्षेत्रवार नीतियां बनाने की सिफारिश की गई है। रिपोर्ट के अनुसार राष्ट्रीय औसत से कम उत्पादन वाले राज्यों को राष्ट्रीय औसत के करीब आना चाहिए और अधिक उत्पादन वाले राज्यों को अधिकतम कृषि उत्पादन स्तर पर पहुंचने की कोशिश करनी चाहिए। रिपोर्ट में कृषि विपणन, भूमि सुधार में सरकारी-निजी भागीदारी से फसलों को सीधे तौर पर उपभोक्ताओं तक पहुंचने की भी सिफारिश की गई हैं।

नोट

भारत में कृषि और किसान की स्थिति

हाल में किसानों में आत्महत्या की प्रवृत्ति बढ़ी है इसके पीछे क्या कारण है, इसके लिए सरकार क्या पहल कर रही है?

आत्महत्या का कारण

मौसम प्रतिकुल, अंतर्राष्ट्रीय दबाव/प्रभाव पर्यावरण, बाजार की प्रतिकूलता (अधिकतम उत्पादन में मूल्य में गिरावट)

1. हरित क्रांति अपनाये जाने वाले क्षेत्रों में ही किसान आत्महत्या कर रहे हैं न कि परम्परागत खेती करने वाले क्षेत्रों में कारण महंगे कृषि आगत (input) (मशीन, बीज) के उपयोग के कारण संस्थागत एवं गैर-संस्थागत स्रोतों से ऋण लेना पड़ता है। लेकिन पर्याप्त कृषि आधारभूत ढांचा न होने के कारण मौसम की प्रतिकूल परिस्थिति में उत्पादन प्रभावित होता है और किसाना ऋण की अदायगी में असफल होते हैं।
2. जिन वर्षों में मौसम अनुकूल होता है उत्पादन की अधिकता रहती हैं परन्तु उचित विपणन प्रणाली न होने के कारण किसानों को अपने उपज का उचित कीमत नहीं मिल पाता है तथा कई बार विदेशों से आयातित कृषि उत्पाद पर न्यूनतम टैरिफ प्रशुल्क के कारण भी किसानों को विपरित परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। इन्हीं सब दबावों के कारण किसान आत्महत्या के लिए बाध्य होता है।

किसानों को आत्महत्या करने से रोकने के उपाय–

1. मौसम प्रतिकूल होन की स्थिति में उत्पादन प्रभावित होने पर सरकार को तत्काल संज्ञान में लेते हुए ब्याज एवं मूलधन की वसूली को स्थगित किया जाना चाहिए।
2. नए ब्याज को माफ किया जाए।
3. नकदी सहायता देकर जटिल स्थिति से उबारा जाना चाहिए। अर्थात्-नये ऋण दिये जाये।
4. मौसम की प्रतिकूलता के असर को कम करने हेतु स्थाई आधारभूत ढांचा विकसित किया जाए।
5. लघु सीमांत किसान तथा कृषि मजदूर एवं अन्य को संस्थागत श्रोत से ऋण बांटने हेतु सरल प्रक्रिया अपनाया जाए।
6. जनता के निकट सम्पर्क वाले संस्थाओं को ऋण बांटने में उपयोग किया जाए। जैसे–च्वेज वीपिबमए किराने की दुकान को हिमदज बनाकर।
7. डपबतव पिदंदबम सूक्ष्म ऋण का प्रसार भूमिहीन एवं मजदूरों के बीच किया जाए। इस दिशा में त्वरित कार्यवाही हेतु सरकार को निगरानी प्रणाली विकसित करनी चाहिए।

विभिन्न प्रकार की खेतियों के नाम

हार्टी कल्चर (Horiticulture) बागवानी

फ्लोरीकल्चर (Floriculture) फूल विज्ञान

ओलरीकल्चर (Olericulture) सब्जी विज्ञान

पोमोलांजी (Pomology) फल विज्ञान

नोट

विटीकल्चर (Viticulture)	अंगूर की खेती
वर्मीकल्चर (Vermiculture)	केंचुआ पालीन
पिसीकल्चर (Pisiculture)	मत्स्य पालन
सेरीकल्चर (Sericulture)	रेशम उद्योग
मोरीकल्चर (Moriculture)	रेशम कीट हेतु शहतूत उगाना
एपीकल्चर (Apiculture)	मोंन पालन (मधुमक्खी पालन)
एरोपोनिक (Aeroponic)	पौधों को हवा में उगाना

भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थाल

भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान की स्थापना मूल रूप से सन् 1905 में पूसा 'बिहार' में हुई थी। इसे एक अमेरिकी समाज सेवक श्री हेनरी क्रिप्स ने वित्तीय सहायता दी थी। आगे चलकर जब बिहार में भारी भूकंम्प आया और पूसा 'बिहार' स्थित इसके भवन को भारी क्षति हुई तो उसे सन् 1936 में नई दिल्ली के वर्तमान परिसर में स्थानांतरित कर दिया। संस्थान का लोकप्रिय नाम 'पूसा संस्थान' इसके मूल स्थान पूसा से जाना जाता है।

संस्थान को सौपें गये कार्य

1. सभी जटिल प्रक्रियाओं को समझने के उद्देश्य से आधारभूत एवं नीतिपरक अनुसंधान करना ताकि पर्यावरण के अनुरूप फसल में सुधार और कृषि उत्पादकता को टिकाऊ बनाया जा सके;
2. कृषि विज्ञान में स्नातकोत्तर शिक्षा के क्षेत्र में एक श्रेष्ठ शैक्षणिक संस्था के रूप में कार्य करना;
3. नई अवधारणाओं, परिकल्पनाओं और प्रौद्योगिकीयों का विकास दर कृषि अनुसंधान और प्रसार में राष्ट्रीय नेतृत्व करना।

कृषि में अभिनव पहल

सरकार ने कृषि उत्पादन में गिरती हुई प्रवृत्ति को रोकने और किसानों की सक्षम आजीविका और आय स्तर के स्थायी समाधान खोजने के लिए हाल के वर्षों में पहले ही अनेक महत्वपूर्ण पहल की है। कुछेक महत्वपूर्ण नई पहल हैं: (1) भारत निर्माण, (2) राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारन्टी कार्यक्रम, (3) राष्ट्रीय बागवानी मिशन (4) किसानों के लिए संस्थागत ऋण का विस्तार, (5) राष्ट्रीय मधुमक्खी बोर्ड की स्थापना, (6) राष्ट्रीय वर्षा सिंचित क्षेत्र प्राधि करण की स्थापना, (7) राष्ट्रीय मात्स्की विकास बोर्ड की स्थापना, (8) पनधारा विकास और लघु सिंचाई कार्यक्रम, (9) कृषि विपणन में सुधार और विपणन ढांचे का विकास, (10) सहकारिता क्षेत्र का पुनरूद्धार, (11) लघु किसान कृषि-व्यवसाय संघ द्वारा उद्यम पूंजी भागीदारी के जरिए कृषि-व्यवसाय विकास, (12) कृषि विस्तार सेवाओं के लिए सुधार और समर्थन, (13) राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन, (14) राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा मिशन, (15) कृषि क्षेत्र में राज्यों को और अधिक निवेश के लिए प्रेरित करने के लिए राष्ट्रीय कृषि विकास योजना, (16) एकीकृत खाद्य कानून, (17), भण्डारण विकास और नियमन के लिए विधायी रूपरेखा, (18) पौधे किस्मों और किसाना अधिकार संरक्षण (पी वी वी एफ आर) अधिनियम, 2001, 19) राष्ट्रीय बांस मिशन और (20) ग्रामीण सामान्य सेवा केन्द्रों (सी जी एस सी) के माध्यम से ज्ञान संयोजकता तथा सूचना प्रौद्योगिकी संबंधी पहल।

उर्वरक और सब्सिडी नीति

नोट

पिछले एक दशक से भी ज्यादा समय से सरकारी नियमों की जंजीरों में जकड़ा भारतीय फर्टिलाइजर उद्योग अब धीरे-धीरे इस बंधन से मक्त हो रहा है। पिछले दो सालों में इस इंडस्ट्री के प्रति सरकारी नीतियों में सकारात्मक बदलाव नजर आ रहा है। इस बदलाव से छोटी अवधि में इंडस्ट्री के मुनाफे में कुछ खास बदलाव तो मुमकिन नहीं है, लेकिन इससे कंपनियों को कुछ हद तक मदद जरूर मिलेगी। हाल ही में सरकार ने न्यूट्रिएंट बेस्ड सब्सिडी (एनबीएस) पॉलिसी और गैरयूरिया फर्टिलाइजरों की कीमतों को सरकारी नियंत्रण से मुक्त करने की घोषणा की थी। इसके अलावा यूरिया की कीमतों में 10 प्रतिशत इजाफा करने का फैसला 1 अप्रैल 2010 से लागू हो गया। अब गैर यूरिया उर्वरकों के लिए सब्सिडी की सीमा तय होगी जबकि इसकी खुदरा कीमतों मे अंतर्राष्ट्रीय भाव के साथ उतार-चढ़ाव होगा।

उर्वरक की कीमतों पर प्रतियोगिता शुरू होने के बाद कंपनियां बेहतर सोर्सिंग, वितरण और कामकाजी क्षमताओं का सही इस्तेमाल कर अपनी लागत घटाकर प्रॉफिट मार्जिन बढ़ा सकती हैं। नई नीति के तहत नए प्रोडक्ट और बेहतर तकनीकों या ज्यादा क्षमताओं में निवेश करने पर वित्तीय सहूलियतें दी जाएंगी। यूरिया निर्माताओं के लिए खुदरा कीमतों में 10 प्रतिशत बढ़ोत्तरी का मतलब है सब्सिडी पर निर्भरता कम होना जो वित्त वर्ष 2009 के दौरान बढ़कर आमदनी का 65-75 प्रतिशत तक हो गई थी दिसंबर 2009 के दौरान घरेलू उर्वरक कंपनियों ने शानदार प्रदर्शन किया था। इस अवधि में 24 उर्वरक कंपनियों का कुल लाभ सालभर पहले की तुलना में बढ़कर 88.5 प्रतिशत हो गया है। हालांकि, इस दौरान 28.5 प्रतिशत की कमी आई।

पहले यह उद्योग निवेशकों का पसंदीदा सेक्टर था।, किन्तु अब इसकी रफ्तार धीमी पड़ गई है। दुनिया में जनसंख्या लगातार बढ़ रही है और उम्मीद है कि 2050 तक विश्व की आबादी बढ़कर 9 अरब हो जाएगी। आर्थिक वृद्धि के कारण लोगों की खाने-पीने की आदतें भी बदल रही हैं। अब लोग मीट और चावल जैसे ज्यादा हाई-प्रोटीन फूड को तरजीह दे रहे हैं। जमीन की उत्पादकता बढ़ाने में उर्वरक की बेहद अहम भूमिका है।

पिछले कुछ वर्षों मेंघरेलू उर्वरक उद्योग में निवेश कम हुआ है, लेकिन विदेशी कंपनियों अधि ग्रहण की राह पर तेजी से बढ़ रही हैं। यूरिया उत्पादन करने वाली दुनिया की सबसे बड़ी कंपनी नॉर्वे की यारा ने हाल ही में 4.1 अरब डॉलर में अमेरिकी कंपनी टेरा को अपने कब्जे में किया है। इसी तरह ब्राजीलियाई खनन कंपनी वेल कॉरपोरेशन ने दो अमेरिकी कंपनियों के स्थानीय फर्टिलाइजर कारोबार को 4.8 अरब डॉलर में खरीदा था। दुनिया की सबसे बड़ी खनन कंपनी बीएचपी बिलिटॉन ने कनाडाई फर्टिलाइजर कंपनी अथाबास्का पोटाश को जनवरी 2010 में 32 करोड़ डॉलर में हासिल किया। कनाडा की एग्रियम लगातार प्रतिद्वंद्वी कंपनी सीएफ इंडस्ट्रीज के शेयरधारकों को अपनी तरफ आकर्षित करने की कोशिश कर रही है। इसमें अमेरिका की मोजैक और ब्राजील की कोपेब्रास के बीच हुआ सौदा भी शामिल है। आने वाले समय में दुनियाभर की फर्टिलाइजर इंडस्ट्री के लिए काफी अच्छा साबित होने वाला है। भारत में भी फर्टिलाइजर इंडस्ट्री पर से सरकारी नियमों का शिकंजा ढीला पड़ता जा रहा है। इस इंडस्ट्री में हुए हालिया बदलाव की रफ्तार अभी धीमी है, लेकिन इससे सकारात्मक रूझान साफ नजर आने लगा है। जुलाई 2008 में सरकार ने आयात आधारित प्राइसिंग की जगह कॉस्टप्लस प्राइसिंग की नीति अपनाई थी। आयात आधारित में आयात किए जाने वाले उत्पाद के सामान घरेलू उत्पादों की कीमत तय की जाती है जबकि कॉस्ट प्लस में उत्पादक अपनी

नोट

लागत के अनुसार कीमत तय करता है। अप्रैल 2009 से इंडस्ट्री को प्राकृतिक गैस की उपलब्धता बढ़ने से भी काफी फायदा हुआ है। अब न्यट्रिएंट आधारित प्राइसिंग भी शुरू हो गई है। इससे इंडस्ट्री के मुनाफे पर बहुत ज्यादा असर तो नहीं पड़ेगा, लेकिन बेहतर तकनीक में निवेश करने से उन्हें वित्तीय सहूलियतें दी जाएंगी। फर्टिलाइजर की कीमतों से सरकारी नियंत्रण हटने से भी आने वाले दिनों में इंडस्ट्री को लागतघटाने और बिजनेस बढ़ाने से लाभ होगा।

ऋण और बीमा

ग्रामीण बैंकिंग प्रणाली की कार्यकुशलता और पहुंच (आउटरीच) में सुधार की आवश्यकता है। इसके लिये किसानों को उचित ब्याज दर पर वित्तीय सेवाएं सहीं समय पर, पर्याप्त मात्रा में और सरलता से पहुंचनी चाहिए। बैकिंग प्रणाली के अंतर्गत कृषि के स्तर को ऊंचा उठाने, ग्रामीण और कृषि-व्यवसाय उद्यमों और रोजगार के विकास को बढ़ावा देने के लिए अपेक्षित बड़ी ऋण क्षमता का पता लगाने और वित्तीय व्यवस्था करने के लिए कदम उठाने की आवश्यकता है। कृषि अत्यधिक जोखिम वाला एक आर्थिक कार्यकलाप हैं अत: किसानों को उपभोक्ता-अनुकूल बीमा साधनों की जरूरत है जिनके अंतर्गत उत्पादन, अर्थात् बुवाई से लेकर फसलोत्तर कामकाज को शामिल किया जाए। बीमें में किसानों को वित्तीय संकट से बचाने के लिए सभी फसलों के संबंध में मंडी जोखिम शामिल किया जाए और इस प्रकार कृषि को वित्तीय रूप से व्यवहार्य बनाया गया। राष्ट्रीय कृषि बीमा स्कीम को किसानों के लिए और अधिक अनुकुल बनाने हेतुं इसमें सुधार लाने के प्रयास किए जायेंगे।

कृषि मूल्य, विपणन और व्यापार

कृषि उत्पादकता और लाभप्रद बढ़ाने में आश्वस्त और लाभप्रद विपणन अवसर प्रदान करना सतत प्रगति का मुख्य पहलू है।

1. न्यूनतम समर्थन मूल्य (एम एस पी) पद्धति को देशभर में अधिक प्रभावी ढंग से कार्यान्वित किया जाएगा।
2. बाजार हस्तक्षेप स्कीम (एम आई एस) को आकस्मिकताओं की स्थिति में, विशेष रूप से वर्षापोषित क्षेत्रों में संवेदनशील फसलों के मामलें में शीघ्रता में अमल में लाने के लिए सुदृढ किया जाएगा।
3. सामुदायिक खाद्यन्न बैंकों की स्थापना को बढ़ावा दिया जायेगा, जिससे अल्प प्रयुक्त फसलों के विपणन में मदद मिलेगी और इस प्रकार कृषि जैव विविधता के संरक्षण में आर्थिक विकास को बल मिलेगा।
4. सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पी डी एस) के नेटवर्क के जरिए पोषक मिलेट्स जैसे कि बाजारा, ज्वार व रागी व अन्य फसलों को भंडारण करने व बेचने के जरिए खाद्य सुरक्षा समूह (बास्केट) का विस्तार किया जायेगा। देश में कटाई पश्चात अवसंरचना पूरी तरह से अपर्याप्त है जिसकी वजह से अत्याधिक अक्षमता और अपशिष्ट उत्पन्न होता है। फसल के प्रकृति और जलवायु की दशाओं पर निर्भर करते हुए अनुचित रख रखाव तथा परिवहन हानियों के कारण भण्डारण, ग्रेडिंग, पैकिंग तथा विपणन की विभिन्न स्थितियों में फसलोंपरान्त हानियों का प्रतिशत अत्यधिक परिवर्तनशील है। कृषि उत्कृष्टता केन्द्र (फसल और पशुपालन, मात्स्यिकी और वानिकी स्थापित किए जायेंगे।)

नोट

कृषि बीमा

चार कृषि बीमा योजनाएं नामत: राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना (NAIS), प्रायोगिक संशोधित राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना (MNAIS), प्रायोगिक जोखिम आधारित फसल बीमा योजना (WBCIS), और प्रायोगिक नारियल ताड़ बीमा योजना (CPIS) का देश में कार्यान्वयन किया जा रहा है।

1. संशाधित राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना संयुक्त दल की सिफारिशों और संशोधित राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना पर किसानों द्वारा आये सुझावों को भारत सरकार ने मंजूरी दे दी है। इन्हें 2010-11 के रबी फसल मौसम से 11वीं पंचवर्षीय योजना के शेष बचे दो वर्षों के दौरान 50 जिलों में प्रयोग के तौर पर लागू किया जायेगा। इस संशोधित राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना की विशेषताएं इस प्रकार हैं–
   (i) सभी किसानों के लिए 40% से 75 तक की प्रिमियम सब्सिडी के साथ बीमा प्रीमियम की राशि देना।
   (ii) केवल अपफ्रंट प्रीमियम राशि केंद्र और राज्य सरकारें आधी-आधी देंगी और सभी बीमा दावों को बीमा कंपनियों द्वारा भुगतान किया जायेगा।
   (iii) बीमा का युनिट एरिया प्रमुख फसलों के लिएघटाकर गांव/गांव पंचायत कर दिया गया है।
   (iv) तूफान या बवंडर के कारण फसल के बुआई/रोपण और कटाई के बाद होने वाले नुकसान की क्षतिपूर्ति
   (v) संभावित बीमा दावों को 25% अग्रिम राशि का तुरंत भुगतान।
   (vi) न्यूनतम् क्षतिपूर्ति को 60% से बढ़ाकर 70% कर दिया गया है।
   (vii) इस योजना का लाभ कर्जदार या गैर कर्जदार सभी किसानों को मिलेगा।
   (viii) योजना के अंतर्गत कर्जदार किसानों को अधिसूचित फसलों के लिए अधिकार सूचित क्षेत्रों में अनिवार्य रूप से शामिल किया जायेगा जबकि गैर कर्जदार किसान अपनी इच्छानुसार योजना में शामिल हो सकते हैं।
   (ix) कर्जदार और गैर कर्जदार दोनों तरह के किसानों के लिए सामाजिक अनुशासन एक समान रहेगा।
   (x) कृषि बीमा के क्षेत्र में स्पर्द्धा जगाने के लिए निजी बीमा कंपनियों को भागीदारी।
2. **प्रायोगिक संशोधित एनएआईएस** (MNAIS) मौजूदा योजना की सीमाओं/दोषों को देखते हुए सरकार ने 2010-11 के रबी मौसम से 50 जिलों में संशोधित एनएआईएस को प्रायोगिक आधार पर कार्यान्वयन हेतु अनुमोदित किया है। एमएनआईएस में किए गए मुख्य सुधार निम्नलिखित हैं: प्रीमियम में विभिन्न दरों पर सब्सिडी के रनव नीमांकिक प्रीमियम अर्थात किसानों को प्रदत्त स्लैब के आधार पर 40 प्रतिशत से 75 प्रतिशत बीमाकर्ता को सभी दावों की देयता, प्रमुख फसलों के लिए बीमा के यूनिट क्षेत्र को कम कर ग्राम पंचायत स्तर पर कर दिया गया, रुकावट/बुआई/रोपण जोखिम और तूफान के कारण फसल कटाई पश्च हानियों के लिए क्षतिपूर्ति, तत्काल राहत के रूप में संभावित दावों के 25 प्रतिशत अग्रिम तक का भुगतान प्रारंभिक आय के हिसाब के लिए अधिक सही आधार

नोट

60 प्रतिशत के बजाय 70 प्रतिश को न्यूनतम क्षतिपूर्ति स्तर और अनुमत पर्याप्त अवसंरचना के निजी क्षेत्र के बीमाकर्ता (वर्तमान में आईसीआईआई लोम्बार्ड, इफको टोकियों और चोलामंडलम (एमएस)। केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा केवल वैध प्रीमियम सब्सिडी का बंटवारा 50:50 आधार पर किया जाता है और दावे बीमा कम्पनियों की देयता होते हैं। रबी 2010-11 के दौरान सात राज्यों को इस योजना के कार्यान्वयन हेतु पहले ही क्षेत्र अधिसूचित कर दिए हैं। ऐसी प्रत्याशा है कि 14-15 राज्यों द्वारा यह योजना अधिसूचित कर दी जाएगी।

3. **मौसम आधारित फसल बीमा योजना** (WBCIS) केन्द्रीय बजट 2007 में यथाघोषित मौसम आधारित फसल बीमा योजना (डब्ल्यूबीसीआईएस) आरंम्भ कर पायलट आधार पर चुनिंदा क्षेत्रों में फसल बीमा के तहत अधिक किसानों को कवर करने के प्रयास किए गए हैं। डब्ल्यूबीसीआईएस का उद्देश्य प्रतिकूल मौसम संबंधी घटनाओं, जिसमें फसल उत्पादन कर प्रतिकूल प्रभाव है, से किसानों को बीमा सुरक्षा प्रदान करना है। डब्ल्यूबीसीआईएस प्रीमियम के बीमांकिक दरों पर आधारित है। परन्तु योजना के आकर्षक बनाने के लिए किसानों से वास्तविक रूप में लिए जाने वाले प्रीमियम को एनएआईएस के सममूल्य पर सीमित कर दिया गया है। भारतीय कृषि बीमा कम्पनी लि. (एआईसी) के अतिरिक्त निजी बीमाकर्ताओं को भी चुनिंदा क्षेत्रों में योजना के कार्यान्वय हेतु शामिल किया गया है।

अनुबंध कृषि

कॉन्ट्रैक्ट खेती वैसे तो भारत के लिए नई नहीं है। सबसे पहले 1920 के दशक में आईटीसी ने तंबाकू की खेती से इसकी शुरूआत की थी। कंपनी ने आंध्र प्रदेश के गुटूर और प्रकाशन जिला में में फ्लयु क्योर्ड वर्जिनिया तंबाकू (सिगरेट का तंबाकू) उपजाने के लिए किसानों को तकनीक देकर कॉन्ट्रैक्ट खेती कराई थी। उसके पहले भारत में बीड़ी और हुक्के में आम आने वाला तंबाकू ही पैदा होता था। इसी कहानी को उसके कुछ समय बाद चीनी मिलों ने गन्ना उत्पादन में अपनाया लेकिन उस समय इसे कॉन्ट्रैक्ट खेती जैसा आधुनिक नाम नहीं दिया गया। हाल के दिनों में कॉन्ट्रैक्ट खेती की शुरूआत पंजाब से हुई है। वहां पंजाब एग्रो फंड्स कॉरपोरेशन किसान और कम्पनियों के बीच की कड़ी का काम, कर रहा है। कॉन्ट्रैक्ट खेती में कंपनियों को किसानों से सीधे खरीददारी की सुविधा दी जाती है। इसके लिए कृषि उत्पाद विपणन संमिति (एपीएमसी) नोडल एजेंसी है। अधिनियम में संशोधन की जरूरत है। देश के 9 राज्य ऐसा कर चुके हैं जबकि कुछ कानून में संशोधन करने वाले हैं। पूर्वोत्तर के कुछ राज्यों में यह कानून ही नहीं है। पहले साल 22,000 एकड़ और 9100 किसानों से शुरू हुई काट्रैक्ट खेती का क्षेत्रफल पिछले सीजन में 4.5 लाख एकड़ को पार कर गया था।

अनुबन्ध कृषि क्या है?

1. कृषकों से अनुबंधकों के फसलों को उपजाने के लिए इसमें अनुबन्ध किया जाता है।
2. यह पूर्व निर्धारित कीमतों पर होता है।
3. इसके अन्तर्गत सभी आवश्यक आगत एवं सहायता कृषकों को अनुबंधकों द्वारा समय-समय पर उपलब्धता करायी जाती है।

अनुबंध कृषि क्यों?

1. केन्द्रीय एवं राज्य स्तर खरीद व्यवस्था/प्राप्त व्यवस्था पर से बोझ कम करने के लिए।
2. कृषि क्षेत्र में निजी क्षेत्र के निवेश को या भागीदारी को बढ़ाने के लिए।
3. एक ऐसी बाजार की स्थापना जिसके तहत भारतीय किसान उत्पादन के क्रम मे उचित फसलों का चुनाव कर सकें।
4. किसानों के व्यक्तिगत आय में एक स्थिरतापूर्ण वृद्धि के लिए।
5. प्रसंस्करण एवं मूल्यांकन को बढ़ावा देने के लिए।
6. ग्रामीण समुदाय के अन्तर्गत रोजगार के अवसर के सृजन के लिए खासकर भूमिहीन किसानों के लिए उचित रोजगार के अवसर प्रदान करने के लिए।
7. ग्रामीण क्षेत्रों से शहर की और प्रवास रोकने के लिए।
8. ग्रामीण क्षेत्र की आत्मनिर्भरता में स्थानीय संसाधनों के उपयोग द्वारा वृद्धि करने के लिए।

अनुबंध कृषि के लाभ

कृषकों के लिए

1. विश्व स्तरीय कृषि तकनीकी से संबंध।
2. कृषकों के उपज का उचित मूल्यांकन एवं बिक्री के लिए बाजार की उपलब्धता।
3. ऐसी फसलों को उपजाने के लिए कोई बाध्यता नहीं जो ताजी होने पर ही विक्रय होती है।
4. फसलों के समय-समय पर निरीक्षण, तकनीकी सलाह कृषकों को उनकेघरों में उपलब्ध होना।
5. अन्ततः पारितोषक आय वापसी के रूप में अर्थात् कृषकों को उनकी मेहनत का उचित फल प्राप्त होना।
6. विभिन्न प्रकार के स्वास्थ्य संबंधी सहायता, कृषीय विधियों की जानकारी, तकनीकी समाचारों एवं नवाचारों की जानकारी कृषकों को प्राप्त होना इत्यादि।

अनुबंध करने वाली कंपनी के लिए

1. बिना किसी रूकावट के लगातार आधारभूत सामग्री का प्रवाह।
2. बाजार मूल्यों के उतार चढ़ाव से सुरक्षा।
3. दीर्घकालीन योजना को सफलता।
4. इस संकल्पना को कंपनी अन्य दूसरों फसलों पर की विस्तारित कर सकता है।
5. दीर्घकालीन संबंधों का निर्माण।
6. समर्पित आपूर्तिकर्त्ताओं का समूह।
7. संगठन के लिए अच्छे संबंधों का निर्माण आदि।

अनुबंध कृषि को बढ़ावा देने के कुछ सुझाव

नोट

1. भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद एवं अन्य कृषि विश्वविद्यालयों द्वारा क्षेत्रीय विशेषता संबंधी फसलों के विषय में आम लोगों को जानकारी प्रदान करना।
2. आयातित उच्च गुणवत्ता वाले बीजों की पहुँच कृषकों तक बनाना जो अनुबंधित है। जिससे बाजार आधारित एवं मूल्य वृद्धि आधारित विकास को बढ़ावा दिया जा सके।
3. कृषि क्षेत्र के अनुसंधानकर्त्ताओं को अनुबंधित कृषि कार्यक्रम में सम्मिलित होने के लिए प्रोत्साहित करना।
4. अनुसंधान व्यवस्था में कृषकों एवं निजीक्षेत्र दोनों को सम्मिलित करना।
5. खरीद में किसी तीसरे पार्टी का हस्तक्षेप अनुबंधित कृषि में एक अपराध माना जाना।
6. अनुबंध प्रवर्त्तन के लिए एक अर्द्ध-न्यायिक व्यवस्था की आवश्यकता।
7. राज्य स्तर पर एकल नियमन की व्यवस्था अनुबंध कृषि के लिए।
8. अनुबंधित कृषि संगठनों को वास्तविक फसल बीमा नीतियों के निर्माण के लिए अनुमति/स्वीकृति प्रदान करना।
9. किसी भी प्रकार के शुल्क एवं करों का अधिरोपण अनुबंध कृषि के लिए आयातित कृषकों यंत्रों पर न करना।
10. सभी प्रकार के अधिभार, कर, शुल्क, फीस इत्यादि का समापन अनुबंध कृषि कार्यक्रम के ऊपर से।

नोट–17 राज्यों ने एपीएमसी अधिनियम में कांट्रेक्ट फार्मिंग का प्रावधान किया है।

2.10 सारांश

कृषि की इतनी अधिक प्रधानता है कि भारतीय कार्यकारी जनसंख्या (Working population) का बहुत बड़ा भाग रोजगार के लिए इस पर आश्रित है। जनगणना द्वारा उपलब्ध कराये गये आँकड़ों से पता चलता है कि जहा 1951 में कुल मुख्य श्रमिकों (Main workers) का लगभग 70 प्रतिशत कृषि तथा सम्बद्ध क्रियाओं में कार्यरत था, वहां 2001 में कृषि के भाग में गिरावट हुई और यह 59 प्रतिशत हो गया।

भारत में कृषि के महत्त्व का कारण यह है कि इससे हमारे प्रमुख उद्योगों को कच्चा माल मिलता है। सूती और पटसन वस्त्र-उद्योग, चीनी, वनस्पति तथा बगान उद्योग (Plantation), ये सब सीधे कृषि पर निर्भर हैं और भी ऐसे अनेक उद्योग हैं जो कृषि पर अप्रत्यक्ष रूप में निर्भर हैं। हाथ करघा बुनाई, तेल निकालना, चावल कूटना आदि बहुत से लघु और कुटीर उद्योगों को भी कृषि से कच्चा माल मिलता है। विनिर्माण-क्षेत्र में उत्पन्न आय का 50 प्रतिशत इस क्षेत्र से प्राप्त होता है।

भारतीय कृषि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण है। भारत से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में मुख्य कृषि वस्तुएँ ही हैं–चाय, तम्बाकू, तेल निकालने के बीज, गर्म मसाले, आदि।

अतः कृषि क्षेत्र में कोई भी परिवर्तन-सकरात्मक या नकरात्मक-अर्थव्यवस्था पर गुणक प्रभाव डालता है। कृषि क्षेत्र खाद्य-सुरक्षा बनाए रखने में मुख्य योगदान अदा करता है और इस प्रकार यह राष्ट्रीय सुरक्षा को भी मजबूत करता है। परिस्थितिकीय संतुलन (Ecological balance) को कायम रखने के लिए, कृषि तथा सम्बद्ध क्षेत्रों का पोषणीय एवं संतुलित विकास आवश्यक है।

अतः यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ है। ग्रामीण क्षेत्र कम-कीमत वाली एवं मध्यम कीमत वाली उपभोग-वस्तुओं जिनमें चिरस्थायी उपभोग वस्तुएं (Consumer durables) भी शामिल हैं का सबसे बड़ा बाजार हैं। इसके अतिरिक्त, संसाधन गतिमान करने के लिए ग्रामीण बचत कुल बचत का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है।

कृषि क्षेत्र के विकास का आयोजन करते हुए योजना आयोग ने चार मुख्य उद्देश्य रखे–

(i) कृषि उत्पादन में वृद्धि का लक्ष्य सदैव रखा गया है और इसके लिए

(क) कृषि आधीन क्षेत्र में लगातार वृद्धि करना;

(ख) प्रति हैक्टेयर उत्पाद (अर्थात् कृषि उत्पादिता) में वृद्धि के लिए, कृषि-आदानों (Agricultural inputs) जैसे सिंचाई, उन्नत बीजों, उर्वरकों आदि का अधिकाधिक प्रयोग करना;

(ग) कृषि उत्पादन में वृद्धि करना।

(ii) रोज़गार के अवसर बढ़ाना

(iii) भूमि पर जनसख्या के दबाव को कम करना

(iv) ग्रामीण क्षेत्र में आय की असमानताओं को कम करना ये चार उद्देश्य सामान्यतया सभी योजनाओं में अपनाए गए हैं, परन्तु व्यवहार में भारत में कृषि-आयोजन (Agricultural planning) का अर्थ केवल कृषि-उत्पादन में वृद्धि ही समझा जाता है अर्थात् केवल पहले लक्ष्य की प्राप्ति और अन्य सभी उद्देश्यों की या तो उपेक्षा की गयी या उन्हें निम्न प्राथमिकता दी गयी। आरम्भ में "कृषि क्षेत्र" के अर्थ की व्याख्या करना आवश्यक है। पहली तीन योजनाओं में, "कृषि क्षेत्र" में शामिल थे कृषि और सम्बद्ध क्षेत्र (उद्यान-कृषि (Horticulture), पशुपालन और मत्स्य) एवं सिंचाई तथा बाढ़-नियंत्रण।

भारतीय कृषि को फार्म-भिन्न सेवाओं अर्थात् वित्त और विपणन (Finance and marketing) की व्यवस्था आदि की अपर्याप्तता के कारण परेशानी उठानी पड़ी है। या तो ये सुविधाएँ सर्वथा विद्यमान ही नहीं या बहुत महंगी हैं। भारत में जोत का औसत आकार बहुत छोटा है, अर्थात् पांच एकड़ से भी कम। ये जोतें न केवल छोटी हैं, बल्कि छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटी हुई हैं। देश के कुछ भागों में खेत इतने छोटे होते हैं कि उनमें साध. ारण हल भी नहीं चलाया जा सकता। खेतों के छोटा होने के कारण वैज्ञानिक विधि से खेतीबाड़ी संभव नहीं है। परिणामतः समय, श्रम और पशुशक्ति का भारी अपव्यय होता है, सिंचाई सुविधाओं के उचित उपयोग में कठिनाई होती है।

भारतीय कृषक उत्पादन की पुरानी और अक्षम विधियों तथा तकनीकों (Techniques) का प्रयोग करता चला आ रहा है। निर्धन एवं परम्परावादी होने के कारण, वह पश्चिमी देशों में और जापान में बड़े पैमाने पर अपनाई गई आधुनिक तकनीकों (Modern techniques) को नहीं अपना सका है। तात्पर्य यह है कि भारत में कृषि की निम्न उत्पादिता का एक महत्त्वपूर्ण कारण उत्पादन कीघटिया तकनीक का प्रयोग करना है। भारतीय कृषि के पिछड़ेपन का एक मूल कारण यह है कि हमारे देश के अधिकांश किसानों को वर्षा पर निर्भर रहना पड़ता था और कृत्रिम सिंचाई सुविधाएँ बहुत कम को उपलब्ध थीं। उदाहरणतया, देश-विभाजन से पूर्व केवल 19 प्रतिशत भूमि में सिंचाई होती थी। योजनाकाल में बड़ी और छोटी सिंचाई योजनाओं के प्रबल विकास के बावजूद कुल खेती योग्य भूमि के केवल 33 प्रतिशत में ही सिंचाई होती है।

नोट

किसी प्रदेश की फसल-प्रतिरूप उसकी भौतिक विशिष्टताओं अर्थात् मिट्टी, जलवायु, मौसम, वर्षा आदि पर निर्भर करती है। उदाहरणतया, एक ऐसे शुष्क क्षेत्र में, जिसमें थोड़ी वर्षा होती है तथा मानसून बहुत अनिश्चित होता है, ज्वार और बाजरा पर ही अधिक निर्भर रहना पड़ता है क्योंकि यह खेती कम वर्षा में भी हो सकती है। देश की फसलों के प्रतिरूप का निर्धारण करने में आर्थिक कारणों का महत्त्व सबसे अधिक है।

खेत के आकार और फसलों के ढांचे के बीच भी सम्बन्ध रहता है। छोटे किसान बड़े किसानों के मुकाबले व्यापारिक फसलों के लिए सापेक्षतः कम भाग का प्रयोग करते हैं। इसका कारण यह है कि छोटे किसान सबसे पहले अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए खाद्यान्न उत्पन्न करना चाहते हैं। अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण कर चुकने पर ही वे व्यापारिक फसलें उगाते हैं। फसल विफलता का जोखिम कम-से-कम करने की आवश्यकता का भी फसलों के ढांचे पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरणतया, अनेक क्षेत्रों में ज्वार-बजारे आदि मोटे अनाज की खेती के लगातार होने का कारण मुख्यतः वर्षा की अनिश्चितता से बचने का प्रयत्न है।

नयी विकास रणनीति के समर्थकों के अनुसार गहन उत्पादन प्रणाली भारतीय कृषि में अल्पकाल में उग्र विकास करने का एकमात्र उपाय है। खाद्यान्नों में स्वावलम्बिता प्राप्त करने के लिए अनिवार्य है कि ऐसी उत्पादन-विधि अपनाई जाए जिससे पर्याप्त मात्रा में अतिरिक्त अन्न उत्पन्न हो सके।

अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए उर्वरकों और सिंचाई पर भारी विनियोग करना पड़ता है। भारी विनियोग करना छोटे और मध्यम श्रेणी के किसानों की क्षमता से बाहर है। भारत में लगभग 810 लाख जोतें हैं परन्तु केवल 6 प्रतिशत बड़े किसानों के पास कुल भूमि का 40 प्रतिशत है और केवल वही नलकूप, पम्पिंग सेट, उर्वरक और भारी मशीनरी के रूप में भारी विनियोग कर रहे हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् पिछले 5 दशकों के दौरान भारतीय कृषि ने कई दिशाओं में प्रगति की है। प्रथम, खाद्यान्नों का उत्पादन जो 1950-51 में लगभग 500 लाख टन था, बढ़कर 1970-71 में दुगने से भी थोड़ा अधिक होकर 1,084 लाख टन तक पहुँच गया और 1983-84 में 1,524 लाख टन के उच्च स्तर तक पहुँच गया। इसके पश्चात् लगातार चार वर्ष सूखा पड़ने के कारण उत्पादन 1984-85 के शिखर स्तर के नीचे ही रहा किन्तु 1998-99 के अच्छा मानसून वर्ष होने के कारण खाद्यान्न 2,009 लाख टन के रिकार्ड स्तर तक पहुँच गया।

हरित क्रान्ति जो 1960 के दशक के दौरान आरम्भ की गयी का उद्देश्य अर्द्ध-बौने उपजाऊ किस्म (Semi- dwarf high yielding varieties) के बीजों का प्रयोग करके सिंचाई और रासायनिक उर्वरकों के साथ कार्य कर कृषि-उत्पादन को बढ़ाना था। इसके अच्छे परिणाम प्राप्त हुए और पहले चरण में गेहूँ के उत्पादन में भारी वृद्धि हुई और बाद में चावल के उत्पादन को बढ़ाने में भी अच्छा सफलता प्राप्त हुई।

भारत के वैज्ञानिक चावल और गेहूँ के संकर-बीजों (Hybrid seeds) को विकसित करने का प्रयास कर रहे हैं। ताकि उत्पादिता के वर्तमान अवरोधक को तोड़ा जा सके। यह उल्लेख करना जरूरी है कि ये दो फसलें मिलकर भारत में कुल खाद्यान्नों का तीन-चौथाई उपलब्ध कराती हैं।

हरित क्रान्ति की भावी सम्भावनाएँ इसके अगले चरण में संकर बीज तकनालाजी में अन्तर्निहित हैं। किन्तु तकनालाजी के इस हद तक मानकीकरण में समय लगेगा और तभी यह बीज-उत्पादकों, किसान वर्ग और उपभोक्ता द्वारा स्वीकार की जाएगी। अभी तक तो भारत ने अर्द्ध-बौने अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों की क्षमता का भी पूर्ण लाभ नहीं उठाया। भारत को उपलब्ध अधिक बीजों

से प्राप्य उत्पादिता और वास्तविक उत्पादिकता में अन्तर को कम करना चाहिए। यह आशा की जा सकती है कि जब तक भारत वर्तमान अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों से पूर्ण संभाव्य लाभों का प्रयोग कर लेगा, तब तक कृषि वैज्ञानिक संकर-चावल और गेहूँ की नयी किस्मों का विकास कर लेंगे जिससे हरित क्रान्ति के अगले चरण में प्रवेश करना सम्भव हो सकेगा।

नोट

कृषि की वह साख जिसकी उसे कृषि कार्यों को पूर्ण करने में आवश्यकता होती है कृषि वित्त या साख के अंतगर्त आती है। जबकि कृषि विपणन वह क्रिया है जिसमें माल की प्राप्ति, उसका एकत्रीकरण, विपणन, प्रक्रियाकरण, परिबंधन, परिवहन श्रेणीकरण और माल का वितरण शामिल है। कृषि सहकारी, साख समिति कृषकों के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण साख का स्रोत हैं। प्राथमिक कृषि साख समितियाँ लघु एवं मध्यम अवधि के ऋण उपलब्ध कराते हैं, जबकि भूमि विकास बैंक दीर्घ अवधि ऋण प्रदान करते हैं।

देश में कृषि एवं ग्रामीण विकास कार्यों की वित्त व्यवस्था करने के लिए 12 जुलाई, 1982 को एक शीर्षस्थ बैंक के रूप में राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक (नाबार्ड) की स्थापना उल्लेखनीय ऐतिहासिकघटना है। नाबार्ड का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्र में कृषि, लघु एवं कुटीर उद्योग, दस्तकारी एवं ग्रामीण कला के विकास हेतु वित्तीय सुविधा प्रदान करना है।

ऋण देने के लिए भूमि को आधार न मानकर, भूमि की उत्पादन शक्ति, उत्पादन कार्यक्रम आदि तत्वों को आधार माना जाये।

भारतवर्ष में किसान अपनी उपज का अधिकांश भाग ग्रामों में ही बेच देता है। एक अनुमान के अनुसार पंजाब में 25% गेहूँ, 25% कपास और 70% तिलहन तथा उत्तर प्रदेश में 80% गेहूँ; 40% कपास और 75% तिलहन ग्राम में ही बेच दिये जाते हैं।

भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान की स्थापना मूल रूप से सन् 1905 में पूसा 'बिहार' में हुई थी। इसे एक अमेरिकी समाज सेवक श्री हेनरी क्रिप्स ने वित्तीय सहायता दी थी। आगे चलकर जब बिहार में भारी भूकम्प आया और पूसा 'बिहार' स्थित इसके भवन को भारी क्षति हुई तो उसे सन् 1936 में नई दिल्ली के वर्तमान परिसर में स्थानांतरित कर दिया। संस्थान का लोकप्रिय नाम 'पूसा संस्थान' इसके मूल स्थान पूसा से जाना जाता है। पिछले एक दशक से भी ज्यादा समय से सरकारी नियमों की जंजीरों में जकड़ा भारतीय फर्टिलाइजर उद्योग अब धीरे-धीरे इस बंधन से मक्त हो रहा है। पिछले दो सालों में इस इंडस्ट्री के प्रति सरकारी नीतियों में सकारात्मक बदलाव नजर आ रहा है।

ग्रामीण बैंकिंग प्रणाली की कार्यकुशलता और पहुंच (आउटरीच) में सुधार की आवश्यकता है। इसके लिये किसानों को उचित ब्याज दर पर वित्तीय सेवाएं सहीं समय पर, पर्याप्त मात्रा में और सरलता से पहुंचनी चाहिए। बैंकिंग प्रणाली के अंतर्गत कृषि के स्तर को ऊंचा उठाने; ग्रामीण और कृषि-व्यवसाय, उद्यमों और रोजगार के विकास को बढ़ावा देने के लिए अपेक्षित बड़ी ऋण क्षमता का पता लगाने और वित्तीय व्यवस्था करने के लिए कदम उठाने की आवश्यकता है। कृषि उत्पादकता और लाभप्रद बढ़ाने में आश्वस्त और लाभप्रद विपणन अवसर प्रदान करना सतत प्रगति का मुख्य पहलू है।

कॉन्ट्रैक्ट खेती वैसे तो भारत के लिए नई नहीं है। सबसे पहले 1920 के दशक में आईटीसी ने तंबाकू की खेती से इसकी शुरूआत की थी। कंपनी ने आंध्र प्रदेश के गुटूर और प्रकाशन जिलामें में फ्लयु क्योर्ड वर्जिनिया तंबाकू (सिगरेट का तंबाकू) उपजाने के लिए किसानों को तकनीक देकर कॉन्ट्रैक्ट खेती कराई थी। उसके पहले भारत में बीड़ी और हुक्के में आम आने वाला तंबाकू ही पैदा होता था।

2.11 शब्दकोश

नोट

- **चिर-स्थायी** : अधिक समय तक स्थायी रहने वाला
- **अतिरेक** : अतिरिक्त बचत, अधिक बचत
- **पटसन** : एक प्रकार की फसल जिससे रस्सी बनाई जाती है
- **कपास** : एक प्रकार की फसल जिससे कपड़े बनते है
- **जूट** : इससे भी रस्सी बनती है
- **अधिप्राप्ति** : प्राप्ति होना
- **सुपुर्दगी** : किसी के अधिकार में सौपना
- **आदतिये** : व्यापारी
- **अनावृष्टि** : वर्षा कम होना, वर्षा न के बराबर होना
- **पुनर्बहाली** : फिर से नियुक्ति करना।
- **फर्टिलाइजर** : उर्वरक
- **कॉन्टैक्ट** : अनुबंध

2.12 अभ्यास-प्रश्न

1. भारत की अर्थव्यवस्था में कृषि की भूमिका को स्पष्ट कीजिए।
2. पंचवर्षीय योजनाओं ने भारतीय कृषि प्रणाली को सुधारने में किस तरह योगदान दिया। विवेचन कीजिए।
3. निम्न उत्पादित के क्या कारण हैं? व्याख्या कीजिए।
4. भारत में फसल प्रतिरूप से आप क्या समझते है? समीक्षात्मक विवेचन कीजिए।
5. नई कृषि विकास रणनीति और 1960 के पश्चात् भारतीय कृषि के आधुनिकीकरण की विवेचना कीजिए।
6. नयी कृषि विकास रणनीति की उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।
7. नई विकास रणनीति के पक्ष में क्या तर्क दिये जाते हैं?
8. नई कृषि विकास रणनीति की कमजोरियों की व्याख्या कीजिए।
9. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए-
   (i) कृषि के नए विकास क्षेत्र
   (ii) हरित क्रान्ति की भावी संभावनाएँ।
10. कृषि साख की आवश्यकता पर प्रकाश डालिए।
11. भारत में कृषि वित्त के विभिन्न स्रोत कौन-कौन से हैं? इसके सापेक्षिक महत्त्व की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
12. भारतीय कृषि विपणन के प्रमुख दोषों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए। किस सीमा तक सहकारी विपणन समितियों द्वारा इनका निराकरण किया जा सकता है?

13. संस्थागत वित्त किसे कहते हैं? कृषि विपणन प्रणाली की व्याख्या कीजिए।
14. कृषि विपणन से क्या आशय है? कृषि विपणन प्रणली की विशेषताएं बताइए।
15. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए–
    (i) व्यापारिक या वाणिज्यिक बैंक
    (ii) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक
    (iii) नाबार्ड
16. भारतीय कृषि के तत्कालीन मुद्दे की विस्तृत विवेचना कीजिए।
17. भारत में कृषि एवं किसानों की स्थिति का वर्णन कीजिए।
18. अनुबंध कृषि पर एक निबंध लिखिए।
19. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए–
    (i) राष्ट्रीय कृषि विकास योजना (ii) उर्वरक और सब्सिडी नीति (iii) ऋण और बीमा (iv) कृषि बीमा

2.13 संदर्भ ग्रंथ

- भारतीय अर्थव्यवस्था– रूद्र दत्त के.पी.एम. सुन्दरम, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., दिल्ली।
- विकास नियोजन एवं नीतियाँ– वी.सी. सिन्हा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
- भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन– ए.एन. अग्रवाल, विश्व प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

अध्याय-3

उद्योग एवं सेवा क्षेत्र

संरचना (Structure)

3.1 उद्देश्य
3.2 प्रस्तावना
3.3 पूर्व-सुधार काल में औद्योगिक क्षेत्र
3.4 उत्तर सुधार काल में औद्योगिक क्षेत्र
3.5 औद्योगिक विकास और योजनाएँ
3.6 औद्योगिक विकास का मूल्यांकन
3.7 सार्वजनिक क्षेत्र की समस्यायें एवं मुद्दे
3.8 आधारसंरचना और आर्थिक विकास
3.9 भारत के आर्थिक विकास में परिवहन प्रणाली
3.10 भारत में संचार प्रणाली
3.11 भारतीय वित्तीय प्रणाली
3.12 मुद्रा बाजार
3.13 मौद्रिक नीति
3.14 पूँजी बाजार एवं सेबी की कार्यविधि
3.15 भारतीय विदेशी व्यापार की संरचना
3.16 भारत के विदेशी व्यापार की दिशा
3.17 भुगतान शेष का अर्थ
3.18 विदेशी पूँजी की भूमिका
3.19 एफ. डी. आई एवं बहुराष्ट्रीय निगम
3.20 भारत में संघीय वित्त व्यवस्था
3.21 सरकारी वित्त: संघ एवं राज्य
2.22 प्रतिशत अर्थात् 380 करोड़ रुपये राज्यों को प्रतिवर्ष 1995-2000 की अवधि के दौरान देने की सिफारिश की।
3.23 सारांश
3.24 शब्दकोश
3.25 अभ्यास-प्रश्न
3.26 संदर्भ ग्रंथ

नोट

3.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी योग्य होंगे–

- पूर्व-सुधार काल में औद्योगिक क्षेत्र का विवेचन करने मेंब
- उत्तर सुधार काल में औद्योगिक क्षेत्र, औद्योगिक विकास और योजनाओं की व्याख्या करने में;
- औद्योगिक विकास का मूल्यांकन करने में;
- सार्वजनिक क्षेत्र की समस्याओं एवं मुद्दों की व्याख्या करने में;
- आधार संरचना और आर्थिक विकास को समझने में;
- भारत के आर्थिक विकास में परिवहन प्रणाली की व्याख्या करने में;
- भारत में संचार प्रणाली को जानने में;
- भारतीय वित्तीय प्रणाली को समझने में;
- मुद्रा बाजार तथा मौद्रिक नीति को जानने में;
- भारत में पूँजी बाजार एवं सेबी की कार्यविधि का विवेचन करने में;
- भारतीय विदेशी व्यापार की संरचना को समझने में;
- भारत के विदेशी व्यापार की दिशा को जानने में;
- भुगतान शेष क्या होता है इसकी व्याख्या करने में;
- विदेशी सहायता की भूमिका की व्याख्या करने में;
- एफ.डी.आई एवं बहुराष्ट्रीय निगम की विवेचन करने में;
- भारत में संघीय वित्त व्यवस्था की व्याख्या करने में;
- सरकारी वित्त: संघ एवं राज्य का विवेचन करने में;

3.2 प्रस्तावना

कृषि-क्षेत्र के बाद अब हम देश की अर्थव्यवस्था के औद्योगिक क्षेत्र सम्बन्धी बातों को ले सकते हैं। इस इकाई में हम ब्रिटिश काल एवं स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद आयोजन-काल के दौरान औद्योगिक विकास के कुछ पहलुओं का विवेचन करेंगे। सर्वप्रथम, इस सन्दर्भ में औद्योगीकरण की आवश्यकता अथवा देश के आर्थिक विकास में इसके योगदान या भूमिका की जानकारी उपयोगी होगी।

बीसवीं शताब्दी के आरंभ के साथ स्वदेशी आन्दोलन से औद्योगिक विकास को थोड़ा-बहुत बढ़ावा मिला। भारतीय पूंजी और उद्यमकर्त्ता, विशेष रूप से पारसी, गुजराती और मारवाड़ी उद्यमकर्ता औद्योगिक क्षेत्र में भाग लेने लगे। साबुन, दियासलाई, पैंसिल, चमड़ा, एल्युमिनियम आदि के अनेक छोटे-छोटे कारखाने देश में खुले। निःसंदेह इस बीच सबसे महत्त्वपूर्ण और दूरदर्शी उद्यम जमशेद जी टाटा का रहा। विभिन्न कठिनाइयों के बावजूद वह देश में इस्पात का सर्वप्रथम कारखाना 1907 में जमशेदपुर में खोलने में सफल हुए। इस प्रकार औद्योगिक क्षेत्र में कुछ विविधता तो नजर आने लगी। फिर भी उपभोग-वस्तुओं से सम्बन्धित हल्के उद्योग ही प्रमुख बने रहे। आधुनिक उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों का अधिकांश भाग वस्त्र और पटसन उद्योगों में ही लगा हुआ था। भारी और बुनियादी उद्योग के क्षेत्र में प्रगति न होने के बराबर थी। फलस्वरूप देश का औद्योगिक ढांचा कमज़ोर और खोखला बना रहा। इस प्रकार प्रथम विश्वयुद्ध के आरम्भ होने तक देश में मुख्य रूप

से हल्क उद्योगों का ही विकास हुआ और प्रगति बहुत धीमी व थोड़ी थी। सरकार की भारत-विरोधी आर्थिक व औद्योगिक नीति, देश में पूंजी, तकनीक श्रमिकों एवं कुशल व्यवस्थापकों की कमी आदि कारक इसके लिए जिम्मेदार थे।

नोट

इस समय विश्व के प्राय: सभी देशों में सार्वजनिक क्षेत्र एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। विशुद्ध समाजवादी देशों में तो उत्पादन के सभी साधनों पर पूर्णत: सार्वजनिक क्षेत्र का ही बोलबाला होता है, क्योंकि वहां निजी क्षेत्र लगभग होता ही नहीं है। पूंजीवादी देशों में भी, जहां उत्पादन-साधनों के मुख्य अंश पर निजी क्षेत्र का नियंत्रण रहता है, सार्वजनिक क्षेत्र का बहुत महत्त्व हो गया है, हालांकि सभी बातों में वह बाजार के तंत्रविधान के अन्तर्गत ही बना रहता है। विकासशील देशों के आर्थिक विकास में सार्वजनिक क्षेत्र को प्रधान स्थान प्राप्त है। जिन कारणों ने विकासशील देशों में सार्वजनिक क्षेत्र को बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका सौंप दी है, उनका विवेचन यहां किया जा रहा है और इस सम्बन्ध में प्रधानतया भारत में प्राप्त अनुभव को आधार बनाया गया है। इसके पश्चात् इस देश में हुए सार्वजनिक क्षेत्र के बहुविध विकास-विस्तार पर प्रकाश डाला गया है।

योजना आयोग ने जनवरी 2006 में ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (2007-2012) का दिशानिर्देश पत्र प्रतिपादित किया।

दिशानिर्देश पत्र का शीर्षक 'तीव्र और अधिक समावेशी विकास की ओर' रखा गया है।

किसी देश की समृद्धि प्रत्यक्षत: कृषि तथा उद्योग के विकास पर निर्भर करती है। किन्तु कृषि-उत्पादन के लिए संचालन-शक्ति (Power), उधार एवं परिवहन सुविधाओं आदि की आवश्यकता होती है। औद्योगिक उत्पादन के लिए केवल मशीनरी एवं संयंत्र ही नहीं चाहिए बल्कि कुशल श्रमशक्ति, प्रबन्ध, ऊर्जा, बैंकिंग एवं बीमा सुविधाओं की भी जरूरत होती है। इसके अतिरिक्त विपणन सुविधाओं, परिवहन सेवाओं की भी आवश्यकता होती है जिनमें रेलवे, सड़कें, जहाजरानी, संचार सुविधाएं आदि शामिल की जाती है। इन सभी सुविधाओं एवं सेवाओं को सामूहिक रूप में आधारसंरचना (Infrastructure) की संज्ञा दी जाती है और किसी देश में कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन को बढ़ाने के लिए इनका विस्तार एक अनिवार्य शर्त है।

भारतीय वित्तीय प्रणाली बचत-विनियोग प्रक्रिया को प्रोन्नत कर भारत के आर्थिक विकास में पूँजी-निर्माण के रूप में योगदान देती है। इस कारण कई बार वित्तीय प्रणाली को वित्तीय बाजार (Financial market) कहा जाता है। वित्तीय प्रणाली का उद्देश्य प्रभावी रूप में बचत को गतिमान करना है और फिर इसका आवंटन कुशल रूप में अन्तिम प्रयोक्ताओं अथवा विनियोक्ताओं (Investors) को करना है।

बचत आधिक्य वाले क्षेत्र से ऋण चाहने वाले क्षेत्रों को सफलतापूर्वक फंड हस्तांतरण की प्रणाली को वित्तीय प्रणाली कहते हैं। इसने भारतीय मुद्रा बाजार को दो भागों में बाँटा है—मुद्रा बाजार एवं पूँजी बाजार। मुद्रा बाजार में अल्पकालीन स्वभाव की मौद्रिक सम्पत्तियों या प्रतिभूतियों जो सामान्यतया एक वर्ष से कम अवधि की होती हैं, को शामिल किया जाता है जबकि पूँजी बाजार मध्यम तथा दीर्घकालीन फंड का बाजार है जहाँ एक वर्ष से अधिक की अवधि के लिए लेन-देन की जाती है। इस इकाई के अन्तर्गत हम केवल पूँजी बाजार का अध्ययन करेंगे।

1947 के पश्चात भारत के व्यापार की रचना में हुए परिवर्तनों को देखने के लिए हमें भारत के आयतों तथा निर्यातों के बदलते प्रतिरूप को देखना है तथा स्वतंत्रता के पूर्व भारत का भुगतान शेष सदैव उसके पक्ष में ही रहता था लेकिन 1948 में पहली बार भारत का भुगतान शेष 100 करोड़

नोट

प्रतिकूल था। इसका मुख्य कारण भारी-भारी पूँजीगत माल का आयत था। 1949 में भारतीय रुपये का अवमूल्यन करने के पश्चात् स्थिति में सुधार हुआ। भारत के निर्यात बढ़े व आयात कम हुए। इसका कारण कोरिया युद्ध के कारण भारतीय माल की विदेशों में माँग बढ़ने के कारण निर्यात में वृद्धि हुए जिसके कारण 1950-51 में भारत का भुगतान शेष 38.9 करोड़ रुपये उसके पक्ष में था।

भारत के आर्थिक विकास में विदेशी पूंजी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इसके दो अंग हैं—बड़ा अंग विदेशी सहायता का है जो सामान्यत: ऋण के रूप में रियायती शर्तों पर देश को मिली है, जैसे ब्याज की नीची दर, ऋण अदा करने की लम्बी अवधि, आदि। विदेशी सहायता का एक छोटा भाग अनुदान के रूप में मिला है जिसके सम्बन्ध में न तो मूलधन की अदायगी और न ही ब्याज चुकाने की समस्या उठती है। विदेशी पूंजी का दूसरा अंग, निजी विदेशी निवेश के रूप में है, जैसे इक्विटी या शेयर पूंजी जिसका उद्देश्य लाभ कमाना है। इस इकाई में हम विदेशी पूंजी के इन दोनों अंगों तथा इनसे सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन करेंगे।

किसी देश की सरकार के दो रूप हो सकते हैं, एकात्मक (Unitary) या संघीय (Federal)। इसी आधार पर वित्तीय प्रणाली को भी दो वर्गों में बांटा जाता है: एकात्मक वित्त प्रणाली (Unitary Finance System) और संघीय वित्त प्रणाली (Federal Finance System)। एकात्मक वित्त प्रणाली में केवल केन्द्र सरकार ही देश में सभी मदों पर व्यय करती है एवं सभी स्रोतों से राजस्व भी केन्द्र सरकार के खजाने (Exchequer) में हो जाता है। दूसरी ओर, संघीय वित्त प्रणाली में राजस्व एवं व्यय की सभी मदें केन्द्र, राज्य एवं स्थानीय सरकारों में विभाजित होती हैं। भारत की वित्तीय प्रणाली भी संघीय है। भारत के संविधान में भी संघ और राज्यों के आय के स्रोत एवं व्यय की मदें अलग-अलग दिए गए हैं। केन्द्र द्वारा लगाए जाने वाले कर संघ सूची में और राज्यों द्वारा लगाए जाने वाले कर राज्य सूची में दिए गए हैं। समवर्ती (Concurrent) सूची में कोई कर का प्रावधान नहीं है। समवर्ती सूची से संबंधित मदों के बारे में संसद तथा संबंधित राज्य की न्यायपालिका मिलकर कानून बना सकती है।

संघीय वित्त प्रणाली में सबसे कठिन समस्या केन्द्र तथा राज्य सरकारों के बीच वित्तीय संबंधों की है। भारत के संविधान में केन्द्र तथा राज्य सरकारों के कार्यों एवं संसाधनों को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया गया है। किन्तु एक कल्याणकारी राज्य में केन्द्र एवं राज्य सरकारें दोनों ही विकासात्मक कार्य करते हैं। वास्तव में वित्तीय साधनों का आवंटन इस तरह होना चाहिए जिससे वे अपने-अाप दायित्वों को उचित ढंग से पूरा कर सकें। परन्तु एक समस्या यह भी है कि सरकारों के कार्य एवं उत्तरदायित्व निरंतर बदलते रहते हैं, इसलिए इनके बीच कार्यों का स्पष्ट विभाजन नहीं हो सकता है।

भारतीय संविधान में संघीय और राज्यीय सरकारों के वित्तीय अधिकारों की स्पष्ट बाँट की गयी है। इस वर्गीकरण के लिए जिस सिद्धानत को अपनाया गया उसका आधार यह था कि वे कर, जिनका अन्त: राज्यीय आधार है, संघीय सरकार द्वारा लगाए जाते हैं, जबकि स्थानीय आधार वाले राज्यीय सरकारों द्वारा लगाए जाते हैं। अवशिष्ट अधिकार (Residuary powers) संघीय सरकार को प्राप्त हैं।

3.3 पूर्व-सुधार काल में औद्योगिक क्षेत्र

भारत जैसे विकासशील देश के लिए औद्योगीकरण की आवश्यकता बहुत अधिक है और स्पष्ट भी। यह द्रुतगति से देश के आर्थिक विकास के लिए परमावश्यक है। वास्तव में विभिन्न प्रकार के उद्योगों के अभाव में देश के आर्थिक विकास का कार्य अधूरा ही रहेगा। उद्योगों के समुचित

नोट

विकास के बिना लोगों की आय में अर्थपूर्ण एवं नियमित रूप से वृद्धि लाना सम्भव नहीं है। औद्योकीकरण के फलस्वरूप अनेक प्रकार के महत्त्वपूर्ण लाभ प्राप्त होते हैं। इनके आधार पर देश के लिए उद्योगों की आवश्यकता या महत्त्व की कल्पना आसानी से की जा सकती है, और साथ ही हम इस बात को भली प्रकार समझ सकेंगे कि वर्तमान समय में इस ओर क्यों अधिकाधिक ध्यान दिया जा रहा है। औद्योगीकरण के विभिन्न आर्थिक और आर्थिकेतर लाभों को, संक्षेप में, इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है–

1. **सुदृढ़ एवं संतुलित अर्थव्यवस्था की स्थापना**–औद्योगीकरण देश की अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाने, उसके स्तर को ऊपर उठाने तथा उसमें सन्तुलन लाने में बहुत सहायक होगा। सच तो यह है कि इसके बिना यह कार्य भली प्रकार संभव ही नहीं है। भारत की अर्थव्यवस्था बहुत पिछड़ी हुई है और संतुलित अवस्था में है। अभी कृषि ही यहां के लोगों का मुख्य धन्धा है। इस प्रकार से इसी पर बहुत बड़ी सीमा तक देश की सारी अर्थव्यवस्था टिकी हुई है, और यह तो सभी जानते हैं कि कृषि कितना अनिश्चित व्यवसाय है, विशेषत: भारत में जहां खेती मुख्यत: वर्षा के सहारे की जाती है। आधार अनिश्चित होने से देश की आर्थिक स्थिति सदैव डांवाडोल रहती है। उत्पादन-मात्रा तथा व्यापार-व्यवसाय में और फलस्वरूप लोगों के जीवन-स्तर में भारी उतार-चढ़ाव आता रहता है। इसके अतिरिक्त असंतुलित अर्थव्यवस्था से और भी मुसीबतें पैदा होती हैं। उद्योग-धन्धों के अपेक्षाकृत अविकसित अवस्था में होने के कारण बढ़ती हुई जनसंख्या को ठीक प्रकार से काम मिल पाता। बहुत-से लोग काम न मिलने के कारण बेकार रहते हैं या ऐसे कार्यों में लग जाते हैं जहां उनकी शक्ति या क्षमता के हिसाब से उत्पादित या आय कम होती है। दोनों दशाओं में परिणाम यह होता है कि देश में गरीबी बढ़ती है। बढ़ती हुई गरीबी के प्रभाव से जनसंख्या में प्राय: और तेजी से वृद्धि होने लगती है।

   इस प्रकार यह कुचक्र निरन्तर चलता रहता है। यदि हम आगे बढ़ना चाहते हैं, तो इस कुचक्र को तोड़ना होगा। इसके लिए औद्योगिक विकास के सहारे विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों के बीच सन्तुलन स्थापित हो सकता है तथा अर्थव्यवस्था को ऊंचे स्तर पर ले जाया जा सकता है। तभी देश में बेकारी तथा गरीबी की समस्याओं को स्थायी रूप से हल किया जा सकेगा।

2. **कृषि-विकास में सहायता**–हमारी कृषि बहुत पिछड़ी हुई है। इसका एक मुख्य कारण हमारी कृषि-भूमि का निरंतर विभाजन और उप-विभाजन है। जोतों के उत्तरोत्तर छोटे होते चले जाने का कारण भूमि पर जनसंख्या के अत्यधिक बोझ का पड़ना है। तेजी से बढ़ती हुई देश की जनसंख्या, अन्य कोई धन्धा अथवा व्यवसाय नपा सकने के कारण, खेती में ही लगती जाती है। इसके फुलस्वरूप भूमि पर भार बढ़ता जाता है जिसके प्रभाव से कृषि-जोत उत्तरोत्तर छोटी होती चली जा रही है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जोतों के इस निरन्तर विभाजन और उप-विभाजन को रोके बिना कृषि में उन्नति लाना बहुत-कुछ असंभव है।

   इसके लिए यह आवश्यक है कि देश में तरह-तरह के उद्योग स्थापित किए जाएं। उद्योग-धन्धों के विकास से कृषि-भूमि पर जनसंख्या का असह्य भार कम होने लगेगा। इस प्रकार तीव्र गति से कृषि-उन्नति संभव हो सकेगी। इसके अतिरिक्त, औद्योगिक विकास

के फलस्वरूप कृषि को रासायनिक खाद, बिजली, उन्नत औजारों आदि की महत्त्वपूर्ण सुविधाएं भी भली प्रकार उपलब्ध होने लगेंगी। कृषि-विकास के लिए इस प्रकार की सुविधाएं कम आवश्यक नहीं हैं। अतः कृषि-विकास तथा उसको आधुनिक रूप देने की दृष्टि से भी औद्योगीकरण का योगदान विशेष महत्त्व रखता है।

3. **उत्पादिता में वृद्धि**—आर्थिक विकास के लिए प्रति व्यक्ति उत्पादिता में वृद्धि लाना आवश्यक है। यह कार्य उद्योग-धन्धों के सहारे अधिक अच्छी तरह से पूरा किया जा सकता है। कारण, उद्योग-क्षेत्रों में मानवीय नियंत्रण का अपेक्षाकृत अधिक हाथ होता है और इस क्षेत्र में विशिष्टीकरण, मशीनों का इस्तेमाल या बड़े पैमाने की उत्पादन-प्रणाली का अधिक सहारा लिया जा सकता है। कृषि के सम्बन्ध में यह सब इतना संभव नहीं है। और फिर, एक सीमा के बाद कृषि-उत्पादिता उद्योगों के विकास पर निर्भर करती है। जैसाकि ऊपर कहा गया है, कृषि-उत्पादिता में वृद्धि लाने के लिए रासायनिक खाद, बिजली, उन्नत किस्म के कृषि-उपकरण आदि की आवश्यकता पड़ती है। ये साधन औद्योगिक विकास के बिना देश के भीतर उपलब्ध नहीं हो सकते।

4. **अधिक रोजगार एवं श्रेष्ठतर व्यावसायिक ढांचा**—औद्योगिक उन्नति से देश में श्रम की मांग बढ़ेगी। इससे बेकारी दूर होगी; और लोगों की आय में वृद्धि होगी। उद्योग-धन्धों में लोगों को कृषि की अपेक्षा अधिक काम मिल सकता है। ज्यों-ज्यों उद्योग धन्धों का विकास होगा, अधिकाधिक लोगों को काम दिलाना संभव हो जाएगा और खेती तथा अन्य अपेक्षाकृत कम लाभकारी कार्यों में लगे हुए फालतू लोग उद्योग, व्यापार, परिवहन, व्यवसाय, सेवा-क्षेत्र आदि की ओर खिंच आयेंगे। इस प्रकार औद्योगीकरण से यहीं नहीं कि रोजगार के अवसर बढ़ेंगे, बल्कि देश का व्यावसायिक ढांचा भी ठीक प्रकार का हो सकेगा। ऐसा होने से देश के साधनों का समुचित ढंग से उपयोग संभव बन जाएगा और फलस्वरूप राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी।

5. **जीवन-स्तर में सुधार**—आर्थिक विकास का उद्देश्य लोगों के जीवन-स्तर को ऊपर उठाकर उनके कल्याण में वृद्धि लाना है। इसके लिए न केवल आय में वृद्धि की आवश्यकता होती है; बल्कि उपभोग में विविधता की आवश्यकता होती है। उद्योग-धन्धों का विकास इस दृष्टि से भी बहुत आवश्यक ठहरता है। इससे लोगों की आय में वृद्धि होगी और साथ ही देश में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन संभव हो सकेगा। फलस्वरूप लोगों का जीवन-स्तर ऊपर उठ सकेगा। यहां यह कहा जा सकता है कि कृषि-प्रधान देश अपना निर्यात बढ़ाकर दूसरे देशों से विभिन्न प्रकार की वस्तुएं और सेवाएं आयात कर सकता है। लेकिन यहां महत्त्वपूर्ण बात निर्यात-वृद्धि की है। भारत जैसे अल्पविकसित देशों के निर्यात में पर्याप्त लोचशक्ति नहीं है। अनेक सुपरिचित कारणों से खेती के सहारे यहां के निर्यात इच्छित गति से नहीं बढ़ाए जा सकते।

6. **बचत और निवेश में वृद्धि**—औद्योगीकरण से एक अन्य महत्त्वपूर्ण लाभ यह प्राप्त होगा कि इसमें पूंजी-निर्माण में वृद्धि होगी जो कि आर्थिक विकास के लिए एक आवश्यक शर्त है। पूंजी-निर्माण में आवश्यक वृद्धि तभी संभव हो सकती है, जबकि बचत अधिक मात्रा में हो और उत्पादन में लाभप्रद ढंग से उसे लगाने के लिए क्षेत्र और अवसर अधिक हों। औद्योगीकरण इस दृष्टि से भी बहुत लाभकारी है। इससे आय बढ़ती है और आय-वृद्धि

के साथ-साथ सीमान्त बचत-प्रवृत्ति (marginal propensity to save) भी बढ़ती है। इसके अतिरिक्त, उद्योग-धन्धों के विकास में पूंजी लगाने के लिए क्षेत्र और सुविधाएं भी बढ़ती हैं। इस प्रकार औद्योगीकरण पूंजी-निर्माण में भी सहायक है।

नोट

7. **देश की सुरक्षा**–साथ ही देश की सुरक्षा के लिए भी औद्योगीकरण की विशेष आवश्यकता है। वर्तमान युग में युद्ध के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के साज-सामान और चीजों की आवश्यकता पड़ती है। यह सब सामग्रियां विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धों के विकास द्वारा ही प्राप्त हो सकती हैं। इन आवश्यक पदार्थों के लिए विदेशों पर निर्भर रहना एक प्रकार से अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना होगा। युद्ध छिड़ जाने पर बाहरी देशों से माल मंगाना कठिन हो जाता है। यही नहीं बल्कि युद्धकाल अथवा राजनीतिक संकट के समय आवश्यक पूंजीगत साज-सामान के लिए आयात पर निर्भरता निवेश-कार्यक्रम में बाधा बनकर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को गतिहीन कर सकती है और तरह-तरह की कठिनाइयां पैदा कर सकती है।
8. **व्यक्ति और समाज का बहुमुखी विकास**–औद्योगीकरण व्यक्ति और समाज के संपूर्ण एवं बहुमुखी विकास के लिए भी आवश्यक है। इससे मनुष्य में अनेक आवश्यक गुणों के सृजन में महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है जैसे कि नियमितता, समय-निष्ठता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, आविष्कार कौशल, तकनीकी प्रगति के लिए तत्परता आदि। इन अनेक गुणों के विकास से मनुष्य विभिन्न दिशाओं में आगे बढ़ने के लिए समर्थ हो जाता है। डेनमार्क, आस्ट्रेलिया आदि देश काफी बड़ी सीमा तक कृषि-प्रधान देश हैं, फिर भी यहां के लोगों में ये विशेषताएं पायी जाती हैं। लेकिन इससे इस बात का खण्डन नहीं होता। कारण, इन देशों में औद्योगिक क्षेत्र काफी बड़ा एवं विकसित दशा में है।

   औद्योगीकरण से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के ढांचे में व्यापक परिवर्तन आता है। इसके प्रभाव से उत्पादन-प्रक्रिया में परिवर्तनों का तांता लगा रहता है। फिर, इन परिवर्तनों की सफलता के लिए परिवहन, चालन शक्ति, बैंकिंग, प्रबन्ध व व्यवस्था आदि अनेक क्षेत्रों में विकास लाया जाना आवश्यक बन जाता है। साथ ही औद्योगीकरण से सामाजिक मूल्यों तथा तौर-तरीकों में आवश्यक परिवर्तन लाने, शिक्षा व स्वास्थ्य की सुविधाओं की व्यवस्था तथा शहरीकरण की दिशा में विशेष सहायता मिलती है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज के बहुमुखी विकास में औद्योगीकरण का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण ठहरता है।

   इन सब बातों से स्पष्ट है कि देश के विकास अथवा सुख-समृद्धि के लिए औद्योगीकरण कितना लाभप्रद और आवश्यक है। वैसे तो यह सदा ही वांछनीय है, किन्तु हमारी आज की परिस्थितियों में जबकि हमारी आय का स्तर बहुत नीचा है, देश में बेकारी फैली हुई है, कृषि पर असह्य बोझ लदा हुआ है और जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है, यह और भी आवश्यक बन गया है। इससे देश की ठीक प्रकार से सुरक्षा हो सकेगी और अर्थव्यवस्था को ऊंचे स्तर पर ले जाकर उसमें उचित सन्तुलन लाना संभव हो सकेगा। वास्तव में हमारे जैसे विकासशील देश के लिए आर्थिक विकास और औद्योगीकरण बहुत बड़ी सीमा तक एक ही चीज ठहरते हैं।

परम्परागत उद्योगों का पतन

भारत आज एक बहुत पिछड़ा औद्योगिक क्षेत्र है, लेकिन औद्योगिक दृष्टि से इसका अतीत बहुत समृद्ध और गौरवपूर्ण था। आधुनिक औद्योगिक क्रान्ति के उदय होने से काफी पहले भारत औद्योगिक क्षेत्र में बहुत आगे था।

यह अपने उद्योगों और कारीगरों की कला व कौशल के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध था। वहां अनेक प्रकार के उद्योग, उस समय की परिस्थितियों की दृष्टि से, बहुत विकसित और उन्नत अवस्था में थे। उनकी ख्याति विश्व-भर में फैली हुई थी। कताई और बुनाई यहां के राष्ट्रीय उद्योग थे जो देश भर में फैले हुए थे। रंगाई, छपाई, सोने-चांदी के धागे व वस्त्र-निर्माण के कार्य की कताई-बुनाई उद्योग से सम्बद्ध थे। वस्त्र उद्योग के अलावा, भारत भवन-निर्माण, ईंट व चूना बनाने, पत्थर व लकड़ी की नक्काशी, चीनी, नमक व नील के उत्पादन, कागज बनाने, सोने-चांदी व जवाहरात के कार्य, तांबा, पीतल, कांसा आदि से सम्बन्धित विभिन्न उद्योगों के लिए भी विश्व-विख्यात था। लोहे की गलाई और ढलाई के काम में भी भारतउस समय काफी आगे बढ़ा हुआ था जिसका स्पष्ट प्रमाण दिल्ली के निकट स्थिति प्रसिद्ध लौह-स्तम्भ में मिलता है। देश को समुद्री जहाज बनाने की कला की भी अच्छी जानकारी थी। बंगाल में बने ज़हाज लन्दन तक माल ले जाया करते थे।

इन उद्योगों से केवल स्थानीय आवश्यकताओं की ही पूर्ति नहीं होती, अपितु इन उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुएं भारी मात्रा में विदेशों को भी निर्यात की जाती थीं। दक्षिण-पूर्वी एशिया, ईरान, अरब-देश, पूर्वी व पश्चिमी अफ्रीका, यूरोप और जापान भारतीय वस्तुओं के मुख्य ग्राहक थे। भारत प्रमुख रूप से सूती माल, रेशमी तथा ऊनी कपड़े; चीनी, नील, काली मिर्च, दाल चीनी, जरी व कला-वस्तुएं निर्यात करता था। भुगतान-शेष भारत के पक्ष में रहता था जिसका निपटारा सोने-चांदी के रूप में किया जाता था। इस प्रकार 17वीं और 18वीं शताब्दी तक भारत औद्योगिक दृष्टि से बहुत बढ़ा-चढ़ा था और इसके निर्यात-व्यापार में औद्योगिक वस्तुओं की प्रधानता थी। अनेक इतिहासकारों ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में भारत में औद्योगिक विकास के स्तर एवं यहां के लोगों की औद्योगिक दक्षता एवं प्राविधिक कुशलता का मोटा अनुमान टी. एच. हालैण्ड की अध्यक्षता में नियुक्त भारतीय औद्योगिक आयोग के इन शब्दों से लगाया जा सकता है—"जिस समय पश्चिमी यूरोप में, जो आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था का जन्म-स्थान है, असभ्य जातियां निवास करती थीं, उस समय भारत अपने शासकों के वैभव एवं अपने शिल्पकारों की उच्च कलापूर्ण निपुणता के लिए विख्यात था। यही नहीं बल्कि काफी समय के बाद भी जब पश्चिम से साहसी व्यापारी भारत में पहली बार आए, तब भी देश का औद्योगिक विकास, किसी भी रूप में, यूरोपीय राष्ट्रों की तुलना मेंघटिया नहीं था।"

अठारहवीं शताब्दी के अन्त से देश के पुराने अथवा परम्परागत उद्योग, जो प्रधानतः हस्तशिल्प अथवा दस्तकारी उद्योग के रूप में थे, एक-एक करके नष्ट होने लगे। उद्योगों के उजड़ने की प्रक्रिया वस्त्र उद्योग से शुरू हुई और धीरे-धीरे अन्य अनेक उद्योग भी इसकी लपेट में आ गए। इस प्रक्रिया के जोर पकड़ने से भारत औद्योगिक क्षेत्र में पिछड़ने लगा और अन्ततः औद्योगिक देश से एक कृषि-प्रधान देश बन गया। देश में उद्योगों के पतन में अनेक कारणों का हाथ था। इनमें मुख्य निम्नलिखित थे—

1. **देशी राजाओं और नवाबों का अन्त**—देश के राजे-महाराजे और नवाब आदि उद्योगों के बड़े हितैषी और संरक्षक थे। ये विभिन्न प्रकार से उद्योगों को बढ़ावा देते थे। अनेक कुशल कारीगरों को राज-दरबारों में आश्रय मिलता था। वे निश्चिन्त होकर अपनी कला के विकास में लगे रहते थे। इसके अतिरिक्त, देश के राजे-महाराजे स्वयं अनेक वस्तुओं की मांग के प्रमुख स्रोत थे। दरबारों की साज-सज्जा के लिए तरह-तरह की वस्तुओं की निरन्तर बड़ी मांग बनी रहती थी। ब्रिटिश शासन की स्थापना के परिणामस्वरूप देशी

नोट

राज-दरबार समाप्त होने लगे। इससे एक तो उद्योगों को जो राज-दरबारों से संरक्षण व सहारा मिलता था, वह छिन गया। और दूसरे, इस दिशा से अनेक औद्योगिक वस्तुओं की मांग लगभग खत्म हो गई। इस प्रकार देश के उद्योगों को गहरी ठेस लगी और उनका पतन होने लगा।

2. **मांग की कमी**—पाश्चात्य सभ्यता और शिक्षा के प्रभाव से अनेक विदेशी औद्योगिक वस्तुओं की मांग देश में तेजी से बढ़ने लगी। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त एवं धनी वर्ग के लोग देशी वस्तुओं की बजाय विदेशी वस्तुएं पसन्द करने लगे। विदेशी वस्तुओं का उपयोग प्रतिष्ठा, गौरव व बड़प्पन का चिह्न समझा जाने लगा। इस प्रकार भारतीय वस्तुओं की मांगघटने लगी और फलस्वरूप उनसे सम्बन्धित उद्योगों को गहरी चोट लगी और वे नष्ट होने लगे।
3. **विदेशी व्यापारियों द्वारा कारीगरों का शोषण**—देशी शासकों की शक्ति क्षीण होने पर ब्रिटिश व्यापारी एवं भारत में स्थिति उनके कमीशन एजेण्ट देश के कारीगरों पर इस बात के लिए अवैध दबाव डालने लगे कि वे बहुत नीची कीमत पर उन्हें प्राथमिकता के आधार पर माल दें। प्रायः कारीगर माल देने के सम्बन्ध में ऐसे ठेके करने पर विवश किए जाते थे जिनके लिए वे सामान्य परिस्थितियों में कभी भी तैयार नहीं होते। ऐसे ठेकों का निभाना बहुत कठिन होता था। ठेका पूरा न हो सकने की दशा में कारीगरों को भारी दण्ड भुगतना पड़ता था और उनके साथ तरह-तरह के दुर्व्यवहार किए जाते थे। इस शोषण और दुर्व्यवहार के कारण अनेक कारीगर अपने धन्धे मोड़कर दूर-दूर चले गए। ऐसी स्थिति में उद्योगों को क्षति पहुंचना स्वाभावित था।
4. **मशीन से बनी वस्तुओं से प्रतियोगिता**—इस बीच औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप यूरोप में बड़े पैमाने पर मशीनों द्वारा तरह-तरह की सस्ती वस्तुएं बनने लगीं। देश की परम्परागत उद्योगों के लिए, जो पुराने तौर-तरीकों का व्यवहार करते थे, इस प्रतियोगिता में ठहरना कठिन बनता गया क्योंकि विदेशी उद्योग वैज्ञानिक मशीन, बड़े पैमाने की उत्पादन-प्रणाली एवं अन्य साधनों से परिपूर्ण थे। स्वेज नहर के निर्माण तथा देश में परिवहन व संचार साधनों के विस्तार से यह प्रतियोगिता और तेज हो गयी। इस प्रकार भारतीय उद्योगों की मुसीबतें और बढ़ीं और वे तेजी से खत्म होते गए।
5. **विदेशी सरकार की दूषित औद्योगिक व व्यापारिक नीति**—देश में उद्योगों के पतन का सर्व प्रमुख कारण विदेशी संरकार की भारत-विरोधी औद्योगिक व व्यापारिक नीति थी। पहले ईष्ट इण्डिया कंपनी और बाद में ब्रिटिश सरकार ने जो औद्योगिक व व्यापारिक नीति देश के लिए अपनायी, वह स्पष्टतः बहुत अनुचित, अहितकर और देश के उद्योगों के लिए निश्चित रूप सेघातक थी। आरम्भ में जब इंग्लैंड में औद्योगिक क्रान्ति ने जोर नहीं पकड़ा था, तब इंग्लैंड में भारतीय माल पर भारी शुल्क लगाने की व्यवस्था की गई और कुछ विशेष वस्तुओं के आयात और प्रयोग पर कड़ा प्रतिबन्ध लगाया गया। आगे चलकर औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव से इंग्लैंड के उद्योग जमकर चलने लगे और उनकी प्रतियोगिता में ठहरने की शक्ति बढ़ गयी। तब वहीदेश जो कुछ समय पहले तक संरक्षण-नीति का भारी सहारा ले रहा था, मुक्त अथवा निर्बाध व्यापार (free trade) की दुहाई देने लगा। निर्बाध, व्यापार की नयी नीति ब्रिटिश हितों के अनुकूल थी। इसके सहारे ब्रिटिश उद्योगों और जनसंख्या के लिए कच्चा माल तथा बनाज सस्ते भाव पर जुटाए जा सकते थे और

निर्मित माल की खपत के लिए विस्तृत बाजार उपलब्ध हो सकते थे। अतः इंगलैंड के लिए इस नीति का अपनाना आवश्यक था। ब्रिटिश स्वार्थों की सिद्धि के लिए यह नीति भारत पर लाद दी गयी, यद्यपि भारत के हितों की दृष्टि से यह नीति बिलकुल विरोधी थी। यदि भारत स्वतन्त्र होता, तो उपयुक्त नीति अपनाकर बदला लेता। लेकिन परतन्त्र होने के कारण ऐसा संभव न था। फलस्वरूप भारतीय परम्परागत उद्योगों के पतन की प्रक्रिया तीव्रतर होती रही।

इन अनेक कारणों से देश के विश्व-प्रसिद्ध उद्योग एक-एक करके नष्ट होने लगे और अन्ततः भारत औद्योगिक देश से मुख्यतः एक खेतिहर देश बन गया। इस औद्योगिक पतन से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई और इसके विभिन्न अंगों के बीच जो तालमेल था, वह जाता रहा। इससे देश में बेकारी, गरीबी, भुखमरी आदि गंभीर रोगों को तेजी से बढ़ने का अवसर मिला।

3.4 उत्तर सुधार काल में औद्योगिक क्षेत्र

प्रथम विश्वयुद्ध के समय तक—काफी लंबी अवधि की औद्योगिक निष्क्रियता के बाद उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से देश में आधुनिक उद्योगों की शुरूआत हुई। 1850-60 के दशक में वस्त्र और पटसन उद्योगों की स्थापना की गयी। इसी बीच रेल-निर्माण का कार्य शुरू हुआ और कोयला-खनन उद्योग भी स्थापित किया गया। बागान-उद्योग भी बढ़े और रेल से सम्बन्धित मरम्मत व सुधार-कार्य के लिए कुछ छोटे-मोटे इन्जीनियरी कारखाने भी खोले गए। रेल-निर्माण के कार्य को छोड़कर, सरकार ने औद्योगिक क्षेत्र में कोई दिलचस्पी नहीं ली। यहां तक कि कुछ सामान्य सुविधाओं की व्यवस्था के लिए भी सरकार ने कोई कदम नहीं उठाया। देश में आधुनिक उद्योगों की स्थापना का कार्य मुख्य रूप से निजी ब्रिटिश पूंजी और उद्यम के सहारे किया गया। इसके लिए व्यवसाय-संगठन की एक विशेष प्रणाली को अपनाया गया जिसे मैनेजिंग एजेन्सी का नाम दिया गया। यह प्रणाली स्वतंत्रता-प्राप्ति के कुछ समय बाद तक देश में बनी रही। मैनेजिंग एजेंटों ने तकनीकी जानकारी, वित्त और प्रबन्ध आदि की आवश्यक सेवाएं उपलब्ध करके आधुनिक उद्योगों की स्थापना और संचालन में महत्त्वपूर्ण हाथ बंटाया। उस समय की परिस्थितियों के सन्दर्भ में जबकि सरकार उपेक्षा की नीति का पालन कर रही थी और देश में वित्त एवं तकनीकी जानकारी सम्बन्धी संस्थाओं का बड़ा अभाव था, मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण बन गया था।

देश में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में आधुनिक उद्योगों की इस प्रकार की शुरूआत तो हुई, लेकिन विदेशी पूंजी और उद्यम ने ऐसे उद्योगों को चुना जिनसे कम-से-कम समय में अधिक-से-अधिक लाभ कमाया जा सकता था अथवा जो विदेश व्यापार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखा गया कि उद्योग ऐसे न हों जिनसे ब्रिटिश उद्योगों के लिए प्रतियोगिता की संभावना बने। फलस्वरूप देश में मुख्य रूप से हल्के किस्म के एवं उपभोग वस्तुओं से सम्बन्धित इने-गिने उद्योग ही स्थापित हो सके। यही नहीं बल्कि औद्योगिक विकास की गति बहुत ही धीमी और अनिश्चित थी। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक देश आधुनिक उद्योगों के क्षेत्र में कोई विशेष प्रगति नहीं कर सका। उस समय तक भारत मुख्यतः कच्चे माल का निर्यात और तैयार माल का आयात करने वाला देश बना रहा।

प्रथम विश्वयुद्ध के काल में देश में उद्योगों को बढ़ाने के लिए कुछ अवसर मिला। एक तो युद्ध-काल में औद्योगिक वस्तुओं का आयात बहुत कम हो गया। शत्रु-देशों से आयात तो बन्द हुआ

नोट

ही, मित्र-देश भी युद्ध सम्बन्धी सामान तैयार करने में लगे होने के कारण कम माल भेज सकने की स्थिति में थे। जहाज भी कम मिलते थे और माल के भेजने में खतरा भी बहुत बढ़ गया था। इस प्रकार युद्ध-काल में आयात में भारी कमी हुई और फलस्वरूप देश के उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचकर पनपने का अच्छा अवसर मिला। इसके अतिरिक्त, युद्ध-काल में लोहा व इस्पात, सूती वस्त्र, पटसन के पदार्थ, ऊनी व चमड़े के माल, साबुन आदि अनेक औद्योगिक वस्तुओं की मांग में भारी वृद्धि हुई। बाजार की इस तेजी से देश के उद्योगों को विशेष बढ़ावा मिला। और फिर, युद्ध काल के दौरान उद्योगों के प्रति सरकार के रुख व नीति में कुछ अनुकूल परिवर्तन आया। औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा भारत युद्ध की तैयारी में अपना पूरा योगदान देने में असमर्थ था। उन दिनों विदेशी माल की पर्याप्त मात्रा में उपलब्धि संभव न थी क्योंकि आयात में भारी कटौती हो चुकी थी। औद्योगिक पिछड़ेपन के कारण भारत इस कमी को पूरा नहीं कर सकता था। इस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से भारत एक कमजोर कड़ी सिद्ध हुआ। सरकार ने इस गलती को महसूस किया और देश के उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए कुछ कदम उठाए।

इन अनेक अनुकूल बातों के फलस्वरूप अनेक भारतीय उद्योगों जैसे कि लोहा इस्पात उद्योग, सूती वस्त्र उद्योग, पटसन उद्योग, चमड़ा उद्योग, कोयला-खनन उद्योग आदि ने युद्ध-काल के दौरान बड़ी तेजी से प्रगति की। उत्पादन-मात्रा और उद्योगों के लाभ में भारी वृद्धि हुई। इस बीच औद्योगिक रोजगार की मात्रा भी काफी तेजी से बढ़ी। विभिन्न कारखानों में लगे श्रमिकों की संख्या 1919 में 11.7 लाख थी, जबकि 1909 में यह केवल 7.9 लाख के लगभग थी। फिर भी देश में कल-पुर्जों, मशीनों, रासायनिक वस्तुओं तथा अन्य आवश्यक साज-सामान की कमी के कारण युद्ध-जनित अवसरों से पूरा-पूरा लाभ उठाया नहीं जा सका। इन सब चीजों के लिए हम विदेशों पर निर्भर थे। युद्ध-काल में इनका आयात कठिन बन गया था। फलस्वरूप अवसर मिलने पर भी मूल व भारी उद्योगों के अभाव में देश के उद्योग पर्याप्त तेजी से आगे न बढ़ सके।

दोनों विश्वयुद्धों के बीच का समय–प्रथम विश्वयुद्ध के बाद देश के औद्योगिक विकास के इतिहास में एक नया अध्याय आरंभ हुआ। इस अवधि में देश के उद्योगों ने अपेक्षाकृत तेजी से प्रगति की। युद्ध-काल में लोगों ने जो भारी लाभ कमाया, उससे प्रभावित होकर बड़ी मात्रा में पूंजी और उद्यम औद्योगिक क्षेत्र की ओर खिंचने लगे। राष्ट्रीय जागृति से भी देश में औद्योगिक विकास को बढ़ावा मिला। लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण कारण जिससे औद्योगिक विकास की गति विशेष रूप से तेज हुई, वह था सरकार की औद्योगिक नीति में परिवर्तन। सामान्य तौर से सरकार अभी तक आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप की नीति अथवा मुक्त या निर्बाध व्यापार-नीति का व्यवहार कर रही थी। लेकिन

युद्ध-काल की कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए एवं सार्वजनिक दबाव के कारण सरकार ने अब उस रास्ते को छोड़कर उद्योगों के लिए संरक्षण की नीति को अपनाया। यही नहीं कि सरकारी स्टोर की क्रय नीति में भारतीय उद्योगों को सहायता देने के उद्देश्य से कुछ परिवर्तन किए गए, बल्कि 1921 में नियुक्त प्रथम भारतीय राजकोषीय आयोग (Fiscal Commission) की सिफारिश के आधार को पूरा करने पर उद्योग को सरकारी संरक्षण दिया जा सकता था। इसी कारण इस नीति को "भेदमूलक संरक्षण नीति" (discriminating protection policy) कहा जाता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि सरकार की "भेदमूलक संरक्षण" नीति बहुत संतोषजनक नहीं थी। इसकी अवधारणा और कार्य-प्रणाली अनेक दृष्टियों से दोषयुक्त थी। इसके अन्तर्गत विकास के दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि विदेशी प्रतियोगिता का सामना कर सकने के सीमित दृष्टिकोण से उद्योगों को संरक्षण देने की व्यवस्था की गई थी। संरक्षण देने की शर्तें बहुत कड़ी थीं और बड़ी कठोरता

नोट

से इनको लागू किया जाता था। साथ ही इस नीति से विभिन्न बातों या कार्यवाहियों को पूरा करने में बहुत समय बीत जाता था और संरक्षण प्रदान करने के सम्बन्ध में शीघ्र निर्णय लेना सम्भव नहीं था। संरक्षण प्राप्त उद्योगों की देखभाल तथा तत्सम्बन्धी बातों पर निगरानी रखने एवं इस सम्बन्ध में व्यापक व दीर्घकालिक दृष्टिकोण अपनाने के लिए इस नीति के अन्तर्गत किसी स्थायी टैरिफ बोर्ड की व्यवस्था नहीं थी। और फिर, यह नीति नए और बुनियादी उद्योगों की स्थापना और विकास की दृष्टि से बिल्कुल अनुपयुक्त थी।

इस प्रकार देश के उद्योगों के विकास के लिए सरकार ने संरक्षण देने का जो कदम उठाया, वह बहुत अपर्याप्त और कमजोर था एवं बहुत देर में उठाया गया। लेकिन इन सबके बावजूद संरक्षण-नीति के अन्तर्गत पहले की तुलना में देश में कहीं तेजी से औद्योगिक विकास हुआ। समय-समय पर नियुक्त टैरिफ बोर्ड ने 1923-39 की अवधि में उद्योगों के सम्बन्ध में कोई 51 जांच कीं और भिन्न-भिन्न मात्रा में अनेक उद्योगों को सरकार की ओर से संरक्षण दिया गया जैसे कि लोहा व इस्पात उद्योग, सूती वस्त्र उद्योग, चीनी उद्योग, दियासलाई उद्योग, कागज उद्योग आदि। संरक्षण प्राप्त एवं कई अन्य उद्योगों ने इस अवधि में बड़ी तेजी से उन्नति की। उदाहरण के लिए, 1922-39 के दौरान इस्पात का उत्पादन लगभग 700 प्रतिशत, सीमेंट का उत्पादन 500 प्रतिशत तथा कागज और सूत्री वस्त्र का उत्पादन क्रमशः 180 और 150 प्रतिशत बढ़ा। चीनी के उत्पादन में तो कहीं अधिक वृद्धि हुई। इस बीच इसकी उत्पादन-मात्रा में लगभग 50 गुनी वृद्धि हुई। लोहा, साबुन, दियासलाई, बिजली के साज-सामान, कांच, वनस्पति आदि से सम्बन्धित उद्योगों ने भी प्रगति की।

इससे स्पष्ट है कि दोनों विश्वयुद्धों के बीच की अवधि में उद्योगों के विकास की गति अपेक्षाकृत तेज थी और औद्योगिक ढांचे में कुछ विविधता भी दिखाई देने लगी। यह सब उस परिस्थिति में हुआ जबकि सरकार ने उद्योगों को थोड़ी मात्रा में और देर से सहायता दी। यदि समय पर और ठीक ढंग से भरपूर प्रयास सरकार द्वारा किये गये होते, तो देश में औद्योगिक विकास की कहानी दूसरी ही होती। तब तो भारत भी उस समय तक कुछ अन्य देशों की भांति औद्योगिक क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बनाने में सफल हो गया होता।

यह तो ठीक है कि इस अवधि में औद्योगिक क्षेत्र में देश ने तेजी से प्रगति की, लेकिन यह प्रगति संतोषजनक नहीं थी। एक तो यह प्रगति अपने संसाधनों एवं अपनी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए बहुत अपर्याप्त थी। देश के विभिन्न फैक्टरी-उद्योगों में लगे श्रमिकों की कुल संख्या 1939 में 17.6 लाख थी, जो कुल कार्यशील जनसंख्या का लगभग 2 प्रतिशत थी। दूसरी बात, जो कम गंभीर नहीं है, यह है कि औद्योगिक विकास बहुत बड़ी सीमा तक एकांगी बना रहा। मोटे तौर पर अधिक प्रगति उपभोग-वस्तुएं तैयार करने वाले उद्योगों के क्षेत्र में हुई। दो-एक उद्योगों को छोड़कर, देश में उत्पादक वस्तुओं से सम्बन्धित भारी व मूल उद्योगों का अभाव बना रहा। फलस्वरूप हम इन आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धि के लिए विदेशों पर निर्भर थे। इस प्रकार यही नहीं कि देश का औद्योगिक ढांचा अल्प-विकसित था, बल्कि इसका आधार भी कमजोर था। यह कमजोरी द्वितीय विश्वयुद्ध के काल में स्पष्ट रूप से सामने आई, जब आयात में कमी होने के कारण देश के जमे हुए उद्योगों को भी अपनी क्षमता को पूरी तरह इस्तेमाल करने तथा अपने काम को फैलाने में भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इसके अतिरिक्त, बड़े उद्योग देश के कुछ विशेष भागों में ही केन्द्रित थे। शेष भाग आधुनिक उद्योगों से लगभग अछूते थे। साथ ही देश के औद्योगिक क्षेत्र में विदेशी पूंजी और उद्यम तथा देश के इने-गिने उद्योगपति छात्र हुए थे। उद्योगों के प्रबन्धन व संचालन का अधिकांश कार्य चन्द बड़ी-बड़ी मैनेजिंग फर्मों के हाथ में था।

नोट

द्वितीय विश्वयुद्ध का काल और देश-विभाजन–द्वितीय विश्वयुद्ध के काल में भारतीय उद्योगों के विकास को और बढ़ावा मिला। इस अवधि में इंग्लैंड, जापान, जर्मनी आदि अनेक देशों से आयात बहुत कम हो गया। एक तो इन देशों में उद्योग युद्ध-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति में लगे हुए थे। दूसरे, इस बीच जहाजरानी की बड़ी कमी हो चली थी और माल भेजने में खतरा भी बढ़ गया था। आयात में इस प्रकार भारी कमी होने से देश के उद्योगों को अतिरिक्त संरक्षण मिला जिससे उनके विकास की गति और तेज हो गई। इसके अतिरिक्त, युद्ध-काल के दौरान हमारे औद्योगिक माल की मांग में देश-विदेश की मंडियों में भारी वृद्धि हुई। शीघ्र ही अनेक मध्य-पूर्व के देशों को माल भेजने का भारत मुख्य देश बन गया। मांग में इस भारी वृद्धि से कीमतों और लाभ में वृद्धि हुई जिससे उद्योगों के विस्तार में विशेष प्रोत्साहन व सहायता मिली।

इस तरह की अनुकूल बातों के प्रभाव से युद्ध-काल के दौरान देश में तेजी से औद्योगिक विकास हुआ। इस अवधि में सीमेंट, कागज, लोहा व इस्पात, सूती वस्त्र और चीनी आदि उद्योगों ने भारी प्रगति की। इनकी उत्पादन क्षमता बढ़ी और पूरी क्षमता इस्तेमाल होने लगी। कई उद्योगों में बढ़ी हुई मांग को पूरा करने के लिए दो या तीन पारियों में काम होने लगा। इसके फलस्वरूप देश में औद्योगिक उत्पादन की मात्रा बढ़ने लगी। 1939 और 1945 के बीच सूती वस्त्र का उत्पादन 411 करोड़ गज से बढ़कर 471 करोड़ गज तथा कागज का उत्पादन 67 हजार टन से बढ़कर

106 हजार टन हो गया। अन्य औद्योगिक पदार्थों के उत्पादन में भी तेजी से वृद्धि हुई। उदाहरणतया 1939 और 1943 के बीच इस्पात का 38 प्रतिशत, सीमेंट का 45 प्रतिशत तथा चीनी का 30 प्रतिशत उत्पादन बढ़ा। कई और पुराने उद्योगों में भी इसी तरह की उन्नति हुई।

युद्ध का कुटीर, लघु एवं मध्याकार के उद्योगों पर विशेष अनुकूल प्रभाव पड़ा। देश में अनेक चीजों की कमी और तेजी से बढ़ती हुई कीमतों से इन उद्योगों को बहुत प्रोत्साहन मिला। युद्ध-काल में ऐसे उद्योगों का तेजी से विस्तार हुआ और तरह-तरह की उपभोग-वस्तुएं एवं उत्पादन-सामग्री इनके सहारे देश में तैयार होने लगी जैसे कि गौण रसायनिक, हस्त उपकरण, छुरी व कांटे का सामान, प्रसाधन-सामग्री, जाल, बोतल-बन्द, फल, नल आदि। इसके अतिरिक्त, युद्ध-काल के दौरान अनेक नए उद्योग देश में स्थापित हुए। इनमें से कुछ तो कल पुर्जे व अन्य उत्पादक साज-सामान बनाने वाले उद्योग थे जिनकी देश में बड़ी आवश्यकता थी। उदाहरण के लिए, देश में रेल-इंजन, डीजल-इंजन, पम्प-सेट, जहाज, सिलाई की मशीनें, मोटर-टायर कुद विशेष प्रकार के मशीन-औजार, रासायनिक पदार्थ, अलौह धातुओं के माल आदि अनेक महत्त्वपूर्ण वस्तुओं के उत्पादन के सिलसिले में कदम उठाए गए। लेकिन इन वस्तुओं का उत्पादन बहुत सीमित था।

इस प्रकार युद्धकालीन परिस्थितियों से छोटे-बड़े तथा नये-पुराने उद्योगों को बड़ा प्रोत्साहन मिला। फलस्वरूप देश औद्योगिक विकास के पथ पर पहले की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ने में सफल हुआ। औद्योगिक क्षेत्र में रोजगार में भारी वृद्धि हुई। अनुमान है कि युद्ध-काल के दौरान रोजगार में 103 प्रतिशत वृद्धि हुई। औद्योगिक उत्पादन में हुई वृद्धि अपेक्षाकृत कम थी। 1939 और 1946 के बीच औद्योगिक उत्पादन में कुल 20 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

युद्ध-काल में औद्योगिक माल के लिए मांग में भारी वृद्धि का पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जा सका। उद्योगों की क्षमता में मांग के अनुसार वृद्धि लाना संभव न हो सका, क्योंकि हम अपने उद्योगों के लिए अनेक प्रकार की मशीनों, रासायनिक पदार्थों व अन्य आवश्यक पूंजीगत वस्तुओं के लिए दूसरे देशों पर निर्भर थे और युद्ध-काल में इनका आयात बहुत कम हो गया था। इस प्रकार